प्रथमावृत्ति—प्रतियाँ १०००
वीर सवत् : २४८१ भाद्रपद शुक्ला पंचमी
द्वितीयावृत्ति—प्रतियाँ ११००
वीर सं० : २४८९, माघ शुक्ला पंचमी
तृतीयावृत्ति : प्रतियाँ ११००
वीर सं० २४९७, ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी

★

इस पुस्तकका मूल्य कम करनेके लिये इन्दौर (हाल कलकत्ता) निवासी श्री सेठ वसन्तीलालजी झाझरीकी ओरसे १२५१) रुपये प्राप्त हुए हैं। धन्यवाद !

★

मूल्य
३-००

: मुद्रक :
मगनलाल जैन
अजित मुद्रणालय
सोनगढ (सौराष्ट्र)

लीजिये अमूल्य भेंट !

(नि वे द न)

जो प्रवचन इस पुस्तकमें प्रसिद्ध हुए है वे वास्तवमे जैनशासनके पुनीत साहित्यमें पू. श्री कहानगुरुदेवकी एक महान अमूल्य भेट है। हम विचारमें पड़ गये कि इस अमूल्य भेटको कौन-सा नाम दिया जाय? अन्तमें बहुत सोचकर इसका नाम रक्खा—"ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव"। यह नाम क्यो पसन्द किया, इसके बारेमें थोडा-सा स्पष्टीकरण देखिये—

१–आत्माका ज्ञानस्वभाव है;

२–उसकी पूर्ण व्यक्ति केवलज्ञान अर्थात् सर्वज्ञता है; सर्वज्ञताके निर्णयसे ज्ञानस्वभावका भी निर्णय हो जाता है (प्रवचनसार गाथा ८०)

३–सर्वज्ञताके निर्णयमें सारे ही ज्ञेय पदार्थोके स्वभावगत क्रमबद्ध-परिणमनकी प्रतीति भी हो ही जाती है, क्योंकि भगवान सब देख रहा है।

—इस तरह ज्ञानस्वभावकी प्रतीति, सर्वज्ञताकी प्रतीति व क्रमबद्धपर्यायोकी प्रतीति—ये तीनों ही एक-दूसरेसे अविनाभावी है, एकके निर्णयमें दूसरे दोनोका निर्णय आ ही जाता है।

इस तरह ज्ञानस्वभावका व ज्ञेयस्वभावका निर्णय करानेका ही मुख्य प्रयोजन होनेसे इस अमूल्य भेटका नाम "ज्ञानस्वभाव व ज्ञेयस्वभाव" रखा है। इसका निर्णय किये बिना किसी भी तरहसे जीवको वीतरागज्ञान—सम्यग्ज्ञान नही होता।

जो भी मुमुक्षु जीव आत्माका हित साधना चाहता हो, सर्वज्ञ भगवानके सुपंथमे मंगल प्रयाण करना चाहता हो, उसको उपर्युक्त

विषयका यथार्थ अवाधित निर्णय अवश्य करना ही चाहिये। इसका निर्णय किये बिना सर्वज्ञके मार्गमें एक डग भी नही चला जा सकता और उसका निर्णय होते ही इस आत्मामें सर्वज्ञदेवके मार्गका—मुक्तिके मार्गका—मंगलाचरण हो जाता है।

इस परसे यह बात अच्छी तरह समझमें आ जायेगी कि जिज्ञासु-जीवोंको यह विषय कितने महत्वका है! और इसीलिये पू. गुरुदेवने समयसार, प्रवचनसार आदि अनेक शास्त्रोके आधारसे, युक्ति-अनुभवसे भरपूर प्रवचनोंके द्वारा यह विषय बहुत स्पष्ट करके समझाया है। ऐसा वस्तुस्वरूप समझाकर पू. गुरुदेवने भव्य जीवोके ऊपर परम उपकार किया है।

इस पुस्तकमें मुख्यतया समयसार गा. ३०८से ३११ पर पू. गुरुदेवके क्रमबद्धपर्याय सम्वन्धी तेरह विशिष्ट प्रवचन दिये गये है, और वादमें इसी विषयसे सम्वन्धित कितने ही जरूरी प्रवचन भी इसके साथ जोड़ दिये है। "आत्मधर्म" मासिकमे यह सव प्रवचन छप गये है।

इस पुस्तकमें झेले गये महत्वपूर्ण प्रवचन ब्र० भाई श्री हरिलाल जैन के भावपूर्ण परिश्रमका फल है। उन्होंने यह प्रवचन अत्यन्त सावधानी एवं उद्यमपूर्वक सुन्दर भाषामें झेले है तथा इनका हिन्दी अनुवाद श्री मगनलाल जैनने सरल भाषामें किया है। अत: यह सस्था उन दोनोंको धन्यवाद देती है।

पूज्य गुरुदेवके इन महत्वपूर्ण प्रवचनोके लेखनमे पू. गुरुदेवका आशय विलकुल अच्छी तरह वना रहे इसके लिये पू. बेनश्री-बेनकी ओरसे खास सहायता मिली है, इसलिये दोनो पू. बहनोंका हम आभार मानते है।

ओ भारतके भव्य मुमुक्षु जीवो! इस अमूल्य भेटको पाकर हर्ष-



परम पूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजीस्वामी

[जिन्होंने ज्ञायकस्वभावके सन्मुख लेजाने वाले
"क्रमबद्धपर्याय" के तेरह प्रवचनोंकी
अपूर्व भेंट देकर भारतके मुमुक्षु
जीवोंका महान उपकार
किया है।]

★

पूर्वक इसका सत्कार करो....अपने आत्महितके लिये श्री तीर्थंङ्कर भगवानने परम कृपा करके गुरुदेवके द्वारा यह भेट अपनेको दी है—ऐसा मानकर इसमें कहे हुए अपूर्व गम्भीर रहस्यको समझकर, ज्ञायकस्वभाव-सन्मुख हो आत्महितके पावन पथपर परिणमन करो, यही भावना है।

वीर सं० २४८१	—रामजी माणेकचन्द दोशी
भादों सुदी पंचमी	प्रमुख,
	श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
	सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

❀ दूसरी आवृत्तिका निवेदन ❀

जैन समाजकी तत्त्वज्ञानकी जिज्ञासा देखकर इस पुस्तककी विशेष मांग होने पर यह दूसरी आवृत्ति प्रसिद्ध करनेमें आई है।

वीर संवत २४८९	रामजी माणेकचन्द दोशी
माघ शुक्ला ५	**सोनगढ़** (सौराष्ट्र)

* तीसरी आवृत्तिका निवेदन *

यह पुस्तक जो कि पूज्य श्री कहान गुरुदेवकी तरफसे समाजको दी गई अमूल्य भेट है उसका मूल्य है "अपन बने ज्ञायकस्वभावी और जगतके सर्व पदार्थोको (व्यवहारसे) अपना ज्ञेय बनावे' —इस उद्देश्यको लक्षमे रखकर इसका सांगोपाग वॉचन करना चाहिये और यह एकमात्र शाँतिका अफर उपाय है।

वीर सं० २४९७	साहित्य प्रकाशन समिति
वैशाख शुक्ला-२	श्री दि जैन स्वाध्याय मंदिर,
	सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

अनुक्रमणिका

आत्मा ज्ञायक है

क्रमबद्ध पर्यायका विस्तारपूर्वक स्पष्टीकरण और विपरीत कल्पनाओंका निराकरण

[दूसरा भाग]

क्रमवद्धपर्यायका विस्तारसे स्पष्टीकरण

अनेकान्तगर्भित सम्यक् नियतवाद

अनेकान्त

ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव

卐

* श्री सर्वज्ञदेवाय नमः *

आत्मा ज्ञायक है

क्रमबद्धपर्यायका विस्तारपूर्वक स्पष्टीकरण

—और—

अनेक प्रकारकी विपरीत कल्पनाओंका निराकरण

[समयसार गाथा ३०८ से ३११ तथा उसकी टीका पर पूज्य गुरुदेवके प्रवचन]

पूज्य गुरुदेवने इन प्रवचनोमे अखण्डरूपसे एक बात पर खास भार दिया है कि—ज्ञायकके समक्ष दृष्टि रखकर ही इस क्रमबद्धपर्यायका यथार्थ निर्णय होता है। क्रमबद्धपर्यायका निर्णय करनेवालेकी दृष्टि कालके समक्ष नही होती, किन्तु ज्ञायकस्वभाव पर होती है। ज्ञायक सन्मुखकी दृष्टिके अपूर्व पुरुषार्थके विना वास्तवमे क्रमबद्धपर्यायका निर्णय नही होता और न उसे निर्मल क्रमवद्धपर्याय होती है। यह बात प्रत्येक मुमुक्षुको लक्षमे रखने योग्य है।

भाई रे! यह मार्ग तो मुक्तिका है या बन्धनका? इसमें तो ज्ञानस्वभावका निर्णय करके मुक्तिकी बात है; इस बातका यथार्थ निर्णय करनेसे ज्ञान पृथक्‌का पृथक् रहता है। जो मुक्तिका मार्ग है उसके बहाने कोई स्वच्छन्दकी पुष्टि करता है अथवा उसे "छूतकी बीमारी" कहता है, उस जीवको मुक्तिका अवसर कब मिलेगा?

[—पूज्य गुरुदेव]

कुन्दकुन्द भगवानके मूल सूत्र

दवियं जं उप्पज्जइ गुणेहि तं तेहिं जाणसु अणण्णं ।
जह कडयादीहिं दु पज्जएहि कणय अणण्णमिह ॥ ३०८ ॥
जीवस्साजीवस्स दु जे परिणामा दु देसिया सुत्ते ।
तं जीवमजीवं वा तेहिमणण्ण वियाणाहि ॥ ३०९ ॥
ण कुदोचि वि उप्पण्णो जह्मा कज्जं ण तेण सो आदा ।
उप्पादेदि ण किंचि वि कारणमवि तेण ण स होइ ॥ ३१० ॥
कम्मं पडुच्च कत्ता कत्तारं तह पडुच्च कम्माणि ।
उप्पज्जति य णियमा सिद्धी दु ण दीसए अण्णा ॥ ३११ ॥

अमृतचन्द्राचार्यदेवकी टीका

जीवो हि तावत्क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानो जीव एव नाजीवः, एवमजीवोऽपि क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानोऽजीव एव न जीवः, सर्वद्रव्याणा स्वपरिणामैः सह तादात्म्यात् कंकणादिपरिणामैः कांचनवत् । एवं हि जीवस्य स्वपरिणामैरुत्पद्यमानस्याप्यजीवेन सह कार्यकारणभावो न सिद्धयति, सर्व द्रव्याणां द्रव्यांतरेण सहोत्पाद्योत्पादकभावाभावात् तदसिद्धौ चाजीवस्य जीवकर्मत्व न सिद्धयति, तदसिद्धौ च कर्तृकर्मणोरनन्यापेक्षसिद्धत्वात् जीवस्याजीवकर्तृत्वं न सिद्धयति । अतो जीवोऽकर्ता अवतिष्ठते ।

मूल गाथाओंका हिन्दी अनुवाद

जो द्रव्य उपजे जिन गुणोसे, उनसे जान अनन्य वो ।
है जगत्में कटकादि पर्यायोसे कनक अनन्य ज्यों । ३०८ ॥
जिव-अजिवके परिणाम जो, शास्त्रो विषे जिनवर कहे ।
वे जीव और अजीव जान, अनन्य उन परिणामसे ॥ ३०९ ॥
उपजै न आतमा कोइ से, इससे न आतमा कार्य है ।
उपजावता नहि कोइ को, इससे न कारण भी बने ॥ ३१० ॥
रे कर्मआश्रित होय कर्ता, कर्म भी करतारके ।
आश्रित हुवे उपजे नियमसे, अन्य नहि सिद्धी दिखै ॥ ३११ ॥

टीकाका हिन्दी अनुवाद

प्रथम तो जीव क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणामोंसे उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नही है; इसप्रकार अजीव भी क्रमबद्ध अपने परिणामोसे उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नही है; क्योंकि जिसप्रकार (कंकन आदि परिणामोसे उत्पन्न ऐसे) सुवर्णका कंकनादि परिणामोंके साथ तादात्म्य है उसीप्रकार सर्व द्रव्योंका अपने परिणामोंके साथ तादात्म्य है। इसप्रकार जीव अपने परिणामोसे उत्पन्न होता है, तथापि उसे अजीवके साथ कार्यकारणभाव सिद्ध नही होता, क्योंकि सर्व द्रव्योंको अन्य द्रव्यके साथ उत्पाद्य-उत्पादकभावका अभाव है; वह (कार्यकारणभाव) सिद्ध न होनेसे, अजीवको जीवका कर्मपना सिद्ध नही होता; और वह (अजीवको जीवका कर्मपना) सिद्ध न होनेसे, कर्ता-कर्मकी अन्यनिरपेक्षरूपसे (-अन्य द्रव्यसे निरपेक्ष रूपसे स्वद्रव्यमें ही) सिद्धि होनेसे जीवको अजीवका कर्तापना सिद्ध नही होता; इसलिये जीव अकर्ता सिद्ध होता है।

[समयसार गुजराती दूसरी आवृत्ति]

(यह प्रवचन समयसार गाथा ३०८ से ३११ तथा उसकी टीकाके हैं; मूल गाथा तथा टीकामे भरे हुए गम्भीर रहस्यको पूज्य गुरुदेवने इन प्रवचनोमे अत्यन्त स्पष्टरूपसे समझाया है।)

* पहला प्रवचन *

[आश्विन कृष्णा १२, वीर स० २४८०]

(१) अलौकिक गाथा और अलौकिक टीका

यह गाथाये अलौकिक हैं और श्री अमृतचन्द्राचार्यदेवने टीका भी ऐसी ही अलौकिक की है। टीकामे क्रमबद्धपर्यायकी बात करके तो आचार्यदेवने जैन-शासनका नियम और जैन-दर्शनका रहस्य

भर दिया है। भगवान आत्माका ज्ञायकस्वभाव है, वह तो ज्ञाता-दृष्टापनेका ही कार्य करता है। कही फेरफार करे ऐसा उसका स्वभाव नही है और रागको भी बदलनेका उसका स्वभाव नही है, रागका भी वह ज्ञायक है। जीव और अजीव सर्व पदार्थोकी त्रिकाल-की अवस्थाये क्रमबद्ध होती हैं, आत्मा उनका ज्ञायक है—ऐसा ज्ञायक आत्मा सम्यग्दर्शनका विषय है।

(२) जीव—अजीवके क्रमबद्ध परिणाम और आत्माका ज्ञायक-स्वभाव।

[टीका] "जीवो हि तावत् क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानो जीव एक नाजीवः; एवमजीवोऽपि क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानोऽजीव एक न जीवः......"

आचार्यदेव कहते है कि—"प्रथम तो" अर्थात् सर्वप्रथम यह निर्णय करना चाहिये कि जीव क्रमबद्ध—क्रमनियमित ऐसे अपने परि-णामोंसे उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नहीं है; इसप्रकार अजीव भी क्रमबद्ध अपने परिणामोंसे उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नही है। देखो यह महान सिद्धान्त। जीव या अजीव प्रत्येक वस्तुमें क्रमबद्धपर्याय होती है, उसमें उल्टा-सीधा होता ही नहीं। आजकल अनेक पण्डित और त्यागी आदि लोगोंमें इसके सामने बड़ा विरोध उठा है, क्योंकि इस बातका निर्णय करने जायें तो अपना अभी तकका माना हुआ कुछ भी नही रहता। संवत् २००३ में (प्रवचन-मण्डपके उद्‌घाटन प्रसंग पर) सर सेठ हुकमचन्दजी इन्दौर वालोके साथ प० देवकीनन्दनजी आये थे, उन्हे जब यह बात बतलाई तब वे बड़े आश्चर्यचकित हुए थे कि अहो! ऐसी बात!! यह बात अभी तक हमारे लक्षमें नही आई थी। छहो द्रव्योंमें उनकी त्रिकालकी प्रत्येक पर्यायका स्वकाल नियमित है। जगतमें अनन्त जीव हैं और जीवकी अपेक्षा अनन्तगुने अजीव है; वे सब द्रव्य अपने अपने

क्रम-नियमित परिणामसे उत्पन्न होते है। जिस समय जिस पर्यायका क्रम है वह एक समय भी आगे-पीछे नही होसकती। जो पर्याय १०० नम्बरकी हो वह ९९ नम्बरकी नही हो सकती और १०० नम्बर की पर्याय १०१ नम्बरकी भी नही होसकती है। इसप्रकार प्रत्येक पर्यायका स्वकाल नियमित है और समस्त द्रव्य क्रमबद्धपर्यायसे परिणमित होते हैं। अपने स्वभावका निर्णय हुआ वहाँ धर्मी जानता है कि मैं तो ज्ञायक हूँ, मैं किसे बदल सकता हूँ? इसलिये धर्मीके पर-को बदलनेकी बुद्धि नही है; रागको भी बदलनेकी बुद्धि नही है, वह रागका भी ज्ञायकरूपसे ही रहता है।

(३) सर्वज्ञभगवान 'ज्ञायक' हैं, 'कारक' नहीं हैं

पहले तो ऐसा निर्णय करना चाहिये कि इस जगतमें ऐसे सर्वज्ञभगवान है कि जिनके आत्माका ज्ञानस्वभाव पूर्ण विकसित हो गया है, और मेरा आत्मा भी ऐसा ही ज्ञानस्वभावी है। जगतके समस्त पदार्थ क्रमबद्ध पर्यायरूपसे परिणमित होते है; पदार्थकी तीनोंकाल-की पर्यायोंका क्रम निश्चित् है; सर्वज्ञदेवने तीनकाल तीनलोककी पर्याये जानी हैं। जो सर्वज्ञने जाना वह बदल नही सकता। तथापि सर्वज्ञदेव-ने जाना इसलिये वैसी अवस्था होती है—ऐसा भी नही है। सर्वज्ञ-भगवान तो ज्ञायकप्रमाण है, वे कही पदार्थोंके कारक नही हैं; कारक-रूप तो पदार्थ स्वयं ही है, प्रत्येक पदार्थ स्वय ही अपने छह कारकों रूप होकर परिणमित होता है।

(४) क्रमबद्धपर्यायकी झन्कार

आचार्यदेव पहलेसे ही क्रमबद्धपर्यायकी झन्कार करते आ रहे है:—

"जीव पदाथ कैसा है" उसका वर्णन करते हुए दूसरी गाथामें कहा था कि "क्रमरूप और अक्रमरूप वर्तते हुए अनेक भाव जिसका स्वभाव होनेसे जिसने गुण-पर्याये अगीकार की है।" पर्याय क्रमवर्ती होती है और गुण सहवर्ती होता है।—ऐसा कहकर वहा जीवकी क्रमबद्धपर्यायकी बात बतला दी है।

तत्पश्चात् ६२वी गाथामें कहा है कि—"वर्णादिक भाव, अनुक्रमसे आविर्भाव और तिरोभावको प्राप्त होती हुई ऐसी उन उन व्यक्तियों (पर्यायों) द्वारा पुद्गलद्रव्यके साथ रहते हुए, पुद्गलका वर्णादिके साथ तादात्म्य प्रगट करते हैं।" यहाँ "अनुक्रमसे आविर्भाव और तिरोभाव" प्राप्त करना कहकर अजीवकी क्रमबद्धपर्याय बतला दी है।

कर्ता-कर्म अधिकारमें भी गाथा ७६-७७-७८में प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य—ऐसे तीनप्रकारके कर्मकी बात करके क्रमबद्धपर्यायकी बात जमा दी है। 'प्राप्य' अर्थात्, द्रव्यमें जिस समय जो पर्याय नियमित है उस क्रमबद्धपर्यायको उस समय वह द्रव्य प्राप्त करता है-पहुँच जाता है, इसलिये उसे 'प्राप्यकर्म' कहा जाता है।

(५) ज्ञायकस्वभाव समझे तभी क्रमबद्धपर्याय समझमें आती है

देखो, इसमें ज्ञायकस्वभावकी ओरसे लेना है। ज्ञायककी ओरसे ले तभी यह क्रमबद्धपर्यायकी बात यथार्थ समझमे आ सकती है। जो जीव पात्र होकर अपने आत्माके लिये समझना चाहता हो उसे यह बात यथार्थ रूपसे समझमें आ सकती है। दूसरे हठी जीव तो इसे समझे बिना विपरीत ग्रहण करते हैं और ज्ञायकस्वभावके निर्णयका पुरुषार्थ छोड़कर क्रमबद्धपर्यायके नामसे अपने स्वच्छन्दकी पुष्टि करते हैं। जिसे ज्ञानकी श्रद्धा नही है, केवलीकी प्रतीति नहीं है, अन्तरमें वैराग्य नही है, कषायकी मदता भी नही है, स्वच्छन्दता बनी है और क्रमबद्धपर्यायका नाम लेता है—ऐसे हठी-स्वच्छन्दी जीवकी यहाँ बात नही है। जो इस क्रमबद्धपर्यायको समझ ले उसे स्वच्छन्द रह ही नही सकता, वह तो ज्ञायक हो जाता है। भगवान! क्रमबद्धपर्याय समझाकर हम तो तुझे अपने ज्ञायक-आत्माका निर्णय कराना चाहते हैं और यह बतलाना चाहते है कि आत्मा परका अकर्ता है। यदि अपने ज्ञायकस्वभावका निर्णय नही करेगा तो तू क्रमबद्धपर्यायको समझा ही नही है।

जीव और अजीव समस्त पदार्थोंकी तीनों कालकी पर्यायें क्रमबद्ध है—उन सबको जाना किसने ? सर्वज्ञदेवने।

"सर्वज्ञदेवने ऐसा जाना"—इसप्रकार सर्वज्ञताका निर्णय किसने किया ?—अपनी ज्ञानपर्यायने।

वर्तमान ज्ञानपर्याय अल्पज्ञ होनेपर भी उसने सर्वज्ञताका निर्णय किसके समक्ष देखकर किया ?–ज्ञानस्वभावकी ओर देखकर वह निर्णय किया है।

इसप्रकार जो जीव अपने ज्ञायकस्वभावके निर्णयका पुरुपार्थ करता है उसीको क्रमबद्धपर्यायका निर्णय होता है, और वह जीव परका तथा रागका अकर्ता होकर ज्ञायकभावका ही कर्ता होता है। ऐसे जीवको ज्ञानस्वभावके निर्णयमें पुरुषार्थ, स्वकाल आदि पाँचो समवाय एकसाथ आ जाते हैं।

(६) इसमें ज्ञायकस्वभावका पुरुपार्थ है इसलिये यह नियतवाद नहीं है

प्रश्न:—गोम्मटसारमें तो नियतवादीको मिथ्यादृष्टि कहा है न ?

उत्तर:—गोम्मटसारमें जो नियतवाद कहा है वह तो स्वच्छन्दीका है; जो जीव सर्वज्ञको नही मानता, ज्ञानस्वभावका निर्णय नहीं करता, अन्तरोन्मुख होकर समाधान नही किया है, विपरीत भावोंके उछाले कम भी नहीं किये हैं, और 'जैसा होना होगा'—ऐसा कहकर मात्र स्वच्छन्दी होता है और मिथ्यात्वका पोषण करता है, ऐसे जीवको गोम्मटसारमें गृहीतमिथ्यादृष्टि कहा है; किन्तु ज्ञानस्वभावके निर्णयपूर्वक यदि इस क्रमबद्धपर्यायको समझे तो ज्ञायकस्वभावकी ओरके पुरुषार्थ द्वारा मिथ्यात्व और स्वच्छन्द छूट जाये।

(७) भयका स्थान नहीं किन्तु भयके नाशका कारण

प्रश्न:—क्रमबद्धपर्यायका निर्णय करते हुए शायद स्वच्छन्दी

हो जायेगे—ऐसा भय है, इसलिये ऐसे भयस्थानमें किसलिये जाना चाहिये ?

उत्तरः—अरे भाई ! 'क्रमबद्धपर्यायका निर्णय करना अर्थात् अपने ज्ञानस्वभावका निर्णय करना, वह कहीं भयका कारण नही है; वह तो स्वच्छन्दके नाशका और निर्भयता होनेका कारण है। ज्ञानस्वभावकी प्रतीतिके विना, मैं परको बदल दूँ—ऐसी कर्तावुद्धिसे स्वच्छन्दी हो रहा है, उसके बदले पदार्थोंकी पर्याय उनके अपनेसे ही क्रमबद्ध होती है, मैं उसका कर्ता या वदलनेवाला नही हूँ, मैं तो ज्ञायक हूँ—ऐसी प्रतीति होनेसे स्वच्छन्द छूटकर स्वतंत्रताका अपूर्व भान होता है। यह क्रमवद्धपर्यायकी समझ भयका स्थान नहीं है, भय तो मूर्खता और अज्ञानमें होता है, यह तो भयके और स्वच्छन्दके नाशका कारण है।

(८) "ज्ञायकपना" ही आत्माका परम स्वभाव है

आत्मा ज्ञायक वस्तु है, ज्ञान ही उसका परम स्वभाव-भाव है। 'ज्ञायकपना' आत्माका परम भाव है, वह स्व-परके ज्ञातृत्वके सिवा दूसरा क्या कर सकता है ? जैसा 'है' और जैसा 'होता है' उसका वह ज्ञाता है। द्रव्य और गुण वह त्रिकाल सत् और पर्याय वह एक एक समयका सत्, उस सत्का आत्मा ज्ञाता है, किन्तु किसी परका उत्पादक, नाशक या उसमें फेरफार करनेवाला नही है। यदि उत्पन्न करना, नाश करना या फेरफार करना माने तो वहाँ ज्ञायकभावपनेकी प्रतीति नही रहती। इसलिये जो ज्ञानस्वभावको नहीं मानता और परमें फेरफार करना मानता है उसे ज्ञायकत्व नही रहता किन्तु मिथ्यात्व हो जाता है।

(९) "छूतका रोग" नहीं किन्तु वीतरागताका कारण

कुछ लोग कहते हैं कि आजकल क्रमबद्धपर्याय नामक 'छूतका रोग' फैल रहा है। अरे भाई ! यह क्रमवद्धपर्यायकी प्रतीति तो

वीतरागताका कारण है। जो वीतरागताका कारण है उसे तू रोग कहता है? क्रमबद्धपर्याय न माने तो वस्तु ही नहीं रहती। क्रमबद्धपर्यायपना तो वस्तुका स्वरूप है; उसे रोग कहना महान विपरीतता है। द्रव्य प्रतिसमय अपनी क्रमबद्धपर्यायरूपसे उत्पन्न होता है—ऐसा उसका धर्म है; क्रमबद्धपर्यायमें जिस समय जिस पर्यायका स्वकाल है, उस समय द्रव्य उसी पर्यायको द्रवित होता है–प्रवाहित होता है, ऐसा ही वस्तुस्वभाव है और अपना स्वभाव ज्ञायक है। ऐसे स्वभावको मानना वह रोग नही है, किन्तु ऐसे वस्तुस्वभावको न मानकर फेरफार करना मानना वह मिथ्यात्व है और वही महान रोग है।

(१०) अमुक पर्यायें क्रमसे और अमुक अक्रमरूप होती हैं—ऐसा नहीं है

प्रत्येक द्रव्यकी तीनों कालकी पर्यायोमें क्रमबद्धपना है, उसे जो न माने वह सर्वज्ञताको नही मानता, वह आत्माके ज्ञानस्वभावको नही मानता; क्योंकि यदि आत्माके ज्ञानस्वभावकी यथार्थ प्रतीति करे तो उसमे क्रमबद्धपर्यायकी प्रतीति भी अवश्य आ जाती है।

यहाँ कमबद्धपर्यायका कथन हो रहा है उसमें अनादि अनंतकालकी समस्त पर्याये समझ लेना चाहिये। द्रव्यकी अमुक पर्याये क्रमबद्ध हों और अमुक अक्रमसे हों–ऐसे दो भाग नही हैं। कोई ऐसा कहे कि—"अबुद्धिपूर्वक पर्याये तो ज्ञानकी पकड़में नहीं आती, इसलिये वे तो क्रमबद्ध होती है, किन्तु बुद्धिपूर्वककी पर्यायोमें क्रमबद्धपना लागू नही होता, वे तो अक्रमरूप भी हो सकती है।"—यह बात सच्ची नही है। अबुद्धिपूर्वककी या बुद्धिपूर्वककी कोई भी पर्याय क्रमबद्ध ही होती है। जड और चेतन समस्त द्रव्योंकी सभी पर्यायें क्रमबद्ध ही होती है। कोई ऐसा कहे कि—"भूतकालकी पर्याये तो हो चुकी है, इसलिये उनमें कोई फेरफार नही हो सकता, किन्तु भविष्यकी पर्याये बाकी है, इसलिये उनके क्रममें फेरफार किया जा

सकता है।" ऐसा कहनेवालेको भी पर्यायका क्रम बदलनेकी बुद्धि है वह पर्यायबुद्धि है। आत्मा ज्ञायक है उसकी प्रतीति करनेकी यह वात है। ज्ञायकस्वभावका निर्णय करे तो "मैंने इसका ऐसा किया और उसका वैसा न होने दिया"—ऐसी कर्तावृद्धिकी सब विपरीत मान्यताओंका भुक्का उड़ जाता है अर्थात् विपरीत मान्यता चूरचूर हो जाती है और अकेली ज्ञायकता रहती है।

(११) ऐसी सत्य वातके श्रवणकी भी दुर्लभता

अभी कई जीवोने तो यह वात सत्समागमसे यथार्थतया सुनी भी नही है। 'मैं ज्ञान हूँ, जगतकी प्रत्येक वस्तु अपनी-अपनी क्रमबद्धपर्यायरूपसे उत्पन्न होती है, उसका मैं ज्ञाता हूँ, किन्तु किसीका कही वदलनेवाला नही हूँ'—ऐसा यथार्थ सत्य सत्समागमसे सुनकर जिसने जाना भी नही है; उसे अन्तरमें उसकी सच्ची धारणा कहाँसे होगी? और धारणा बिना उसकी यथार्थ रुचि और परिणमन तो कहासे हो? आजकल यह वात अन्यत्र कही सुननेको भी नही मिलती। यह बात समझकर उसका यथार्थ निर्णय करने योग्य है।

(१२) क्रम और वह भी निश्चित्

'जीवो हि तावत्क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानो जीव एव, नाजीवः...' यह मूल टीका है, इसके हिन्दी अर्थमें पंडित जयचंद्रजीने ऐसा लिखा है कि-'जीव प्रथम ही क्रमकर निश्चित् अपने परिणामोकर उत्पन्न हुआ जीव ही है, अजीव नही है।' क्रम तो है ही, और वह भी नियमित, अर्थात् इस द्रव्यमे इस समय ऐसी ही पर्याय होगी-यह भी निश्चित् है।

कोई ऐसा कहे कि-'पर्याय क्रमवद्ध है अर्थात् वह एकके बाद एक क्रमशः होती है-यह ठीक है, किन्तु किस समय कैसी पर्याय होगी वह निश्चित् नही है'—तो यह वात सत्य नही है। क्रम और वह भी निश्चित् है; किस समयकी पर्याय कैसी होना है वह भी निश्चित् है।

यदि ऐसा न हो तो सर्वज्ञने जाना क्या? अहो! यह क्रमबद्धपर्याय-की बात जिसकी प्रतीतिमें आये उसके ज्ञानस्वभावकी दृष्टि होकर मिथ्यात्वका और अनन्तानुबन्धी कषायका नाश होजाता है; उसके स्वच्छन्दता नहीं किन्तु स्वतन्त्रता होती है। निर्मानता, निर्मोहता, पवित्रता जीवनमे प्रगट करना हो तो ऐसे ज्ञायकभावका निश्चय प्रथमसे ही होना चाहिये।

(१३) ज्ञानस्वभावका पुरुषार्थ और उसमें एक साथ पाँच समवाय

अज्ञानी कहते हैं कि—"इस क्रमबद्धपर्यायको माने तो पुरुषार्थ उड जाता है"—किन्तु ऐसा नही है। इस क्रमबद्धपर्यायका निर्णय करनेसे कर्ताबुद्धिका मिथ्याभिमान उड़ जाता है और निरंतर ज्ञायकपनेका सच्चा पुरुषार्थ होता है। ज्ञानस्वभावका पुरुषार्थ न करे उसके क्रमबद्ध पर्यायका निर्णय भी सच्चा नही है। ज्ञानस्वभावके पुरुषार्थ द्वारा क्रमबद्धपर्यायका निर्णय करके जहाँ पर्याय स्वसन्मुख हुई वहा एक समयमें उस पर्यायमे पाँचों समवाय आजाते है। नाटक समयसारमें पं० बनारसीदासजी भी कहते है कि—

> टेक डारि एकमै अनेक खोजै सो सुबुद्धि,
> खोजी जीवे वादी मरै साँची कहवति है ॥ ४५ ॥

दुराग्रहको छोडकर एकमें अनेक धर्मोको ढूँढना सम्यग्ज्ञान है। इसलिये ससारमें जो कहावत है कि "खोजी पावे वादी मरे" सो सत्य है।

पुरुषार्थ, स्वभाव, काल, नियत और कर्मका अभाव–यह पाँचों समवाय एकसमयकी पर्यायमें आ जाते हैं।

(१४) स्वामी कार्तिकेय अनुप्रेक्षा और गोम्मटसारके कथनकी संधि

स्वामी कार्तिकेय अनुप्रेक्षामें गाथा ३२१-२२-२३ में स्पष्ट कहा है कि जिस समय जैसा होना सर्वज्ञदेवने देखा है, उस समय वैसा ही

होगा, उसे बदलनेमें कोई मर्थ नहीं है।—जो ऐसा श्रद्धान करता है वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि है और जो उसमें शका करता है वह प्रगटरूप-से मिथ्यादृष्टि है, उसे सर्वज्ञकी श्रद्धा नही है।

जो जीव ज्ञानस्वभावकी श्रद्धा नहीं करता और मात्र क्रम-बद्धपर्यायका नाम लेकर स्वच्छन्दसे विपय–कषायका पोपण करता है उसे गोम्मटसारमें गृहीतमिथ्यादृष्टि गिना है; किन्तु निर्मल–ज्ञान-स्वभावकी प्रतीति करके जो जीव क्रमबद्धपर्यायको मानता है उस जीवको कही भी मिथ्यादृष्टि नही कहा है।

(१५) एक बार यह बात तो सुन !

अहो, आत्माका ज्ञानस्वभाव, जिसमें भव नही है, उसका जिसने निर्णय किया वह क्रमबद्धपर्यायका ज्ञाता हुआ, उसे भेदज्ञान हुआ, उसने केवलीको यथार्थरूपसे माना ! प्रभु ! ऐसा ही वस्तुस्वरूप है और ऐसा ही तेरा ज्ञानस्वभाव है, एकबार आग्रह छोड़कर अपनी पात्रता और सज्जनता लाकर यह बात तो सुन।

(१६) रागकी रुचिवाला क्रमबद्धपर्यायको समझा ही नहीं

प्रश्नः—आप कहते है कि क्रमबद्धपर्याय होती है, तो फिर क्रमबद्धपर्यायमें जो राग होना होगा वह होता है ?

उत्तरः—भाई ! तेरी रुचि कहाँ अटकी है ? तुझे ज्ञानकी रुचि है या रागकी ? जिसे ज्ञानस्वभावकी रुचि और दृष्टि हुई है, वह तो फिर अस्थिरताके अल्परागका भी ज्ञाता ही है। और 'जो राग होना था वह हुआ'—ऐसा कहकर जो रागकी रुचि नही छोडता वह तो स्वच्छन्दी–मिथ्यादृष्टि है। जो यह क्रमबद्धपर्यायका स्वरूप समझे उसकी तो दृष्टि पलट जाती है।

(१७) उल्टा प्रश्न—"निमित्त न आये तो........?"

'ऐसा निमित्त आये तो ऐसा होता है, और निमित्त न आये

तो नही होता'—इस प्रकार जिनके निमित्ताधीन दृष्टि है उन्हे क्रमबद्ध पर्यायकी यथार्थ प्रतीति नही है। 'क्रमबद्धपर्याय होना हो किन्तु निमित्त न आये तो?' यह प्रश्न ही उल्टा है। क्रमबद्धपर्यायमें जिस समय जो निमित्त है वह भी निश्चित् ही है; निमित्त न हो ऐसा होता ही नहीं।

(१८) दो नई बातें!—समझे उसका कल्याण

एक तो नियमसारकी "कारणशुद्ध पर्याय" की बात, और दूसरी यह 'क्रमबद्धपर्याय'की बात।—यह दो बाते सोनगढ़से नई निकली हैं—ऐसा कई लोग कहते हैं; लोगोमें आजकल यह बात प्रचलित नही है इसलिये नई मालूम होती है। शुद्धकारणपर्यायकी बात सूक्ष्म है, और दूसरी यह क्रमबद्धपर्यायकी बात सूक्ष्म है,—यह बात जिसे जम जाये उसका कल्याण हो जाता है! यह एक क्रमबद्ध-पर्यायकी बात बराबर समझे तो उसमे निश्चय-व्यवहार और उपादान-निमित्त आदि सब स्पष्टीकरण आ जाते है। वस्तुकी पर्याय क्रमबद्ध और मै उसका ज्ञायक-यह समझनेसे सब समाधान हो जाते है। भगवान! अपने ज्ञायकस्वभावको भूलकर तू परके करने-की मान्यतामें रुक गया? परमें तेरी प्रभुता या पुरुषार्थ नही है; इस ज्ञायकभावमें ही तेरी प्रभुता है, तेरा प्रभु तेरे ज्ञायकमन्दिरमें विराजमान है उसके सन्मुख हो और उसकी प्रतीति कर।

(१९) आत्मा अनादिसे ज्ञायकभावरूप ही रहा है

जगतमें एकेन्द्रियसे लेकर पचेन्द्रिय तकका प्रत्येक जीव और अनंत सिद्धभगवान, और अनन्तानन्त परमाणुओमें प्रत्येक परमाणु,—वे सब क्रमबद्धरूपसे प णमित हो ही रहे है, मै उनमें क्या बदल सकता हूँ? मै तो ज्ञायक हूँ—ऐसा जो निर्णय करे उसे सम्यग्दर्शन हो जाता है। आत्माका ज्ञानस्वभाव है वह अनादि अनंत जाननेका ही कार्य करता है। आत्मा तो अनादिकालसे ज्ञायकभावरूप

ही रहा है, किन्तु अज्ञानीको मोह द्वारा वह अन्यथा अध्यवसित हुआ है—यह बात प्रवचनसारकी २०० वीं गाथामें कही है। आत्मा तो ज्ञायक होनेपर भी अज्ञानी उसकी प्रतीति नही करता, और "मैं पर-का कर्ता हूँ"—ऐसा मोह द्वारा अन्यथा मानता है।

(२०) कथंचित् क्रम-अक्रमपना किसप्रकार है?

कोई ऐसा कहता है कि—"जीवकी पर्यायमें कुछ क्रमबद्ध हैं और कुछ अक्रमरूप है; तथा शरीरादि अजीवकी पर्यायमें भी कुछ क्रमबद्ध है और कुछ अक्रमरूप है।"–वह सारी बात वस्तुके द्रव्य–गुण–पर्यायसे विपरीत है, ज्ञानस्वभावसे विपरीत है और केवलीसे भी विपरीत है अर्थात् सूत्रसे भी विपरीत है। वस्तुमें ऐसा क्रम–अक्रमपना नही है किन्तु पर्याय अपेक्षासे क्रमवद्धपना; और गुण सहवर्ती है उस अपेक्षासे अक्रमपना—इसप्रकार वस्तु क्रम–अक्रमरूप है।

(२१) केवलीको मानता है वह कुदेवको नहीं मानता

कोई ऐसा कहता था कि—"जैसा केवलीने देखा वैसा हुआ है, इसलिये जो फिरका (संप्रदाय) मिला और जैसे गुरु मिले (–वे भले ही मिथ्या हो तथापि) उनमें फेरफार करनेकी उतावल नही करना चाहिये, क्योंकि कुदरतके नियममें वैसा आया है इसलिये उसे बदलना नही चाहिये।"

—किन्तु भाई! तुझे केवलज्ञानका विश्वास हो गया है? और कुदरतका नियम अर्थात् वस्तुस्वरूप जम गया है? जिसे केवल-ज्ञानका विश्वास हो गया है और वस्तुस्वरूप समझमें आ गया उसके अन्तरमें गृहीत–मिथ्यात्व रहता ही नही; कुधर्मको या कुगुरुको माने ऐसा क्रम उसके होता ही नही। इसलिये सम्यक्त्वी जीव कुधर्म–कुगुरुका त्याग करे तो उससे कही उसके पर्यायकी

क्रमवद्धता टूट जाती है—ऐसा नहीं है। सच्चे पुरुषार्थमें निर्मल क्रमबद्ध पर्याय होती है।

(२२) ज्ञायकस्वभाव

जो द्रव्य जिन गुणोसे उत्पन्न हो-अर्थात् जिस पर्यायरूपसे परिणमित हो उसीके साथ वह तन्मय है। अहो! द्रव्य स्वयं उस-उस पर्यायके साथ तन्मय होकर परिणमित हुआ है, वहां दूसरा कोई उसे क्या करेगा? आत्मा तो परम पारिणामिक स्वभावरूप ज्ञायक है; ज्ञायकभावरूप रहना ही उसका स्वभाव है। ऐसे स्वभावका निर्णय किया वहां स्वभावकी ओरके पुरुषार्थसे शुद्ध पर्याय होती जाती है।

(२३) "क्रमवद्धको नहीं मानता वह केवलीको नहीं मानता"

"बस! जैसा निमित्त आये वैसी पर्याय होती है, हम क्रमवद्धको नही मानते।" ऐसा कहनेवाला केवलीभगवानको भी नही मानता, और वास्तवमें वह आत्माको भी नही मानता। क्रमवद्धपर्यायका अस्वीकार करना वह ज्ञानस्वभावका ही अस्वीकार करने जैसा है। भाई! यह क्रमबद्धपर्याय कही किसीके घरकी कल्पना नही है, किन्तु वस्तुके घरकी बात है; वस्तुका ही स्वरूप ऐसा है। कोई न माने तो उससे कही वस्तुका स्वरूप नही बदल सकता।

(२४) ज्ञानस्वभावकी ओर पुरुषार्थको मोड़े विना क्रमबद्धपर्याय समझमें नहीं आती

"शुभ-अशुभ भाव भी जैसे क्रमबद्ध थे वैसे आये;" ऐसा कहकर जो जीव रागके पुरुषार्थमें ही अटक रहा है और ज्ञानस्वभावकी ओर पुरुषार्थको नही मोडता, वह वास्तवमें क्रमबद्धपर्यायको समझा ही नही है, किन्तु मात्र वाते करता है। ज्ञानस्वभावका निर्णय करनेसे रागकी रुचि छूट जाती है और तभी क्रमवद्धपर्यायका सच्चा निर्णय होता है। भाई! तू किसके समक्ष देखकर क्रमबद्धपर्याय

मानता है? जिसने ज्ञायकस्वभावकी ओर देखकर क्रमबद्धपर्यायका निर्णय किया, वह रागका भी ज्ञाता ही हो गया है; यह राग बदलकर इस समय ऐसा राग करूँ, इसप्रकार रागको वदलनेकी बुद्धिमेंसे उसका वीर्य हट गया और ज्ञानस्वभावकी ओर ढल गया; उसके राग दूर होनेका क्रम चालू हो गया है; वर्तमान साधकदशा हुई है और उसी पुरुषार्थसे क्रमवद्धपर्यायके क्रममें अल्पकालमें केवलज्ञान भी आयेगा, उसका पुरुषार्थ चल रहा है। ज्ञानीको क्रमबद्धपर्यायके निर्णयमें स्वभावकी दृष्टिसे प्रयत्न चालू ही है, वह ज्ञानकी अधिकतारूप ही अर्थात् भूतार्थके आश्रित ही परिणमित होता है; उसमें न उतावल है और न प्रमाद है। प्रवचनसारकी २०२ वीं गाथामें पं० हेमराजजी कहते हैं कि—विभावपरिणतिको छूटता न देखकर सम्यग्दृष्टि जीव आकुल-व्याकुल भी नही होता और समस्त विभावपरिणतिको टालनेका पुरुषार्थ किये बिना भी नही रहता; भूतार्थस्वभावका आश्रय करके वर्तता है उसमें उसे पुरुषार्थ बना ही रहता है। एक साथ पाँचों समवाय उसमें आ जाते हैं।

(२५) अपने-अपने अवसरोंमें प्रकाशमान रहते हैं....

प्रवचनसार गाथा ९९ "सदवट्ठिदं सहावे दव्वं......" इत्यादिमें आचार्यदेवने क्रमवद्धपर्यायका सिद्धांत अलौकिक रीतिसे रख दिया है। हारके मोतीके दृष्टांतसे, द्रव्यके परिणाम अपने-अपने अवसरोंमें प्रकाशमान रहते हैं—यह वात समझाकर क्रमबद्धपर्यायका स्वरूप एकदम स्पष्ट कर दिया है। और एक ही समयमें उत्पाद-व्यय-ध्रुव होने पर भी उन तीनोका भिन्न-भिन्न लक्षण है—नाश अर्थात् व्यय, नष्ट होनेवाले भावके आश्रित है; उत्पाद, उत्पन्न होनेवाले भावके आश्रित है और ध्रौव्य स्थित रहनेवाले भावके आश्रित है।—इसप्रकार प्रतिसमय उत्पाद-व्यय-ध्रुव कहकर उसमें भी क्रमबद्धपर्यायकी साँकल बना दी है। (देखो गाथा १०१)

(२६) 'सत्' और उसे जाननेवाला ज्ञानस्वभाव

अहो ! भगवन्तोने जंगलमें निवास करके, अपने ज्ञानमें वस्तुस्वरूपको ग्रहण करके तादृश वर्णन किया है। एक ओर सम्पूर्ण सत्का ज्ञेय पिण्ड जगतमें पडा है और दूसरी ओर उसे जाननेवाला ज्ञानस्वभाव है। महासत्ता सत्, अवांतरसत्ता सत्, जड–चेतन प्रत्येक द्रव्य त्रिकाल सत् और उसकी प्रत्येक समयकी पर्याय भी क्रमबद्धप्रवाहमें उसके अपने स्वकालसे सत्, और इन सबको जाननेवाली ज्ञानपर्याय भी सत्।–इसप्रकार सब क्रमबद्ध और व्यवस्थित सत् है। जहाँ उसका निर्णय किया वहाँ अपनेको ज्ञातृत्व ही रहा और कर्तृत्वकी मिथ्या-बुद्धि दूर हो गई। सत्का ज्ञाता न रहकर उस सत्को बदलना चाहे वह मिथ्याबुद्धि है।

(२७) ज्ञानस्वभावके निर्णयमें पाँचों समवाय आ जाते हैं

समस्त पर्यायें तो क्रमबद्ध ही हैं, किन्तु उसका निर्णय कौन करता है? ज्ञाताका ज्ञान ही उसका निर्णय करता है। जिस ज्ञानने ऐसा निर्णय किया उसने अपना (ज्ञानस्वभावका) निर्णय भी साथ ही कर लिया है। जहाँ स्वभावसन्मुख होकर ऐसा निर्णय किया वहां—

(१) स्वभावकी ओरका सम्यक् "पुरुषार्थ" आया,

(२) जो शुद्धता प्रगट हुई है वह स्वभावमेंसे हुई है इसलिये "स्वभाव" भी आया,

(३) उस समय जो निर्मल पर्याय प्रगट होनी थी वही प्रगटी है, इसलिये "नियत" भी आया,

(४) जो निर्मलदशा प्रगट हुई है वही उस समयका स्वकाल है, इसप्रकार स्वकाल भी आ गया,

(५) उस समय निमित्तरूप कर्मके उपशमादि स्वयं वर्तते हैं, इसप्रकार 'कर्म' भी अभावरूप निमित्तरूपसे आ गया,

—उपरोक्तानुसार स्वभावसन्मुख पुरुषार्थमें पांचों समवाय एकसाथ आ जाते हैं।

(२८) उदीरणा—संक्रमणादिमें भी क्रमबद्धपर्यायका नियम

कर्मकी उपशम, उदीरणा, संक्रमणादि अवस्थाओंका शास्त्रमें वर्णन आता है, वह सब अवस्थायें भी क्रमबद्ध ही है; शुभभावसे जीवने असाता प्रकृतिका साता रूपसे संक्रमण किया—ऐसा कथन आता है, परन्तु वहां, कर्मकी वह अवस्था होना नही थी और जीवने की—ऐसा नही है; किन्तु वैसी अवस्था होनेके समय जीवके वैसे परिणाम निमित्त होते हैं—ऐसा बतलाया है। सर्वत्र एक ही अबाधित नियम है कि पदार्थोंकी अवस्था क्रमबद्ध है और आत्मा ज्ञायक है—फेरफार करनेवाला नही है। जीवने शुभभाव किये और कर्ममें असाता पलटकर साता हुई, वहाँ उस कर्मकी अवस्थामें फेरफार तो हुआ है, किन्तु उससे कही उसकी अवस्थाका क्रम नहीं टूटा है; और जीवने शुभभाव करके उस अजीवमें फेरफार किया—ऐसा भी नही है; असाता बदलकर साता हुई वहाँ ऐसा ही उस अजीवकी अवस्थाका क्रम था।

(२९) द्रव्य सत्, पर्याय भी सत्

लोग कहते है कि—जीव सब छोड़कर चला गया; किन्तु वहाँ उसने कहीं जीवत्व छोडा है? जीव तो जीवरूप रहकर ही अन्यत्र गया है न! जिसप्रकार जीव जीवरूपसे सत् रहा है, उसीप्रकार उसकी प्रत्येक समयकी पर्याय भी उस-उस समयका सत् है, वह बदलकर दूसरे समयकी पर्यायरूप नही हो जाती।

(३०) ज्ञायकके निर्णय बिना सब पढ़ाई उलटी है

मैं ज्ञान हूँ-ज्ञायक हूँ, ऐसा न मानकर परमें फेरफार करना मानता है वह बुद्धि ही मिथ्या है। भाई! आत्मा ज्ञान है-इस बातके

निर्णय विना तेरी सव पढ़ाई उलटी है; तेरे तर्क और न्याय भी विपरीत है। ज्ञानस्वभावकी गम पड़े विना आगम भी अनर्थकारी हो जाते है। शास्त्रमें निमित्तसे कथन आये वहाँ अज्ञानी अपनी विपरीत दृष्टिके अनुसार उसका आशय लेकर उलटा मिथ्यात्वका पोषण करता है।

(३१) "मैं तो ज्ञायक हूँ"

सब जीवोंकी पर्याय क्रमबद्ध है तो मैं किसे बदल सकता हूँ? सर्व अजीवोकी पर्याय भी क्रमबद्ध है तो मै किसे पलट सकता हूँ?—मैं तो ज्ञायक हूँ; ज्ञायकत्व ही मेरा परम स्वभाव है। मैं ज्ञाता ही हूँ, किसीको बदलनेवाला नही हूँ। किसीका दुःख मिटा दूँ या सुखी कर दूँ यह बात मुझमें नही है—इसप्रकार अपने ज्ञायक आत्माका निर्णय करना वह सम्यग्दर्शन है।

(३२) अपनी मानी हुई सव वातको वदलकर यह वात समझना पड़ेगी

सोलापुरमें अधिवेशनके समय विद्वत् परिषदने इस क्रमबद्ध-पर्यायके सम्वन्धमें चर्चा उठाई थी, किन्तु उसका कोई निर्णय नहीं आया; ज्योंका त्यो गीला ही समेट लिया; क्योकि जो इस बातका निर्णय करने लगे तो, निमित्तके कारण कही फेरफार होता है—यह वात नही रहती और अभी तकका रटा हुआ सब वदलना पड़ता है। किन्तु वह सब बदलकर, क्रमबद्धपर्याय जिसप्रकार कही जाती है उसका निर्णय किये बिना किसीप्रकार श्रद्धा-ज्ञान सच्चे नही हो सकते।

(३३) क्रमबद्ध परिणमित होनेवाले ज्ञायकका अकर्तृत्व

आत्मा ज्ञानस्वभावी वस्तु है; ज्ञान उसका परम स्वभाव है; और ज्ञानके साथ श्रद्धा, चारित्र, आनन्द, वीर्य इत्यादि अनन्त गुण रहते है। द्रव्य परिणमित होनेसे उन समस्त गुणोंका क्रमानुसार परिणमन होता है।

आत्मा ज्ञायक है इसलिये उसका स्वभाव स्व-परको जानने का है; परको करे या राग द्वारा परका कारण हो ऐसा उसका स्वभाव नही है, और पर उसका कुछ करे या स्वयं परको कारण बनाये—ऐसा भी स्वभाव नही है; इसप्रकार अकारणकार्यस्वभाव है।

यहाँ सर्वविशुद्धज्ञान-अधिकारमें यह क्रमबद्धपर्यायकी बात लेकर आचार्यदेवने जीवका अकर्तृत्व सिद्ध किया है, अर्थात् जीव ज्ञायक ही है-ऐसा समझाया है। जीव ज्ञानस्वभावी है, उसके अनंत गुणोंकी समय-समयकी पर्याये क्रमबद्ध ही उत्पन्न होती हैं और वे जीवके साथ एकमेक हैं। तीनकालकी प्रत्येक पर्याय अपने स्वकालमें ही उत्पन्न होती है, कोई भी पर्याय उलटी-सीधी उत्पन्न नही होती।

(३४) पुरुषार्थका महान प्रश्न

इसमें महान प्रश्न यह है कि-"तब फिर पुरुषार्थ कहाँ रहा ?"

समाधान:—यह निर्णय किया वहाँ मात्र ज्ञातापना ही रहा, इसलिये परमें फेरफार करनेकी बुद्धिसे हटकर पुरुषार्थका बल स्वभावकी ओर ढल गया। इसप्रकार ज्ञानके साथ वीर्यगुण (पुरुषार्थ) भी साथ ही है। ज्ञानकी क्रमबद्धपर्यायके साथ स्वभावकी ओरका पुरुपार्थ भी साथ ही वर्तता है; क्रमबद्धपर्यायमें पुरुषार्थ कही पृथक् नही रह जाता। क्रमबद्धपर्यायका निर्णय करके ज्ञान स्वोन्मुख हुआ वहाँ उसके साथ वीर्य, सुख, श्रद्धा, चारित्र, अस्तित्व इत्यादि अनन्तगुण एकसाथ ही परिणमित होते है, इसलिये इसमें पुरुषार्थ भी साथ ही है।

(३५) "ज्ञायक" और "कारक"

अनादि-अनंतकालमें किस समय किस द्रव्यकी कैसी पर्याय है वह सर्वज्ञदेवने वर्तमानमें प्रत्यक्ष जान लिया है; किन्तु सर्वज्ञदेवने जाना इसलिये वे द्रव्य वैसी क्रमबद्धपर्यायरूपसे परिणमित होते

है—ऐसा नहीं है; किन्तु उस-उस समयकी निश्चित् क्रमबद्धपर्यायरूपसे परिणमित होनेका द्रव्योका ही स्वभाव है। सर्वज्ञका केवलज्ञान तो 'ज्ञापक' अर्थात् बतलानेवाला है, वह कही पदार्थोका कारक नही है। छहों द्रव्य ही स्वयं अपने-अपने छह कारकरूपसे परिणमित होते हैं।

* दूसरा प्रवचन *

[आश्विन कृष्णा १३, वीर स० २४८०]

पर्याय क्रमबद्ध होने पर भी शुद्धस्वभावके पुरुषार्थ विना शुद्धपर्याय कभी नही होती। ज्ञानस्वभावकी प्रतीतिका अपूर्व पुरुषार्थ करे उसीको सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्याये क्रमबद्ध होती है।

(३६) जिसका पुरुपार्थ ज्ञायककी ओर ढला उसीको क्रमबद्धकी श्रद्धा हुई

"अहो! मैं ज्ञायक हूँ, ज्ञान ही मेरा परम स्वभाव है"—ऐसे निर्णयका अन्तरमें प्रयत्न करे उसके ऐसा निर्णय हो जाता है कि वस्तुका ऐसा ही स्वभाव है और सर्वज्ञदेवने केवलज्ञानसे ऐसा ही जाना है। जिस जीवने अपने ज्ञानमें ऐसा निर्णय किया उसे सर्वज्ञसे विरुद्ध कथन करनेवाले (अर्थात् निमित्तके कारण कुछ फेरफार होता है या रागसे धर्म होता है-ऐसा माननेवाले) कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्रकी मान्यता छूट गई है; उसका पुरुषार्थ ज्ञानस्वभावकी ओर ढला है और उसीको सर्वज्ञदेवकी तथा क्रमबद्धपर्यायकी यथार्थ श्रद्धा हुई है।

(३७) सर्वज्ञदेवको न माननेवाले

कोई ऐसा कहे कि "सर्वज्ञदेव भविष्यकी पर्यायको वर्तमानमें नही जानते, किन्तु जब वह पर्याय होगी तब वे उसे जानेंगे!"—

तो ऐसा कहनेवालेको सर्वज्ञकी श्रद्धा भी नहीं रही। भाई रे! भविष्यके परिणाम होंगे तब सर्वज्ञदेव जानेंगे—ऐसा नही है, सर्वज्ञदेवको तो पहेलेसे ही तीनकाल–तीनलोकका ज्ञान वर्त रहा है। तुझे ज्ञायकरूपसे नही रहना है किन्तु निमित्त द्वारा क्रम बदलना होसकता है ऐसा मानना है, यह तेरी दृष्टि ही विपरीत है। ज्ञानस्वभावकी दृष्टि करनेसे पर्यायका निर्मल क्रम प्रारम्भ हो जाता है, यह नियम है।

जीव–अजीवके सर्व परिणाम क्रमबद्ध जैसे हैं वैसे सर्वज्ञदेवने जाने है और सूत्रमें भी वैसे ही बतलाये है; इसलिये आचार्यदेवने गाथामें कहा कि—"जीवस्साजीवस्स दु जे परिणामा दु देसिया सुत्ते..." जीव–अजीवके क्रमबद्ध परिणाम जैसे है वैसे ही—उन्ही सब प्रकारोंके सर्वज्ञदेव ज्ञाता हैं, किन्तु उनके कारक नही हैं।

(३८) जो आत्माका ज्ञायकपना नहीं मानता वह केवली आदिको नहीं मानता

जीव प्रतिसमय अपने क्रमबद्धपरिणामरूपसे उत्पन्न होता है; जीवमें अनन्त गुण होनेसे एक समयमें उन अनन्त गुणोके अनंत परिणाम होते है; उनमे प्रत्येक गुणके परिणाम प्रतिसमय नियमित क्रमबद्ध ही होते है।—ऐसे वस्तुस्वभावका निर्णय करनेसे ज्ञान स्वसन्मुख होकर अकर्तारूपसे—साक्षीभावसे परिणमित हुआ, वहाँ साधकदशा होनेसे अभी अस्थिरताका राग भी होता है किन्तु ज्ञान तो उसका भी साक्षी है। स्व–परप्रकाशक ज्ञान विकसित हुआ उसकी क्रमबद्धपर्याय ऐसी ही है कि उस समय ज्ञायकको जानते हुए वैसे रागको भी जाने। ऐसे ज्ञायकपनेको न माने और पर्यायके क्रममें फेरफार करना माने तो वह जीव आत्माके ज्ञानस्वभावको नही मानता; केवलीभगवानको भी वह नही मानता और केवलज्ञानके साधक गुरु कैसे होते है उन्हे भी वह नही जानता। क्रमबद्धपर्यायकी प्रतीति करके जिसने अपने ज्ञानस्वभावको प्रतीतिमें लिया उसे सम्यग्दर्शनादि हुए

हैं और उसीने वास्तवमें केवलीभगवानको, उनके शास्त्रोंको और गुरु-को माना है।

(३९) पर्याय क्रमबद्ध होनेपर भी, पुरुषार्थीको ही सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायें होती हैं

देखो, इसमें आत्माके ज्ञायकस्वभावके पुरुषार्थकी बात है। "क्रमबद्धपर्याय"का ऐसा अर्थ नही है कि जीव चाहे जैसे कुधर्मको मानता हो तथापि उसे सम्यग्दर्शन हो सकता है। अथवा चाहे जैसे तीव्र विषय-कषायोमें वर्तता हो या एकेन्द्रियादि पर्यायमें वर्तता हो तथापि उसे भी क्रमबद्धरूपसे उस पर्यायमें सम्यग्दर्शनादि हो जाये —ऐसा कभी नही होता। जो कुधर्मको मानते हैं, तीव्र विषय-कषायमें वर्तते हैं, या एकेन्द्रियमें पडे हैं, उन्हें कहाँ अपने ज्ञानस्वभावकी या क्रमबद्धपर्यायकी खबर है? पर्याय क्रमबद्ध होने पर भी शुद्ध-स्वभावके पुरुषार्थ बिना कदापि शुद्धपर्याय नही होती। ज्ञानस्वभावकी प्रतीतिका अपूर्व पुरुषार्थ करे उसीको सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्याये क्रमबद्ध होती हैं और जो वैसा पुरुषार्थ नही करता उसे क्रमबद्ध मलिन पर्याय होती है। पुरुषार्थके बिना ही हमें सम्यग्दर्शनादि निर्मलदशा हो जायेगी—ऐसा कोई माने तो वह क्रमबद्धपर्यायका रहस्य समझा ही नही है। जो जीव कुदेवको, कुगुरुको, कुधर्मको मानता है और स्वच्छन्दतासे तीव्र कषायोंमें वर्तता है—ऐसे जीवको क्रमबद्धपर्यायकी श्रद्धा ही नही है। भाई! अपने ज्ञानस्वभावके पुरुषार्थ बिना तूने क्रमबद्धपर्यायको कहांसे जाना? जबतक कुदेव-कुधर्म आदिको माने तबतक उसकी क्रमबद्धपर्यायमें सम्यग्दर्शनकी योग्यता हो ही नही सकती। सम्यग्दर्शनकी योग्यतावाले जीवको उसके साथ ज्ञान-का विकास, स्वभावका पुरुषार्थ आदि भी योग्य ही होते हैं; एकेन्द्रियपना आदि पर्यायमें उसप्रकारके ज्ञान, पुरुषार्थ आदि नही होते, ऐसा ही उस जीवकी पर्यायका क्रम है। यहाँ तो यह बात है कि पुरुषार्थ द्वारा जिसने ज्ञानस्वभावकी प्रतीति की उसे

सम्यग्दर्शन हुआ, इसलिये परका और रागादिका अकर्ता हुआ और उसीने क्रमवद्धपर्यायको यथार्थ रूपसे जाना है। अभी तो कुदेव और सुदेवका निर्णय करनेकी भी जिसके ज्ञानमें शक्ति नहीं है, उस जीवमें ज्ञायकस्वभावका और अनन्त गुणोंकी क्रमवद्धपर्यायका निर्णय करनेकी शक्ति तो कहाँसे होगी ? और यथार्थ निर्णयके बिना क्रमवद्ध-पर्यायमें शुद्धता हो जाये—ऐसा नही होता।

(४०) "अनियतनय" या "अकालनय" के साथ क्रमवद्धपर्यायका विरोध नहीं है

प्रवचनसारके परिशिष्टके '४७ नयोंमें २७वें अनियतनयसे आत्माको "अनियत" कहा है, परन्तु अनियत अर्थात् अक्रमवद्ध—ऐसा उसका अर्थ नही है। वहाँ पानीकी उष्णताका उदाहरण देकर समझाया है कि जिसप्रकार उष्णता पानीका नित्यस्थायी स्वभाव नहीं है किन्तु उपाधिभाव है, उसीप्रकार उस विकारकी अपेक्षासे आत्माको अनियत कहा है। इसीप्रकार ३१वे बोलमें वहाँ "अकालनय" कहा है, उसमें भी कहीं इस क्रमवद्धपर्यायके नियमसे विरुद्ध वात नही है; कही क्रमवद्धपर्यायको तोड़कर वह वात नहीं है। (इन अनियतनय तथा अकालनय सम्बन्धी विशेष समझके लिये आत्मधर्ममें प्रकाशित होनेवाले पूज्य गुरुदेवके प्रवचन पढ़ें।)

(४१) जैनदर्शनकी मूलवस्तुका निर्णय

मूल वस्तुस्वभाव क्या है उसका पहले बरावर निर्णय करना चाहिए। आत्माका ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव क्या है ? और ज्ञेय पदार्थोंका क्रमवद्धस्वभाव क्या है ?—उसके निर्णयमें विश्वदर्शनरूप जैन-दर्शनका निर्णय आ जाता है; किन्तु अज्ञानियोंको उसका निर्णय नहीं है।

देखो, यह मूलवस्तु है; इसका पहले निर्णय करना चाहिये। इस मूलवस्तुके निर्णय विना धर्म नही हो सकता। जिस प्रकार कोई

आदमी किसी दूसरे आदमीके पास पाँच हजारकी उगाहीके लिये जाये; वहाँ कर्जदार आदमी उसे अच्छी-अच्छी मिठाइयोका भोजन कराये; किन्तु लेनदार कहे कि भाई ! भोजनकी बात पीछे, पहले मुख्य (मूल) बात करो, यानो मैं पाँचहजार रुपये लेने आया हूँ; उनकी पहले व्यवस्था कर दो;-इस प्रकार वहाँ भी मुख्य बात पहले करते हैं; उसी प्रकार यहाँ मुख्य (मूल) रकम यह है कि आत्मा ज्ञान-स्वभावी है उसका निर्णय करना चाहिये। आत्मा ज्ञायकस्वभाव है और पदार्थोंकी पर्यायका क्रमबद्धस्वभाव है—उसका जो निर्णय नही करता, और "ऐसा निमित्त चाहिये तथा ऐसा व्यवहार चाहिये" -इसप्रकार व्यवहारकी रुचिमें रुक जाता है उसका किंचित् भी हित नहीं होता। अहो ! मैं ज्ञायक हूँ—यह मूल बात जिसकी प्रतीतिमें आ गई उसे क्रमबद्धपर्याय जमे विना नहीं रहेगी; और जहाँ यह बात जमी वहाँ सब स्पष्टीकरण हो जाते हैं।

(४२) हारके मोतियोंके दृष्टान्त द्वारा क्रमबद्धपर्यायकी समझ; और ज्ञानको सम्यक् करनेकी रीति

प्रवचनसारकी ९९ वी गाथामें लटकते हुए हारका दृष्टांत देकर उत्पाद-व्यय-ध्रुव सिद्ध किये हैं; उसमें भी क्रमबद्धपर्यायकी बात आ जाती है। जिस प्रकार लटकते हुए हारके मोतियोंमें पीछे पीछेके स्थानोमें पीछे पीछेके मोतियोके प्रगट (प्रकाशित) होनेसे और आगे आगेके मोतियोंके प्रगट नही होने से प्रत्येक मोती अपने-अपने स्थानमें प्रकाशित है; उसमें आगे-आगेके स्थानमें आगे-आगेका मोती प्रकाशित होता है और पीछे-पीछेके मोती प्रकाशित नही होते; उसी प्रकार लटकते हुए हारकी भांति परिणमित द्रव्यमें समस्त परिणाम अपने अपने अवसरोंमें प्रकाशित रहते है, उसमें पीछे-पीछेके अवसरोमें पीछे-पीछेके परिणाम प्रगट होते है और आगे-आगेके परिणाम प्रगट नही होते। (देखो, गाथा ९९ की टीका।) लटकते हुए हारके डोरेमें

उसका प्रत्येक मोती यथास्थान क्रमबद्ध जमा हुआ है; यदि उसमें उल्टा-सीधा करने जाये-पाँचवें नम्बरका मोती हटाकर पच्चीसवें नम्बर पर लगाने जाये तो हारका डोरा टूट जायेगा, इसलिये हार की अखण्डता नहीं रहेगी। उसी प्रकार जगतका प्रत्येक द्रव्य झूलता अर्थात् परिणमनशील है। अनादि-अनन्त पर्यायरूप मोती क्रमबद्ध जमे हुए हैं; उसे न मानकर एक भी पर्यायका क्रम तोड़ने जाये तो गुण का और द्रव्यका क्रम टूट जायेगा, अर्थात् श्रद्धा ही मिथ्या हो जायेगी। मैं तो ज्ञायक हूँ; मैं निमित्त बनकर किसीकी पर्यायमें फेरफार कर दूँ—ऐसा मेरा स्वरूप नही है;—इस प्रकार ज्ञायकस्वभावकी प्रतीति द्वारा अकर्तापना हो जाता है अर्थात् सम्यग्ज्ञान होता है, और वही जीव स्व-परप्रकाशक ज्ञान द्वारा इस क्रमबद्धपर्यायको यथार्थतया जानता है।—इसप्रकार अभी तो ज्ञानको सम्यक् करनेकी यह रीति है; इसे समझे बिना सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता।

(४३) ज्ञायकभावका परिणमन करे वही सच्चा श्रोता

इस क्रमबद्धपर्यायके विषयमें आजकल बड़ी गड़बड़ी शुरू हुई है, इसलिये यहाँ उसका विशेष स्पष्टीकरण करते है। अभी तो जिसे इस बातके श्रवणका भी प्रेम न आये वह अन्तरमें पात्र होकर परिणमित कहां से करेगा? और अकेले श्रवणका प्रेम करे किन्तु स्वच्छन्द टालकर अंतरमें ज्ञायकभावका परिणमन न करे तो उसने भी वास्तवमें यह बात नही सुनी है। यही बात समयसारकी चौथी गाथामें आचार्यदेव ने रखी है; वहाँ कहा है कि एकत्वविभक्त शुद्धात्माका श्रवण जीव ने पहले कभी नही किया है; अनन्तवार साक्षात् तीर्थंकर भगवानके समवसरणमें जाकर दिव्यध्वनि सुन आया, तथापि आचार्य भगवान कहते है कि उसने भावभासनरूप शुद्धात्माकी बातका श्रवण किया ही नही; क्यों? क्योंकि अन्तरमें उपादान जागृत करके उस शुद्धात्माकी रुचि नही की इसलिये उसके श्रवणमें निमित्तपना भी नही आया।

(१४) जहाँ स्वच्छन्द है वहाँ क्रमबद्धपर्यायकी श्रद्धा नहीं है; साधकको ही क्रमबद्धपर्यायकी सच्ची श्रद्धा है।

प्रश्नः—क्रमबद्धपर्यायकी श्रद्धा हो जाये, किन्तु पर्यायके क्रममेंसे स्वच्छन्द दूर न हो तो ?

उत्तरः—ऐसा हो ही नहीं सकता। भाई! जो क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा करे उसके पर्यायमे स्वच्छन्दका क्रम रह ही नहीं सकता; क्योंकि ज्ञानस्वभावके सन्मुख होकर उसने वह प्रतीति की है। ज्ञान-स्वभावकी पहिचानके पुरुषार्थ बिना अकेली क्रमबद्धपर्यायका नाम ले, उसकी यहाँ बात नही है; क्योंकि ज्ञानस्वभावकी पहिचान बिना वह क्रमबद्धपर्यायको भी नहीं समझा है। ज्ञानस्वभावकी ओर उन्मुख होकर क्रमबद्धपर्यायकी प्रतीति की वहाँ तो अनन्तगुणोका अंश निर्मलरूपसे परिणमित होने लगा है; श्रद्धामें सम्यग्दर्शन हुआ, ज्ञानमें सम्यग्ज्ञान हुआ, आनन्दके अशका वेदन हुआ, वीर्यका अंश स्वोन्मुख हुआ,—इसप्रकार समस्त गुणोकी अवस्थाके क्रममें निर्मलताका प्रारम्भ हो गया। अभी जिसके श्रद्धा-ज्ञान सम्यक् नही हुए है, आनन्दका भान नहीं है, वीर्यबल अन्तर्स्वभावोन्मुख नहीं हुआ है, उसे क्रमबद्धपर्यायकी सच्ची प्रतीति नहीं है। क्रमबद्धपर्याय-की प्रतीतिके साथ तो स्वभावकी ओरका पुरुषार्थ है; श्रद्धा-ज्ञान सम्यक् हुए है, अतीन्द्रिय आनन्द और वीतरागताका अंश प्रगट हुआ है, इसलिये वहाँ स्वच्छन्द तो होता ही नही। साधकदशामें अस्थिरता का राग आता है, किन्तु वहाँ स्वच्छन्द नहीं होता। और जो राग है उसका भी परमार्थतः तो वह ज्ञानी ज्ञाता ही है। इस प्रकार इसमें भेदज्ञानकी बात है। सम्यग्दर्शन कहो, भेदज्ञान कहो या ज्ञायकभाव का पुरुषार्थ कहो, अथवा क्रमबद्धपर्यायकी प्रतीति कहो, वस्तुस्वभाव-का निर्णय कहो-यह सब साथी हो हैं। क्रमबद्धपर्यायकी श्रद्धावाले को हठ भी नही रहती और स्वच्छन्द भी नही रहता। सम्यक्श्रद्धा होनेके साथ ही उसे उसी क्षण चारित्र प्रगट करके मुनित्व धारण

कर लेना चाहिये—ऐसी हठ नहीं होती, और चाहे जैसा राग हो उसमें कोई हर्ज नही है—ऐसा स्वच्छन्द भी नहीं होता; ज्ञायकभावरूप मोक्षमार्गका उद्यम उसके चलता ही रहता है। चारित्रकी कमजोरीमें अपना ही अपराध मानता है, किसी अन्यका दोष नहीं मानता।

(४५) यह समझे तो सब गुत्थियाँ सुलझ जायें

आजकल उपादान–निमित्त और निश्चय–व्यवहारकी बड़ी उलझने चल रही हैं; यदि यह क्रमबद्धपर्यायका स्वरूप बराबर समझे तो वे सारी गुत्थियाँ सुलझ सकती हैं। "द्रव्य अपने क्रमबद्धपरिणाम-रूपसे उत्पन्न होता है" -ऐसा कहा उसमें उस-उस पर्यायका क्षणिक उपादान आ जाता है। प्रत्येक समयकी पर्याय अपने–अपने क्षणिक उपादानसे ही क्रमबद्धरूपसे नियमितरूपसे उत्पन्न होती है; अपने परिणामोसे ही अर्थात् उस समयकी क्षणिक योग्यतासे ही उत्पन्न होती है, निमित्तसे उत्पन्न नहीं होती। प्रत्येक गुणमें अपने–अपने क्षणिक उपादानसे क्रमबद्ध परिणाम उत्पन्न होते हैं;—इस प्रकार अनन्त गुणोके अनन्त परिणाम एक समयमें उत्पन्न होते हैं। यह जो क्रमबद्धपना कहा जाता है वह "उर्ध्वता सामान्य" की अपेक्षासे अर्थात् कालप्रवाहकी अपेक्षासे कहा जाता है।

(४६) वज्रभींत जैसा निर्णय

भाई! अपने ज्ञानको अंतरोन्मुख करके एकवार वज्रभीत जैसा यथार्थ निर्णय तो कर। वज्रभीत जैसा निर्णय किये बिना मोक्षमार्गकी ओर तेरा वीर्य नहीं चलेगा। यह निर्णय करनेसे तेरी प्रतीतिमें निरन्तर ज्ञानकी अधिकता हो जायेगी और राग उस ज्ञान का ज्ञेय हो जायेगा। इसके अनुभवज्ञान बिना अनादिसे स्व-परके स्वरूपको भूल कर परका मैं करूँ और परको बदल दूँ ऐसा मान रहा है—ऐसी बुद्धि तो संसारभ्रमणके कारणरूप है।

(४७) केवलीकी भाँति सर्व जीव ज्ञानस्वरूप हैं

आत्मा ज्ञानस्वभावी है; ज्ञान किसे बदलेगा? जिस प्रकार

केवलीभगवान जगतके ज्ञाता-दृष्टा ही है, उसी प्रकार यह आत्मा भी ज्ञाता-दृष्टापनेका ही कार्य कर रहा है। भगवान एक समयमें परिपूर्ण जानते है और यह जीव अल्प जानता है—इतना ही अन्तर है। किन्तु अपने ज्ञाता-दृष्टापनेकी प्रतीति न करके, अन्यथा मानकर जीव संसारमें भटक रहा है। अल्प और अधिक ऐसे भेदको गौण कर डाले तो सर्व जीवोमें ज्ञानका एक ही प्रकार है, समस्त जीव ज्ञानस्वरूप है और जाननेका ही कार्य करते है, किन्तु ज्ञानरूपसे अपना अस्तित्व है उसे प्रतीतिमें न लेकर, ज्ञानके अस्तित्वमें परका अस्तित्व मिलाकर परके साथ एकत्व मानता हैं, परसे लाभ-हानि मानता है वही दुःख और संसार है।

(४८) निमित्त वास्तवमें कारक नहीं किन्तु अकर्ता है

"सर्वज्ञभगवानको तो परिपूर्ण ज्ञान विकसित हो गया है, वे तो 'ज्ञायक' है इसलिये वे परमें कुछ भी फेरफार नही करते, यह बात ठीक है, किन्तु यह जीव तो निमित्तरूपसे कारक होकर अपनी इच्छानुसार पदार्थोमें फेरफार—उलटासीधा कर सकता है?"—ऐसा कोई कहे तो वह भी सत्य नही है। ज्ञायक हो या कारक हो, किन्तु पदार्थकी क्रमबद्धपर्यायको बदलकर कोई उल्टी-सीधी नही करता। प्रत्येक द्रव्य निरन्तर स्वयं ही अपना कारक होकर क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है, निमित्तरूप दूसरा द्रव्य वास्तवमें कारक नही किन्तु अकारक है; अकारकको कारक कहना वह उपचारमात्र है; इसी प्रकार निमित्त अकर्ता है, उस अकर्ताको कर्ता कहना वह उपचार है—व्यवहार है—अभूतार्थ है।

(४९) ज्ञायकके निर्णयमें ही सर्वज्ञका निर्णय

भगवान सर्वके ज्ञायक है—ऐसा निर्णय किसने किया? ज्ञान-स्वभावके सन्मुख होकर स्वयं ज्ञायक हुआ तभी भगवानके ज्ञायकपने-का यथार्थ निर्णय हुआ।

(५०) पर्यायसे अनन्यपना होनेसे, पर्यायके बदलने पर द्रव्य भी बदलता है; चक्कीके निचले पाटकी भाँति वह सर्वथा कूटस्थ नहीं है।

यहाँ ऐसा कहा है कि क्रमबद्धपरिणामरूपसे द्रव्य उत्पन्न होता है—"दवियं ज उप्पज्जइ गुणेहि तं तेहिं जाणसु अणण्णं" द्रव्य अपने जिन गुणोसे जिन क्रमबद्धपरिणामोरूप उत्पन्न होता है उनमें उसे अनन्य जान। इसलिये, अकेली पर्याय ही पलटती है और द्रव्य-गुण तो "चक्कीके निचले पाटकी भाति" सर्वथा कूटस्थ ही रहते हैं—ऐसा नही है। पर्यायके बदलनेसे उस-उस पर्यायरूपसे द्रव्य-गुण उत्पन्न होते है। पहले समयकी पर्यायमें जो द्रव्य-गुण अनन्य थे वे दूसरे समय पलटकर दूसरे समयकी पर्यायमें अनन्य हैं। पहले समयमे पहली पर्यायका जो कर्ता था वह बदलकर दूसरे समयमें दूसरी पर्यायका कर्ता हुआ है। इसी प्रकार कर्ताकी भांति कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, और अधिकरण—इन सब कारकोमें प्रतिसमय परिवर्तन होता है। पहले समय जैसा कर्तापना था वैसा ही कर्तापना दूसरे समय नही रहा; पर्यायके बदलनेसे कर्तापना आदि भी बदले हैं। कर्ता-कर्म आदि छह कारक पहले जिस स्वरूपमें थे उसी स्वरूपमें दूसरे समय नहीं रहे। पहले समयमें पहली पर्यायके साथ तद्रूप होकर उसका कर्तृत्व था, और दूसरे समयमें दूसरी पर्याय के साथ तद्रूप होकर उस दूसरी पर्यायका कर्तृत्व हुआ। इसप्रकार पर्याय अपेक्षासे, नई-नई पर्यायोके साथ तद्रूप होता-होता सारा द्रव्य प्रतिसमय पलट रहा है। द्रव्य-अपेक्षासे ध्रुवता है। यह कुछ सूक्ष्म वात है।

प्रवचनसारकी ९३ वीं गाथामें भी कहा है कि—"तेहि पुणो पज्जाया.. ..." द्रव्य तथा गुणोसे पर्याये होती है। द्रव्यके परिणमित होनेसे उसके अनन्त गुण भी क्रमबद्धपर्यायरूपसे साथ ही परिणमित हो जाते है। पर्यायसे अनन्यरूपसे द्रव्य उत्पन्न होता है—

ऐसा कहनेसे, पर्यायके परिणमित होनेसे द्रव्य भी परिणमित हुआ है—यह बात सिद्ध होती है; क्योंकि यदि द्रव्य सर्वथा ही परिणमित न हो तो पहली पर्यायसे छूटकर दूसरी पर्यायके साथ वह कैसे तद्रूप होगा ? पर्यायके बदलने पर यदि द्रव्य न बदले तो वह अलग पड़ा रहेगा !—इसलिये दूसरी पर्यायके साथ उसकी तद्रूपता हो ही नहीं सकती । किन्तु ऐसा नही होता; पर्याय परिणमित होती रहे और द्रव्य अलग रह जाये ऐसा नहीं होता ।

कोई ऐसा कहे कि—"पहले समयकी जो पर्याय है वह स्वयं ही दूसरे समयकी पर्यायरूप परिणमित हो जाती है, द्रव्य परिणमित नही होता"—तो यह बात असत्य है । पहली पर्यायमेंसे दूसरी पर्याय नही आती; पर्यायमेंसे पर्याय प्रगट होती है—ऐसा माननेवालेको तो "पर्यायमूढ" कहा है । पर्यायके पलटने पर उसके साथ द्रव्य, क्षेत्र और भाव भी (पर्याय अपेक्षासे) पलट गये है । यदि ऐसा न हो तो समय-समयकी नई पर्यायके साथ द्रव्यका तद्रूपपना सिद्ध नहीं हो सकता । "सर्व द्रव्योंका अपने परिणामोंके साथ तादात्म्य है"—ऐसा कहकर आचार्यदेवने अलौकिक नियम दिखा दिया है । श्री दीपचन्दजी कृत चिद्‌विलासमें भी यह बात की है ।

(५१) जीवका सच्चा जीवन

जीव अपने क्रमबद्धपरिणामरूपसे उत्पन्न होता हुआ, उसमें तन्मयरूपसे जीव ही है, अजीव नही है। अजीवके या रागके आश्रयसे उत्पन्न हो ऐसा जीवका सच्चा स्वरूप नहीं है । और क्रमबद्धपरिणाम न माने तो उसे भी वस्तुस्वरूपकी खबर नही है । "जीवित जीव" तो अपनी क्रमबद्धपर्यायरूपसे ही उत्पन्न होता है, उसके बदले अजीवादि निमित्तके कारण जीव उत्पन्न होता है—ऐसा माने, अथवा तो जीव निमित्त होकर अजीवको उत्पन्न करता है—ऐसा माने तो उसने जीवके जीवनको नही जाना है । जीवका जीवन तो ऐसा है कि परके कारण-कार्य बिना ही स्वयं अपनी क्रमबद्धपर्यायरूपसे उत्पन्न होता है ।

(५२) दृष्टि अनुसार क्रमबद्धपर्याय होती है

आत्मा ज्ञायकस्वरूप...समभावी सूर्य है.—ऐसे स्वभावको जो नहीं जानता और स्वच्छन्दी होकर मिथ्यात्वकी विषमबुद्धिसे कर्तृत्व मानता है–परमें उलटा-सीधा करना चाहता है—उसने जीव को वास्तवमें माना ही नही है; ज्ञायकस्वरूप जीवतत्त्वको उसने जाना ही नही है। कर्तृत्व मानकर कही भी फेरफार करने गया वहाँ स्वयं ज्ञातारूपसे नही रहा, और क्रमबद्धपर्याय ज्ञेयरूप है उसे नहीं माना; इसलिये अकर्ता साक्षीस्वरूप ज्ञायक जीवतत्त्व उसकी दृष्टिमें नही रहा। ज्ञायकस्वभाव पर जिसकी दृष्टि है वह ज्ञाता है–अकर्ता है और निर्मल क्रमबद्धपर्यायरूपसे वह उत्पन्न होता है। ज्ञातास्वभाव पर जिसकी दृष्टि नही है और परके साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध पर ही जिसकी दृष्टि है उसे विपरीतदृष्टिमें क्रमबद्धपर्याय अशुद्ध होती है। इस प्रकार यह दृष्टि बदलनेकी बात है; परकी दृष्टि छोड़कर ज्ञायकस्वभावकी दृष्टि करनेकी यह बात है; ऐसी दृष्टि प्रगट किये बिना यह बात यथार्थरूपसे समझमें नहीं आ सकती।

(५३) ज्ञायकके लक्ष बिना एक भी न्याय सच्चा नहीं होता

पानीका जो प्रवाह है वह उलटा-सीधा नहीं होता; पहलेका पीछे और पीछेका आगे—ऐसा नहीं होता; उसी प्रकार द्रव्य अपने अनादि–अनन्त पर्यायोंके प्रवाहक्रमको द्रवित होता है—प्रवाहित होता है; उस प्रवाहक्रममें जिस-जिस पर्यायको वह द्रवित होता है उस-उस पर्यायके साथ वह अनन्य है। जिस प्रकार मकानके खिड़की–दरवाजे नियत हैं; छोटे–बड़े अनेक खिड़की–दरवाजोंमें जिस स्थान पर जो खिड़की या दरवाजा लगाना हो वही बराबर बैठता है; बड़ा दरवाजा काटकर छोटे दरवाजेकी जगह लगा दें तो उस बडे दरवाजेकी जगह क्या लगायेंगे? बडे दरवाजेकी जगह कही छोटा दरवाजा फिट नही हो सकता, वहाँ तो बढई प्रत्येक खिड़की–दरवाजे पर नम्बर लिख रखता है। यदि उस नम्बरमें गड़बड़ी हो

जाये तो खिड़की-दरवाजोंका मेल टूट जाता है। उसीप्रकार आत्मा ज्ञायकस्वरूप है और पदार्थ उसके ज्ञेय हैं; उन पदार्थोंकी क्रमबद्ध-पर्यायमें जिस पर्यायका जो स्थान (—स्वकाळ) है वह आगे-पीछे नही होता। यदि एक भी पर्यायके स्थानको (प्रवाहक्रमको) बदल-कर इधर-उधर करने जाये तो कोई व्यवस्था ही न रहे; क्योंकि एक पर्यायको बदलकर दूसरे स्थान पर रखा, तो दूसरे स्थानकी पर्यायको बदलकर तीसरे स्थान पर रखना पड़ेगी-इसप्रकार सारा द्रव्य ही छिन्न-भिन्न हो जायेगा,-अर्थात् उस जीवकी दृष्टिमें द्रव्य खण्ड-खण्ड होकर मिथ्यात्व हो जायेगा; सर्वज्ञता या ज्ञायकता तो सिद्ध ही नही होगी। "मै ज्ञायक हूँ,"-इस बातका जबतक लक्ष न हो तबतक एक भी सच्चा न्याय समझमें नही आ सकता। आत्मा ज्ञायक और सर्व पदार्थ ज्ञेय,—इस प्रकार ज्ञान और ज्ञेय दोनों व्यवस्थित है। जैसे पदार्थ है वैसा ही ज्ञान जानता है, और जैसा ज्ञान जानता है वैसे ही पदार्थ हैं, तथापि किसीके कारण कोई नही है—ऐसा वस्तु-स्वरूप है। ऐसा वस्तुस्वरूप जानकर जो ज्ञाता हुआ वह रागका भी ज्ञाता ही है और वह राग भी उसके ज्ञानका ज्ञेय होकर रहता है। पदार्थोंकी व्यवस्थाका ज्ञायक न रहकर फेरफार करना मानता है उसे अपने ज्ञानका ही विश्वास नही है।

(५४) "पदार्थोंका परिणमन व्यवस्थित या अव्यवस्थित?"

भाई, तू ज्ञान है; ज्ञान क्या करता है? वस्तु जैसी हो वैसी जानता है। तेरा स्वरूप जाननेंका है। तू विचार तो कर कि पदार्थों-का परिणमन व्यवस्थित होता है या अव्यवस्थित? यदि व्यवस्थित कहा जाये तो उसमें कही भी फेरफार करना नही रहता, ज्ञातृत्व ही रहता है; और यदि अव्यवस्थित कहा जाये तो ज्ञानने जाना क्या? पदार्थोंका परिणमन अव्यवस्थित कहने से ज्ञान ही अव्यवस्थित सिद्ध होगा; क्योंकि अव्यवस्थित हो तो केवलीभगवानने जाना क्या? इसलिये न तो केवलज्ञान ही सिद्ध होगा और न आत्माका ज्ञान-

स्वभाव! ज्ञानस्वभावकी पहिचानके विना न तो मिथ्यात्व दूर होता है और न धर्मका अंश भी प्रगट होता है।

(५५) जीव या अजीव सबकी पर्याय क्रमबद्ध है, उसे जाननेवाला ज्ञानी तो ज्ञाताभावरूपसे ही क्रमबद्ध उत्पन्न होता है

कोई कहे कि "कभी जीव क्रमवद्धपरिणामरूपसे परिणमित होता है और कभी अक्रमरूपसे भी; उसी प्रकार अजीव भी कभी क्रमबद्ध परिणमित होता है और कभी जीव उसे अक्रमरूपसे भी परिणमित कर देता है।"—ऐसा नही है। भाई! जीव या अजीव किसीका ऐसा स्वरूप नहीं है कि अक्रमवद्धसे परिणमित हों। केवलज्ञान चौथे गुणस्थानमें हो जाये और सम्यग्दर्शन तेरहवें गुणस्थानमें हो—ऐसा कभी नहीं होता; पहले केवलज्ञान हो जाये और फिर मुनिदशा ग्रहण करे—ऐसा भी कभी नही होता; ऐसा ही वस्तुके परिणमनका स्वभाव है। धर्मीके स्वभावदृष्टिमें ज्ञानकभावका पुरुषार्थ चालू ही है; ज्ञानमें धैर्य है. चारित्रमें अल्प राग होता है उसे भी जानते हैं; किन्तु उन्हें आकुलता नही है, उतावल नही है, हट नही है; वह तो क्रमबद्ध अपने ज्ञाताभावरूप उत्पन्न होता हुआ उसमें तद्रूप है।

(५६) अजीव भी अपनी क्रमबद्धपर्यायरूपसे स्वयं उत्पन्न होता है

जिसप्रकार जीव अपनी क्रमबद्धपर्यायरूपसे उत्पन्न होता है, उसीप्रकार अजीव भी अपनी क्रमवद्धपर्यायरूपसे उत्पन्न होता है, जीव उसका कर्ता नही है। यह शरीर हिले-डुले, भाषा बोली जाये, वह सब अजीवकी क्रमवद्धपर्यायें हैं। उसमें जिस समय जो पर्याय होती है वह उसके अपनेसे ही होती है, उस पर्यायरूपसे वह अजीव स्वयं ही उत्पन्न होता है, जीव उसका कारण नही है, और न वह जीवका कार्य है। इस प्रकार अकार्यकारणपना जीवमें भी है, और अजीवमें भी है, इसलिये उन्हे परस्पर कोई भी कारणकार्यपना नहीं

है;—ऐसा वस्तुस्वरूप बतलाकर यहाँ आत्माका ज्ञायकस्वभाव बतलाना है ।

(५७) सर्व द्रव्योंमें "अकार्यकारणशक्ति ।"

सर्व द्रव्योंको अन्य द्रव्यके साथ उत्पादक—उत्पाद्यभावका अभाव है, अर्थात् सर्व द्रव्योको परके साथ अकार्यकारणपना है । इसप्रकार "अकार्यकारणशक्ति" सभी द्रव्योमें है । अज्ञानी कहते है कि "अकार्यकारणशक्ति तो सिद्धमें ही है और संसारी जीवोंको तो परके साथ कार्य-कारणपना है"—यह बात झूठ है ।

(५८) पुद्गलमें क्रमबद्धपर्याय होने पर भी......

पुद्गलमें कर्म आदिकी अवस्था भी क्रमबद्ध है; पुद्गलमें वह अवस्था होना नही थी और जीवने विकार करके वह अवस्था उत्पन्न की ऐसा नही है । पुद्गलकर्ममें उपशम—उदीरणा—संक्रमण-क्षय इत्यादि जो अवस्थाये होती हैं उन अवस्थाओरूपसे पुद्गल स्वयं क्रमबद्धपर्यायसे उत्पन्न होता है । ऐसा होने पर भी ऐसा नियम है कि ज्ञायकस्वभावकी दृष्टिसे ज्ञाता होकर जीव जहाँ अकर्तारूपसे परिणमित हुआ, वहाँ जगतमे ऐसी क्रमबद्धपर्यायकी योग्यतावाले कोई परमाणु ही नही है कि जो उसे मिथ्यात्वप्रकृतिरूपसे बँधे । मिथ्यात्वप्रकृतिके साथका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध ही उसे ज्ञायक-दृष्टिमेंसे छूट गया है ।—यह बात आचार्यदेव अगली गाथाओमें बड़ी अच्छी तरह समझायेगे ।

(५९) क्रमबद्धपर्यायको न समझनेवालेकी कुछ भ्रमणायें

अजीवमें ज्ञान नही है, इसलिये उसकी अवस्था तो जैसी होना होती है वैसी क्रमबद्ध होती रहती हैं; किन्तु जीवकी अवस्था क्रमबद्ध नही होती, वह तो अक्रमरूप भी होती है—ऐसा कोई माने तो वह बात असत्य है ।

अजीवमें ज्ञान नही है, इसलिये जीव उसकी अवस्था जैसी करना चाहे वैसी कर सकता है, इसलिये उसकी अवस्था क्रमबद्ध नहीं

है किन्तु अक्रम है; पानी भरा हो उसमें जैसा रंग डालोगे वैसे रंगका हो जायेगा—ऐसा कोई माने तो उसकी बात भी झूठ है।

क्रमबद्धपर्याय है इसलिये हमें कुछ भी पुरुषार्थ नहीं करना चाहिये—ऐसा कोई माने तो वह भी अज्ञानी है; क्योंकि क्रमबद्धपर्याय-के निर्णयमें ज्ञातामात्रपनेका पुरुषार्थ आ जाता है उसे वह नही समझा है।

मैं ज्ञायक हूँ-ऐसे स्वभावका पुरुषार्थ करनेसे सर्व द्रव्योंकी क्रमबद्धपर्यायका भी निर्णय होता है, वह यथार्थ है। इस ओर आत्मा-का ज्ञायकस्वभाव न माने तथा दूसरी ओर पदार्थोंमें क्रमबद्धपरिणाम न माने और फेरफार करना माने तो वह जीव न तो वस्तुस्वरूपको जानता है, और न पंचपरमेष्ठी भगवन्तोंको ही वास्तवमें मानता है।

(६०) जीवके कारण विना ही अजीवकी क्रमबद्धपर्याय

शरीरकी अवस्था भी अजीवसे होती है। मैं उसकी अवस्था-को बदलूँ अथवा तो अनुकूल आहार-विहारका बराबर ध्यान रखकर शरीरको अच्छा कर दूँ—ऐसा जो मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। आहारके एक रजकणको भी बदलना वह जीवकी क्रिया नहीं है। "दाने-दाने पर खानेवालेका नाम"—ऐसी एक पुरानी कहावत है, वह क्या बतलाती है?—कि जिसके पेटमें जो दाना आना है वही आयेगा; जीव उसका ध्यान रखकर शरीरकी रक्षा कर दे—ऐसा नही है। जीवके कारण विना ही अजीव अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है। आत्माका स्वभाव अपने ज्ञायकभावरूपसे उत्पन्न होनेका है।

"अरे! इस शरीरका कोई अंग जिस तरह ऊँचा-नीचा करना हो वैसा हम कर सकते हैं; तो क्या हममें इतनी शक्ति नही है कि परमाणूको बदल सके?"—ऐसी दलील अज्ञानी करते है।

ज्ञानी कहते हैं कि अरे भाई! क्या परमाणुओंमें ऐसी शक्ति नहीं है कि ये अपने क्रमबद्धपरिणामों से ऊँचे-नीचे हों? क्या

अजीव द्रव्योंमें शक्ति ही नहीं है? भाई! अजीवमें भी ऐसी शक्ति है कि तेरे कारणपनेके बिना ही वह स्वयं अपनी हलन-चलनादि अवस्थारूप उत्पन्न होता है, अपनी अवस्थामें वह तद्रूप है; उसमें कुछ भी फेरफार करनेकी शक्ति जीवमें नही है।—जीवमें उसे जाननेकी शक्ति है। इसलिये तू अपने ज्ञायकस्वभावका निर्णय कर और अजीवके कर्तृत्वकी बुद्धि छोड़।

★

* तीसरा प्रवचन *

[आश्विन कृष्णा १४, वीर स० २४८०]

जिसे समझने से आत्माका हित हो ऐसा उपदेश वह इष्टोपदेश है। यहाँ "योग्यता" कहकर समय-समयकी पर्यायकी स्वतन्त्रता बतलाई जाती है वही उपदेश इष्ट है; इसके सिवा परके कारण कुछ होना बतलाये अर्थात् पराधीनता बतलाये वह उपदेश इष्ट नही है—हितकारी नही है—प्रिय नही है। समय-समयकी क्रमबद्धपर्याय बतलाकर आत्माको अपने ज्ञायकस्वभावकी ओर ले जाये वह उपदेश इष्ट है।

(६१) अधिकारकी स्पष्टता

यह सर्वविशुद्धज्ञान-अधिकार है; "सर्वविशुद्धज्ञान" यानी अकेला ज्ञायकभाव। ज्ञायकस्वरूप जीव कर्मका कर्त्ता नही है—यह बात यहाँ सिद्ध करना है। क्रमबद्धपर्यायके वर्णनमें आत्माका ज्ञायक-स्वभाव सिद्ध करके उसे अकर्ता बतलाया है। आत्मा निमित्तरूपसे भी जड़कर्मका कर्ता नही है—ऐसा उसका स्वभाव है।

(६२) क्रमबद्धपर्यायमें शुद्धताका क्रम कब चालू होता है?

प्रथम तो जीवकी बात की है कि—जीव अपने अनन्त गुणोके

परिणामोंसे क्रमबद्ध नियमितरूपसे उत्पन्न होता है, और उन परिणामोमें अनन्यरूपसे वह जीव ही है, अजीव नही है। इसमें द्रव्य, गुण और पर्याय तीनो आ गये। अपने अनादि-अनन्त परिणामो-में क्रमबद्धरूपसे उत्पन्न होता हुआ ज्ञायकस्वभावी जीव किसी परके कार्यमें कारण नही है और कोई पर उसके कार्यमें कारण नहीं है; किसीके कारण किसीकी अवस्थाके क्रममें फेरफार हो—ऐसा कभी नही होता। "मै ज्ञायक हूं"—ऐसी स्वभावसन्मुख दृष्टि होनेसे धर्मी-को क्रमबद्धपर्याय निर्मलरूपसे परिणमित होने लगती है, किन्तु पर्याय-को आगे-पीछे करने पर उसकी दृष्टि नही है। इस प्रकार ज्ञायक-स्वभावकी दृष्टिका पुरुषार्थ होनेसे क्रमबद्धपर्यायमें शुद्धताका क्रम चालू हो जाता है।

(६३) अकर्तृत्व सिद्ध करनेके लिये क्रमबद्धपर्यायकी बात क्यों ली?

किसीको ऐसा प्रश्न उठे कि यहाँ तो आत्माको अकर्ता सिद्ध करना है, उसमें यह क्रमबद्धपर्यायकी बात क्यो की?—तो उसका कारण यह है कि जीव और अजीव समस्त द्रव्य स्वय अपनी-अपनी क्रमबद्धपर्यायसे उत्पन्न होते है—यह बात जमे बिना, "मैं परको बदल दूँ"—ऐसी कर्ताबुद्धि नही छूटती और अकर्तृत्व नही होता। मैं ज्ञायकस्वभाव हूं और प्रत्येक वस्तुकी अवस्था क्रमबद्ध होती रहती है उसका मै ज्ञाता हूँ किन्तु कर्ता नही हू—ऐसा निश्चय होनेसे कर्ताबुद्धि छूट जाती है और अकर्तृत्व अर्थात् साक्षीपना—ज्ञायकपना हो जाता है। स्वभावसे तो सब आत्मा अकर्ता ही है, किन्तु यह तो पर्यायमें अकर्तापना हो जानेकी बात है।

(६४) क्रमबद्ध है, तो फिर उपदेश क्यों?

पर्याय तो क्रमबद्ध ही होती है, तो फिर शास्त्रमें इतना अधिक उपदेश क्यो दिया है?-ऐसा कोई पूछे, तो कहते है कि भाई! उस सब उपदेशका तात्पर्य तो ज्ञायकस्वभावका निर्णय करना है।

उपदेशकी वाणी तो वाणीके कारण क्रमबद्ध निकलती है। इस समय ऐसी ही भाषा निकालकर मै दूसरों को समझा दूँ—ऐसी कर्ताबुद्धि ज्ञानीके नहीं है।

(६५) वस्तुस्वरूपका एक ही नियम

सर्व द्रव्य अपने-अपने परिणामके कर्ता हैं, किसी अन्यका हस्तक्षेप उसमें नही है। "ऐसा निमित्त आये तो ऐसा हो सकता है और दूसरा निमित्त आये तो वैसा हो जायेगा"—ऐसा वस्तुस्वरूपमें नहीं है। वस्तुस्वरूपका एक ही नियम है कि प्रत्येक द्रव्य क्रमबद्ध-पर्यायरूपसे उत्पन्न होता हुआ स्वयं ही अपनी पर्यायका कर्ता है, और दूसरेसे वह निरपेक्ष है। वस्तु स्वयं अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप-से उत्पन्न होती है।—ऐसा न मानकर, दूसरा उसमें फेरफार कर सकता है—ऐसा जो मानता है उसे परमें फेरफार करनेकी बुद्धि रहती है, इसलिये परकी ओरसे हटकर वह अपने ज्ञायकस्वभाव-की ओर उन्मुख नही होता, इसलिये उसे ज्ञातापना नही होता—अकर्तापना नही होता और कर्तृत्वबुद्धि नही छूटती। यहाँ "प्रत्येक द्रव्य अपनी क्रमबद्धपर्यायरूपसे उत्पन्न होता है, दूसरा कोई उसका कर्ता नही है"—इस नियमके द्वारा आत्माका अकर्तृत्व समझाकर कर्ताबुद्धि छुड़ाते हैं।

(६६) ज्ञायकस्वभावकी दृष्टि प्रगट किये बिना, क्रमबद्धपर्यायकी ओट लेकर बचाव करना चाहे वह महान स्वच्छन्दी है

इस क्रमबद्धपर्यायकी ओट लेकर कोई स्वच्छन्दसे ऐसा बचाव करे कि "हमें क्रोध होना था वह क्रमबद्ध हो गया, उसमें हम क्या करे?" तो उससे कहते है कि अरे मूढ़ जीव! अभी तुझे आत्मा-के ज्ञायकपनेकी प्रतीति नही हुई तो तू क्रमबद्धपर्यायकी बात कहाँ से लाया! ज्ञायकस्वभावके निर्णयसे ही क्रमबद्धपर्यायका यथार्थ निर्णय होता है। तेरी दृष्टि ज्ञायक पर है या क्रोध पर? यदि ज्ञायक-

पर दृष्टि हो तो फिर ज्ञायकमें क्रोध होना कहाँसे आया? अपने ज्ञायकभावका निर्णय करके पहले तू ज्ञाता हो, फिर तुझे क्रमबद्ध-पर्यायकी खबर पड़ेगी। ज्ञायकस्वभावकी ओर उन्मुख होकर ज्ञायक-को ज्ञानका ज्ञेय बनाना--उसीकी इसमें मुख्यता है, रागको ज्ञेय करनेकी मुख्यता नहीं है। ज्ञायकस्वभावका निर्णय किया वहाँ ज्ञानकी ही अधिकता रहती है—क्रोधादिकी अधिकता कभी भी नहीं होती, इसलिये ज्ञाताको अनन्तानुवन्धी क्रोधादि होते ही नही; और उसीको क्रमवद्धपर्यायकी प्रतीति हुई है।

क्रोधके समय जिसे ज्ञानस्वरूपका तो भास नही होता उसे क्रोध-की ही रुचि है, और क्रमबद्धपर्यायकी ओट लेकर वचाव करना चाहता है वह तो महान स्वच्छंदी है। क्रमबद्धपर्यायमें ज्ञायकभाव-का परिणमन भासित न होकर, क्रोधादि कषायका परिणमन भासित होता है यही उसकी विपरीतता है। भाई रे! यह मार्ग तो छुट-कारेका है या वंधनका? इसमें तो ज्ञानस्वभावका निर्णय करके छुटकारेकी वात है; इस वातका यथार्थ निर्णय होनेसे ज्ञान पृथक्‌का पृथक् रहता है। जो छुटकारेका मार्ग है उसके वहाने स्वच्छंदका पोषण करता है उस जीवको छुटकारेका अवसर कव आयेगा!!

(६७) अजर प्याला!

यह तो अजर-अमर प्याला है; इस प्यालेको पचाना दुर्लभ है। पात्र होकर जिसने यह प्याला पिया और पचाया वह अजर-अमर हो जाता है अर्थात् जन्म-मरण रहित ऐसे सिद्धपदको प्राप्त होता है।

(६८) क्रमबद्धपर्यायमें भूमिकानुसार प्रायश्चितादिका भाव होता है

"लगे हुए दोषोंका प्रायश्चित करनेका वर्णन तो शास्त्रमें वहुत आता है; दोष हुआ वह पर्याय भी क्रमवद्ध है, तब फिर

उसका प्रायश्चित्तादि किसलिये ?"—ऐसी किसीको शंका हो तो उसका समाधान यह है कि—साधकको उस-उस भूमिकामे प्रायश्चित्तादिका वैसा विकल्प होता है उसका वहा ज्ञान कराया है। साधकदशाके समय क्रमबद्धपर्यायमे उस प्रकारके भाव आते है वह बतलाया है। "हमें क्रमबद्धपर्यायमें दोष होना था वह हो गया, उसका प्रायश्चित्त क्या करे ?"—ऐसा कोई कहे तो वह मिथ्यादृष्टि स्वच्छदी है; साधकको ऐसा स्वच्छद नही होता। साधकदशा तो परम विवेकवाली है; उसे अभी वीतरागता नही हुई है और स्वच्छद भी नही रहा है, इसलिये दोषोंके प्रायश्चित्तादिका शुभविकल्प आये—ऐसी ही वह भूमिका है।

क्रमबद्धपर्यायकी श्रद्धा होनेपर भी सम्यक्त्वीको चौथे गुणस्थानमे ऐसा भाव आता है कि मै चारित्रदशा लूँ; मुनिको ऐसा भाव आता है कि लगे हुए दोषोंकी गुरुके निकट जाकर सरलतापूर्वक आलोचना करूँ और प्रायश्चित लूँ—"कर्म तो जब खिरना होगे तब खिरेंगे, इसलिये अपनेको तप करनेकी क्या आवश्यकता है ?"—ऐसा विकल्प मुनिको नही आता; किन्तु ऐसा भाव आता है कि मै तप द्वारा निर्जरा करूँ—शुद्धता बढाऊँ।—ऐसा ही उस-उस भूमिकाके क्रमका स्वरूप है। "चारित्रदशा तो क्रमबद्धपर्यायमे जब आना होगी तब आ जायेगी" ऐसा कहकर सम्यक्त्वी कभी स्वच्छदी या प्रमादी नही होता, द्रव्यदृष्टिके बलमें उसका पुरुषार्थ चलता ही रहता है। वास्तवमे द्रव्यदृष्टिवालेको ही क्रमबद्धपर्याय यथार्थरूपसे समझमे आती है। क्रम बदलता नही है, तथापि पुरुषार्थकी धारा नही टूटती—यह बात ज्ञायकस्वभावकी दृष्टि बिना नही हो सकती। शास्त्रोमे प्रायश्चित आदिका वर्णन करके मध्यम भूमिकामे कैसे—कैसे भाव होते है—उसका ज्ञान कराया है। वास्तवमे तो ज्ञाताको ज्ञानकी अधिकतामे उन प्रायश्चित्तादिका विकल्प भी ज्ञेयरूप ही है।

(६९) क्रम-अक्रम सम्बन्धमें अनेकान्त और सप्तभंगी

कोई ऐसा कहता है कि—"सभी पर्याये क्रमवद्ध ही है-ऐसा कहनेमें तो एकान्त हो जाता है; इसलिये कुछ पर्यायें क्रमवद्ध है और कुछ अक्रमबद्ध है—ऐसा अनेकान्त कहना चाहिये;"—तो ऐसा कहनेवालेको एकान्त-अनेकान्तकी खबर नही है। सभी पर्यायें क्रमवद्ध ही "है" और अक्रमरूप "नही है"—ऐसा अनेकान्त है। अथवा क्रम-अक्रमका अनेकान्त लेना हो तो इसप्रकार है कि सर्व गुण द्रव्यमें एक साथ सहभावीरूप से वर्तते है, इसलिये उस अपेक्षासे द्रव्य अक्रमरूप ही है और पर्याय-अपेक्षासे क्रमरूप ही है,—इसप्रकार ही कथचित् क्रमरूप और कथचित् अक्रमरूप—ऐसा अनेकान्त है, किन्तु कुछ पर्याये क्रमरूप और कुछ पर्याये अक्रमरूप—ऐसा मानना तो अनेकान्त नही किन्तु वस्तुस्वरूपसे विपरीत होनेसे मिथ्यात्व है।

पर्याय-अपेक्षासे तो क्रमबद्धपना ही है—यह नियम है; तथापि इसमें अनेकान्त और सप्तभगी आ जाती है। गुणोंकी अपेक्षासे अक्रमपना और पर्यायोंकी अपेक्षासे क्रमपना—ऐसा अनेकान्तस्वरूप है, वह ऊपर कहा जा चुका है। तथा वस्तुमें (१) स्यात् क्रमपना, (२) स्यात् अक्रमपना, (३) स्यात् क्रम-अक्रमपना, (४) स्यात् अवक्तव्यपना, (५) स्यात् क्रम-अवक्तव्यपना, (६) स्यात् अक्रम-अवक्तव्यपना, और (७) स्यात् क्रम-अक्रम-अवक्तव्यपना;—इसप्रकार क्रम-अक्रम सम्बन्धमें सप्तभगी भी उतरती है; किस प्रकार ? वह कहा जाता है:—

(१) पर्याये एकके बाद एक क्रमबद्ध होती हैं, इसलिये पर्यायोंकी अपेक्षासे कहनेपर वस्तु क्रमरूप है।

(२) सर्व गुण एकसाथ सहभावी है; इसलिये गुणोंकी अपेक्षासे कहनेपर वस्तु अक्रमरूप है।

(३) पर्यायें तथा गुण—इन दोनोंकी अपेक्षासे (एकसाथ) लेकर कहनेपर वस्तु क्रम-अक्रमरूप है।

(४) एकसाथ दोनों नही कहे जा सकते उस अपेक्षासे वस्तु अवक्तव्य है ।

(५) वस्तुमे क्रमपना और अक्रमपना दोनों एकसाथ होनेपर भी क्रमरूप कहते समय अक्रमपनेका कथन बाकी रह जाता है, उस अपेक्षासे वस्तु क्रम-अवक्तव्यरूप है ।

(६) इसी प्रकार अक्रमरूप कहनेसे क्रमपनेका कथन बाकी रह जाता है, उस अपेक्षासे वस्तु अक्रम-अवक्तव्यरूप है ।

(७) क्रमपना और अक्रमपना दोनों अनुक्रमसे कहे जा सकते हैं किन्तु एकसाथ नही कहे जा सकते, उस अपेक्षासे वस्तु क्रम–अक्रम-अवक्तव्यरूप है ।

—इसप्रकार क्रम-अक्रम सम्बन्धमे सप्तभगी समझना चाहिये।

(७०) अनेकान्त कहाँ और किसप्रकार लागू होता है ? (सिद्धका दृष्टान्त)

यथार्थ वस्तुस्थिति क्या है वह समझे बिना कई लोग अनेकांतके या स्याद्‌वादके नामसे गप्पे हाँकते है। जिस प्रकार अस्ति-नास्तिमें वस्तु स्व-रूपसे अस्तिरूप है और पर-रूपसे नास्तिरूप है;—ऐसा अनेकान्त है; किन्तु वस्तु स्व-रूपसे भी अस्तिरूप है और पर-रूपसे भी अस्तिरूप है—ऐसा अनेकान्त नही है, वह तो एकान्तरूप मिथ्यात्व है। उसी प्रकार यहाँ क्रम–अक्रममे भी समझना चाहिये । पर्यायें क्रमबद्ध है और गुण अक्रम है—ऐसा अनेकान्त है; किन्तु पर्यायें क्रमबद्ध है और पर्यायें अक्रम भी है—ऐसा मानना वह कही अनेकान्त नही है; वह तो मिथ्यादृष्टिका एकान्त है । पर्यायें तो क्रमबद्ध ही है—अक्रम नही है ऐसा अनेकान्त है। पर्यायमे अक्रमपना तो है ही नही, इसलिये उसमे "कथंचित् क्रम और कथचित् अक्रम" —ऐसा अनेकान्त लागू नही होता। वस्तुमे जो धर्म हो उनमे सप्त-भंगी लागू होती है, किन्तु वस्तुमे जो धर्म ही न हो, उनमे सप्तभगी लागू नही होती ।

"सिद्धभगवन्त एकान्त सुखी ही है"—ऐसा कहनेपर कोई अज्ञानी पूछे कि—सिद्ध भगवानको एकान्त सुख ही क्यों कहते हो ? कथञ्चित् सुख और कथञ्चित् दु.ख–ऐसा अनेकान्त कहो न ? उसका समाधान.—भाई ! सिद्धभगवानको जो सुख प्रगट हुआ है वह एकान्त सुख ही है, उसमे दु.ख किंचित्मात्र है ही नही, इसलिये उसमे तेरा कहा हुआ सुख–दु.खका अनेकान्त लागू नही होता। सिद्धभगवानको शक्तिमे या व्यक्तिमे किसी प्रकार दुःख नही है इसलिये वहाँ सुख–दुःखका ऐसा अनेकान्त या सप्तभगी लागू नही होती; किन्तु सिद्धभगवानको एकान्त सुख ही है और दुःख किंचित् नही है—ऐसा अनेकान्त लागू होता है। (देखो, पचाध्यायी, गाथा ३३३–३४–३५) उसीप्रकार यहाँ पर्यायमे क्रमबद्धता है और अक्रमता नही है—ऐसा अनेकान्त लागू होता है, किन्तु पर्यायमें क्रमता भी है और अक्रमता भी है। पर्यायसे ही क्रमरूप और पर्यायसे ही अक्रम-रूप—ऐसा क्रम–अक्रमरूप जीवका स्वरूप नही है, किन्तु पर्यायसे क्रमवर्तीपना और गुणसे अक्रमवर्तीपना—ऐसा क्रम–अक्रमरूप जीवका स्वरूप है।

(७१) ट्रेनके दृष्टान्तसे शंका और उसका समाधान

शका—एक आदमी ट्रेनके डिब्बेमें बैठा है और ट्रेन पूर्व-दिशाकी ओर जा रही है; वहा ट्रेनके चलनेसे उस आदमीका भी पूर्वकी ओर जो गमन हो रहा है वह तो क्रमबद्ध है, किन्तु वह आदमी डिब्बेमे खड़ा होकर पश्चिमकी ओर चलने लगे तो उस गमनकी अवस्था अक्रमरूप हुई न ?

समाधान.—अरे भाई ! तुझे अभी क्रमबद्धपर्यायकी खबर नही है। पर्यायका क्रमबद्धपना कहा जाता है वह तो ऊर्ध्वप्रवाहकी अपेक्षामे (—कालप्रवाहकी अपेक्षासे) है क्षेत्रकी अपेक्षासे नही है। वह आदमी पहले पूर्वमे चले और फिर पश्चिममे चलने लगे तो उससे कही उसकी पर्यायके कालका क्रम टूट नही गया है।

ट्रेन पूर्वमें जा रही हो और डिब्बेमें बैठा हुआ आदमी पश्चिमकी ओर चलने लगे, तो उससे कही उसकी वह पर्याय अक्रमरूप नही हुई है। अरे ! ट्रेन पूर्वमे जा रही हो और सारी ट्रेन पीछे पश्चिम की ओर चलने लगे तो वह भी क्रमबद्ध ही है । पर्यायोका क्रमबद्ध-पना द्रव्यके ऊर्ध्वप्रवाहक्रमकी अपेक्षासे है। यह क्रमबद्धपर्यायकी बात अनेक जीवोने तो अभी तक सुनी ही नही है। क्रमबद्धपना क्या है और किस प्रकार है, तथा उसका निर्णय करनेवालेका ध्येय कहाँ जाता है—वह वात लक्षमे लेकर समझे ही नही तो उसकी प्रतीति कहाँ से हो ? वस्तुमे अनत गुण है, वे सब एकसाथ—बिछे हुए—तिर्यक्प्रचयरूप है इसलिये वे अक्रमरूप है, और पर्याये एकके बाद एक—व्यतिरेकरूप—ऊर्ध्वप्रचयरूप है इसलिये वे क्रमरूप है।

(७२) क्रमबद्धपर्यायका ज्ञाता कौन है ?

देखो, क्रमवद्धपर्याय तो जीव और अजीव सभी द्रव्योमें है; किन्तु यह वात कही अजीवको नही समझाते; यह तो जीवको समझाते है, क्योकि जीव ही ज्ञाता है। ज्ञाताको अपने ज्ञायकस्वभाव-का भान होने पर वह क्रमबद्धपर्यायका भी ज्ञाता हो जाता है ।

(७३) भाषाका उत्पादक जीव नहीं है

पाँचो अजीव द्रव्य भी अपने-अपने गुणोसे अपने क्रमबद्ध नियमित परिणामरूपसे उत्पन्न होते हुए अजीव ही है—जीव नही है। अजीव द्रव्य—उनमे प्रत्येक परमाणु भी—अन्य कारकोकी अपेक्षा न रखकर स्वय अपने छह कारकरूप होकर अपनी क्रमवद्धपर्यायरूप से स्वयं उत्पन्न होते है; वे भी किसी अन्यके कर्ता नही है, और दूसरे का कार्य बनकर उसे अपना कर्ता बनाये ऐसा भी नही है । भाषा वोली जाती है वह अजीवकी क्रमबद्धपर्याय है और उस पर्यायरूपसे अजीवद्रव्य उत्पन्न होता है, जीव उसे उत्पन्न नही करता।

प्रश्न —केवलीभगवानकी वाणी तो इच्छाके बिना ही सहज-रूपसे निकलती है इसलिये वह **क्रमबद्धपर्याय है और उसे जीव**

उत्पन्न नही करता—ऐसा भले ही कहो, किन्तु छद्मस्थकी वाणी तो इच्छापूर्वक है इसलिये छद्मस्थ तो अपनी इच्छानुसार भाषाको परिणमित करता है न?

उत्तर:—भाई! ऐसा नही है। केवलीभगवानके या छद्मस्थके जो वाणी निकलती है वह तो अजीवके अपने वैसे क्रमबद्धपरिणामोंसे ही निकलती है, जीवके कारण नही। छद्मस्थको उस काल इच्छा होती है, किन्तु उस इच्छाने वाणीको उत्पन्न नही किया है। और इच्छा है वह भी ज्ञाताका ज्ञेय है, ज्ञानकी अधिकतामे धर्मी जीव उस इच्छाका भी ज्ञायक ही है।

(७४) ज्ञायकको ही जाननेकी मुख्यता

वास्तवमे तो, इच्छाको जानना भी व्यवहार है। ज्ञानको अन्तरोन्मुख करके ज्ञायकको जानना वह परमार्थ है। क्रमबद्धपर्यायके निर्णयमे रागको जानने की मुख्यता नही है किन्तु ज्ञायकको जाननेकी मुख्यता है। ज्ञानमें ज्ञायककी मुख्यता हुई तब रागको उसका व्यवहार-ज्ञेय कहा; ज्ञाता जागृत हुआ तब रागको रागरूपसे जाना और तभी रागको व्यवहार कहा गया। इस प्रकार निश्चयपूर्वक ही व्यवहार होता है, क्योकि ज्ञान और राग दोनो एकसाथ उत्पन्न होते है; धर्म शुरू होनेमे पहले रागरूप व्यवहार और फिर निश्चय—ऐसा नही है। यदि रागको अर्थात् व्यवहारको पहले कहो तो ज्ञानके बिना (निश्चयके विना) उस व्यवहारको जाना किसने? व्यवहार स्वयं तो अन्धा है, उसे कही स्व-परकी खवर नही है राग और भेदरूप व्यवहारका पक्ष छोडकर निश्चयका अवलम्बन करके स्व-परप्रकाशक ज्ञाता जागृत हुआ वहा, ज्ञायकको जानते हुए रागको भी व्यवहार-ज्ञेयरूपसे जानता है। क्रमवद्धपर्यायके निर्णयमे निश्चय—व्यवहार दोनो एकसाथ है; पहले व्यवहार और फिर निश्चय-ऐसा माने, अर्थात् रागके अवलम्बनसे ज्ञान होना माने, तो वह वास्तवमे क्रमवद्धपर्यायको समझा ही नहीं है।

(७५) "इष्टोपदेश" की बात :—कौन-सा उपदेश इष्ट है ?

द्रव्य अपनी क्रमबद्धपर्यायरूपसे उत्पन्न होता है—ऐसा कहनेसे उसमें समय-समयकी क्षणिक योग्यताकी बात भी आ गई।

कोई कहे कि—"योग्यताकी बात तो 'इष्टोपदेश' मे आई है इसमे कहाँ आई ?" उसका उत्तर:—यह भी इष्ट-उपदेशकी ही बात है। इष्ट उपदेश अर्थात् हितकारी उपदेश। जिसे समझनेसे आत्माका हित हो—ऐसा उपदेश वह इष्टोपदेश है। यह "योग्यता" कहकर समय-समयकी पर्यायकी स्वतत्रता बतलाई जा रही है वही उपदेश इष्ट है; इसके सिवा परके कारण कुछ-होना बतलाये अर्थात् पराधीनता बतलाये वह उपदेश इष्ट नही है—हितकारी नही है—प्रिय नही है। समय-समयकी क्रमबद्धपर्याय बतलाकर आत्माको अपने ज्ञायकस्वभावकी ओर ले जाये वह उपदेश इष्ट है; किन्तु पर्यायमे फेरफार आगा-पीछा होना बतलाकर जो कर्ताबुद्धिका पोषण करे वह उपदेश इष्ट नही है अर्थात् सच्चा नही है, हितकारी नही है। "जो आत्माको हितमार्गमे प्रवर्तन कराये वह गुरु है; वास्तवमें आत्मा स्वयं ही अपनी योग्यतासे अपने आत्माको हितमार्गमे प्रवर्तित करता है इसलिये वह स्वयं ही अपना गुरु है। निमित्तरूपसे अन्य ज्ञानी गुरु होते है, किन्तु उस निमित्तके कारण इस आत्मामें कुछ हो जाय—ऐसा नही हो सकता।" देखो, यह इष्ट उपदेश ! इस प्रकार उपदेश हो तभी वह इष्ट है—हितकारी है—सत्य है, इससे विरुद्ध उपदेश हो तो वह इष्ट नही है—हितकारी नही है—सत्य नही है।

(७६) आत्माका ज्ञायकत्व और पदार्थोंके परिणमनमें क्रमबद्धता

आत्मा ज्ञायक है, ज्ञातापना उसका स्वरूप है। जिसप्रकार केवली भगवान जगतके सर्व द्रव्य-गुण-पर्यायके ज्ञाता है, उसी प्रकार इस आत्माका स्वभाव भी ज्ञाता है। ज्ञानने जाना इसलिये पदार्थोमें वैसी क्रमबद्धपर्याय होती है—ऐसा नही है; और पदार्थ वैसे है इस-

लिये उनका ज्ञान हुआ—ऐसा भी नहीं है। आत्माका ज्ञायकस्वभाव और पदार्थोंका क्रमबद्धपरिणमनस्वभाव है। "ऐसा क्यों ?"—ऐसा विकल्प ज्ञानमे नही है और पदार्थोंके स्वभावमे भी ऐसा नही है। "ऐसा क्यो ?"—ऐसा विकल्प करके जो पदार्थको बदलना चाहता है उसने ज्ञानके स्वभावको नही जाना है। ज्ञानस्वभावका निर्णय करनेसे साधक जीव ज्ञाता हो जाता है; "ऐसा क्यो ?"—ऐसा मिथ्याबुद्धिका विकल्प उसे नही होता।

(७७) ऐसी है साधकदशा !—एक साथ दस बोल

ज्ञानको अन्तरोन्मुख करके जिसने ज्ञानस्वभावका निर्णय किया वह—

—क्रमबद्धपर्यायका ज्ञाता हुआ, (१)
—उसके ज्ञानमे सर्वज्ञकी सिद्धि आई, (२)
—उसे भेदज्ञान और सम्यग्दर्शन हुआ, (३)
—उसे मोक्षमार्गका पुरुषार्थ प्रारम्भ हुआ, (४)
—उसे अकर्तृत्व हुआ, (५)
—उसने सर्व जैनशासनको जान लिया, (६)
—उसने देव-गुरु-शास्त्रको यथार्थरूपसे पहिचान लिया, (७)
—उसके निश्चय-व्यवहार दोनो एकसाथ आये, (८)
—उसकी पर्यायमे पाँचो समवाय आ गये, (९)
—"योग्यता ही वास्तविक कारण है" उसका उसे निर्णय हुआ इसलिये इष्ट-उपदेश भी उसमे आ गया। (१०)

(७८) यह लोकोत्तर दृष्टिकी बात है, जो इससे विपरीत माने वह लौकिक-जन है।

अहो, यह अलौकिक लोकोत्तर बात है। एक ओर ज्ञायक-स्वभाव और सामने क्रमबद्धपर्याय—उसका निर्णय करना वह लोकोत्तर है। मैं ज्ञायक हूँ और पदार्थोंकी पर्याय क्रमबद्ध है—ऐसा न मानकर जो कुछ भी फेरफार करना मानता है वह लौकिकजन है;

लोकोत्तर जैनदृष्टि उसे नहीं रहती। अपने ज्ञायकस्वभाव सन्मुख दृष्टि रखकर आत्मा क्रमबद्ध ज्ञायकभावरूप ही उत्पन्न होता है और पदार्थों की क्रमबद्ध होनेवाली पर्यायोंको जानता है—ऐसा जो लोकोत्तर-स्वभाव है, उसे जो नही मानता वह भले ही जैन संप्रदायमें रहता हो, तथापि भगवान उसे अन्यमती—लौकिकमती—अर्थात् मिथ्यादृष्टि कहते हैं। "लौकिकमती" कहनेसे कई लोगोंको यह बात कठिन मालूम होती है। किन्तु भाई! समयसारमें आचार्यभगवान स्वयं कहते है कि—"ये त्वात्मानं कर्त्तारमेव पश्यंति ते लोकोत्तरिका अपि न लौकिकतामतिवर्तंते; लौकिकानां परमात्मा विष्णु: सुरनारकादि-कार्याणि करोति, तेपा तु स्वात्मा तानि-करोतीत्यपसिद्धांतस्य समत्वात्। ततस्तेषामात्मनो नित्यकर्तृत्वाभ्युपगमात् लौकिकानामिव लोकोत्तररिकाणामपि नास्ति मोक्ष:।" (गाथा ३२२-२३ टीका)

—जो आत्माको कर्ता ही देखते है—मानते है, वे लोकोत्तर हों तो भी लौकिकताका अतिक्रमण नही करते; क्योकि लौकिकजनोके मतमें परमात्मा विष्णु देव-नारकादि कार्य करते है, और उनके (-लोकसे बाह्य हो जानेवाले मुनियोंके) मतमे अपना आत्मा वे कार्य करता है—ऐसे अपसिद्धातकी (मिथ्यासिद्धान्तकी) दोनोके समानता है। इसलिये आत्माके नित्यकर्तृत्वकी उनकी मान्यताके कारण लौकिकजनोंकी भाँति, लोकोत्तर पुरुषोंका (मुनियोका) भी मोक्ष नही होता।

उसके भावार्थमें प० जयचन्दजी भी लिखते हैं कि—

"जो आत्माको कर्ता मानते हैं वे मुनि भी हो तो भी लौकिकजन सरीखे ही है; क्योकि लोग ईश्वरको कर्ता मानते है और मुनियोने भी आत्माको कर्ता मान लिया, इस तरह इन दोनोका मानना समान हुआ। इस कारण जैसे लौकिकजनोके मोक्ष नही है उसी तरह उन मुनियोके भी मोक्ष नही है।"

देखो, यह मूल सिद्धान्त है। दिगम्बर जैन सम्प्रदायका

द्रव्यलिंगी साधु होकर भी, यदि "आत्मा परका कर्ता है"—ऐसा माने, तो वह भी लौकिकजनोंकी भाँति मिथ्यादृष्टि ही है। अब, आत्मा परका कर्ता है—ऐसा कदाचित् स्पष्ट न कहे, किन्तु—

—निमित्त हो तदनुसार कार्य होता है ऐसा माने, अथवा हम निमित्त होकर परका कार्य कर दे-ऐसा माने,

—अथवा रागके—व्यवहारके—अवलम्बनसे निश्चय-श्रद्धा-ज्ञान होना माने,—शुभरागरूप व्यवहार करते करते निश्चयश्रद्धादि होना माने,

—मोक्षमार्गमे पहले व्यवहार और फिर निश्चय ऐसा माने,

—अथवा रागके कारण ज्ञान हुआ, अर्थात् राग कर्ता और ज्ञान उसका कार्य-ऐसा माने,

तो वे सब भी वास्तवमें लौकिकजन ही है, क्योंकि उनके लौकिकदृष्टि दूर नहीं हुई है। लौकिकदृष्टि अर्थात् मिथ्यादृष्टि।

"ज्ञायक" के सन्मुख दृष्टि करके क्रमबद्धपर्यायको जाननेवाले सम्यक्त्वी लोकोत्तर दृष्टिवान है, और उनसे विरुद्ध माननेवाले लौकिक दृष्टिवान है।

(७९) समझनेके लिये एकाग्रता

यदि यह बात सुनकर समझे तो आनन्द आये ऐसी है; किन्तु इसे समझनेके लिये ज्ञानको अन्यत्रसे हटाकर कुछ एकाग्र करना चाहिये। अभी तो जिसके श्रवणमें भी एकाग्रता न हो और श्रवण-के समय भी चित्त अन्यत्र भटकता हो, वह अन्तरमें एकाग्र होकर यह बात समझेगा कब?

(८०) भीतर दृष्टि करनेसे सारा निर्णय होता है

प्रश्नः—आप तो बहुतसे पक्ष (-पहलू) समझाते है, किन्तु हमारी बुद्धि अल्प है, उससे क्या-क्या समझें?

उत्तरः—अरे भाई! जो समझना चाहे उसे यह सब समझमें आ सकता है। दृष्टि बाह्यमे डाली है, उसे बदलकर अन्तरमें दृष्टि

करते ही यह सभी पक्ष समझमें आ सकते हैं। समझनेवाला स्वयं भीतर बैठा है या कही अन्यत्र गया है? अन्तरमे शक्तिरूपसे परिपूर्ण ज्ञायकस्वभाव विद्यमान है, उसमे दृष्टि करे इतनी देर है। "मेरे नैनोके आलस से....मैंने हरिको न देखा कभी...." इस प्रकार दृष्टि डालते ही निहाल कर दे ऐसा भगवान आत्मा भीतर बैठा है, किन्तु नयनोके आलस्यसे अज्ञानी उसे नही देखता। अतर्मुख दृष्टि करते ही इन सब पक्षोंका निर्णय होजाता है।

(८१) ज्ञाता स्व-परको जानता हुआ उत्पन्न होता है

ज्ञाताभावकी क्रमवद्धपर्यायरूपसे उत्पन्न होता हुआ धर्मी जीव अपने ज्ञानस्वभावको भी जानता है; स्व–पर दोनोंको जानता हुआ उत्पन्न होता है, किन्तु स्व-पर दोनोको करता हुआ उत्पन्न नही होता। कर्ता तो एक स्वका ही है, और स्वमे भी वास्तवमे ज्ञायक-भावकी क्रमवद्धपर्यायको ही करता है; रागका कर्तृत्व धर्मीकी दृष्टिमें नही है।

ज्ञान उत्पन्न होता हुआ स्वको और रागको भी जानता हुआ उत्पन्न होता है, किन्तु "रागको करता हुआ" उत्पन्न होता है— ऐसा नही है। ज्ञान उत्पन्न होता है और स्वय अपनेको जानता हुआ उत्पन्न होता है। उत्पन्न होना और जानना दोनों क्रियाये एकसाथ है, ज्ञानमे वे दोनो क्रियाये एकसाथ होनेमे कोई विरोध नही हैं। "आत्मा स्वयं अपनेको किस प्रकार जानता है–इस सम्बन्धमें प्रवचनसारकी ३६वी गाथामें आचार्यदेवने शका–समाधान किया है। एक पर्यायमेसे दूसरी पर्यायकी उत्पत्ति होनेमे विरोध है, किन्तु ज्ञानपर्याय स्वयं उत्पन्न हो और उसी समय वह स्वको जाने— ऐसी दोनो क्रियाये एकसाथ होनेमे कोई विरोध नही है, क्योकि ज्ञानका स्वभाव ही स्व-परको प्रकाशित करनेका है। ज्ञान स्वय अपनेको नही जानता—ऐसा जाननेवालेने वास्तवमें ज्ञानको ही नही माना है। यहाँ तो कहते है कि ज्ञानी स्वयं अपनेको जानता हुआ क्रमबद्ध ज्ञायक-भावरूप ही उत्पन्न होता है। यह बात बराबर समझने योग्य है।

(८२) लोकोत्तरदृष्टिकी बात समझनेके लिये ज्ञानकी एकाग्रता

कालेजके बड़े-बड़े प्रोफेसरोके भाषणकी अपेक्षा भी यह तो अलग प्रकारकी बात है; वहाँ तो समझनेके लिये ध्यान रखता है, तथापि जितना पूर्वका विकास हो तदनुसार ही समझमें आता है; और समझने पर भी उसमें आत्माका कल्याण तो होता नहीं है। और यह तो लोकोत्तर दृष्टिकी बात है, इसमें ध्यान रखकर समझने के लिये ज्ञानको एकाग्र करे तो वर्तमानमें भी नया-नया विकास होता जाये और अन्तरमें एकाग्र होकर समझे उसका तो अपूर्व कल्याण हो जाये।

(८३) सम्यक्त्वी जीव निर्मल क्रमबद्धपर्यायरूपसे ही उत्पन्न होता है

जीव अपनी क्रमबद्धपर्यायरूपसे उत्पन्न होनेसे, उसके अनंत गुण एकसाथ परिणमित होते है; ज्ञायकस्वभावकी ओर झुकाव हुआ वहाँ श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रादि सर्व गुणोके परिणमनमें निर्मलताके अंशका प्रारम्भ हो जाता है, फिर भले ही उसमें अल्प-अधिक अंश व्यक्त हो। चौथे गुणस्थानमें क्षायिक श्रद्धा हो जाये तथापि ज्ञान-चारित्र पूरे नहीं हो जाते, किन्तु उनका अंश तो प्रगट हो जाता है। इसप्रकार सम्यक्त्वीको निर्मल पर्यायरूपसे उत्पन्न होनेकी ही मुख्यता है; अस्थिरताके जो रागादिभाव होते है वे उसकी दृष्टिमें गौण हैं, अभूतार्थ है। ज्ञायकभाव पर दृष्टि रखकर सम्यक्त्वी निर्मल क्रमबद्धपर्यायरूप ही उत्पन्न होता है—रागादिरूपसे वह वास्तवमें उत्पन्न ही नही होता।

(८४) क्रमबद्धपरिणाममें छह-छह कारक

आचार्यदेव कहते है कि "जीव अपने क्रमबद्धपरिणामरूपसे उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नही है;" उसमें छहों कारक लागू होते है वह इसप्रकार हैं:—

१—जीव स्वयं अपनी पर्यायके कर्तारूपसे उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीवका कर्ता नही है।

२—जीव स्वयं अपने कर्मरूपसे उत्पन्न होता हुआ जीव ही है अजीवका कर्म नही है।

३—जीव स्वयं अपने करणरूपसे उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीवका करण नही है।

४—जीव स्वयं अपने सम्प्रदानरूपसे उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीवका सम्प्रदान नही है।

५—जीव स्वयं अपने अपादानरूपसे उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीवका अपादान नही है।

६—जीव स्वयं अपने अधिकरणरूपसे उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीवका अधिकरण नही है।

और इसीप्रकार अन्य छह कारक भी निम्नानुसार समझना चाहिये:—

१—जीव अपनी पर्यायरूपसे उत्पन्न होता हुआ अजीवको अपना कर्ता नही बनाता।

२—जीव अपनी पर्यायसे उत्पन्न होता हुआ अजीवको अपना कर्म नही बनाता।

३—जीव अपनी पर्यायरूपसे उत्पन्न होता हुआ अजीवको अपना करण नही बनाता।

४—जीव अपनी पर्यायरूपसे उत्पन्न होता हुआ अजीवको अपना सम्प्रदान नही बनाता।

५—जीव अपनी पर्यायरूपसे उत्पन्न होता हुआ अजीवको अपना अपादान नही बनाता।

६—जीव अपनी पर्यायरूपसे उत्पन्न होता हुआ अजीवको अपना अधिकरण नही बनाता।

उसी प्रकार, अजीव भी अपनी क्रमबद्धपर्यायरूपसे उत्पन्न

होता हुआ अजीव ही है, जीव नही है ।—उसमें भी उपरोक्तानुसार छह-छह कारक समझ लेना चाहिये ।

—इसप्रकार, जीव-अजीवको परस्पर अकार्यकारणपना है ।

(८५) यह बात किसे जमती है ?

देखो यह भेदज्ञान ! ऐसी स्पष्ट बात होने पर भी, इस बात को "छूतकी बीमारी, एकान्त" इत्यादि कहकर कितने ही विरोध करते है; क्योकि अपनी मानी हुई विपरीत बातका आग्रह उनके नही छूटता । अरे ! विपरीत मान्यताको सत्य मान बैठे है तो उसे कैसे छोड़े ? पं० टोडरमलजी भी मोक्षमार्गप्रकाशकमें कहते है कि— अन्यथा श्रद्धाको सत्य श्रद्धा माननेवाला जीव उसके नाशका उपाय भी किसलिये करेगा ? यह बात तो उसे जम सकती है जिसे मान और आग्रह छोड़कर आत्माका हित करना हो ।

(८६) "करे तथापि अकर्ता"—ऐसा नहीं है

यहाँ जो बात कही जा रही मे उसपरसे कुछ लोग समझे विना ऐसा कहते है कि—"ज्ञानी परके कार्य करता अवश्य है, किन्तु वह अकर्ता है । किन्तु यह बात मिथ्या है । "अकर्ता" और फिर "करता है"—यह बात लाया कहाँसे ? यहाँ तो ऐसा कहा जाता है कि— ज्ञानी या अज्ञानी कोई परका कर्ता नही है, परका कार्य कोई कर ही नही सकता । प्रत्येक द्रव्य स्वयं ही अपनी क्रमवद्धपर्यायरूपसे उत्पन्न होता है; उसमें किसी अन्यका कर्तापना है ही नही । कर्तृत्व देखनेवाला अपने ज्ञानस्वभावसे भ्रष्ट होकर देखता है इसलिये उल्टा देखता है; यदि ज्ञायक रहकर देखे तो कर्तापना न माने । वस्तुस्वरूप तो जैसा है वैसा ही रहता है, अज्ञानी विपरीत माने उससे कही वस्तुस्वरूप अन्यथा नही हो जाता ।

(८७) यदि कुम्हार घड़ा बनाये तो...

जीव और अजीव समस्त द्रव्य अपनी-अपनी पर्यायरूपसे

स्वयं उत्पन्न होते है। अजीवमेंसे प्रत्येक परमाणु भी अपनी क्रमबद्ध अवस्थारूपसे स्वय उत्पन्न होता है, उसकी वर्ण-गन्धादिरूप अर्थ-पर्याय भी क्रमबद्ध उसीसे है, और घडा आदिके आकाररूप व्यजन-पर्याय भी क्रमबद्ध उसीसे है। मिट्टी घड़ेरूप उत्पन्न हुई वहाँ उसकी व्यंजनपर्याय (आकृति) कुम्हारने की—ऐसा नही है। घडेरूपसे मिट्टी स्वयं उत्पन्न हुई है और मिट्टी ही उसमे व्याप्त है, कुम्हार व्याप्त नही है, इसलिये कुम्हार उसका कर्ता नही है। "निमित्त बिना नहीं होता"—इस बातका यहाँ काम नही है। यहाँ तो कहते है कि प्रत्येक द्रव्य अपने परिणामोके साथ तद्रूप—तन्मय है। जीव यदि अजीवकी अवस्थाको करे (जैसे कि—कुम्हार घडा बनाये) तो अजीवकी अवस्थाके साथ तद्रूपता होनेसे वह स्वय भी अजीव हो जायेगा। यदि निमित्तके अनुसार कार्य होता हो तो अजीवके निमित्तसे आत्मा भी अजीव हो जायेगा—इत्यादि अनेक दोष आ पड़ेगे।

(८८) "योग्यता" कब मानी कहलाती है?

प्रश्न.—एक प्यालेमें पानी भरा है, पासमें अनेक प्रकारके लाल, हरे आदि रंग रखे है, उनमेंसे जैसा रग लेकर पानीमें डालेगे वैसा ही पानीका रंग हो जायेगा। उस पानीमें योग्यता तो सर्वप्रकार-की है, किन्तु जिस रंगका निमित्त देगे उसी रगका वह हो जायेगा। इसलिये निमित्तानुसार ही कार्य होता है! भले ही उसकी योग्यतासे होता है किन्तु जैसा निमित्त आता है वैसा होता है?

उत्तरः—अरे भाई! तेरी सब बात उल्टी है। योग्यता कहना, और फिर निमित्त आये वैसा होता है—ऐसा कहना, यह बात विरुद्ध है। निमित्त आये वैसा होता है—ऐसा माननेवालेने "योग्यता" को माना ही नही अर्थात् वस्तुके स्वभावको ही नही माना। पानी-के परमाणुओमे जिस समय जैसी हरे या लाल रगरूप होनेकी योग्यता है, उसी रगरूप के परमाणु स्वय उत्पन्न होते है, दूसरा कोई निमित्त उसमे रग ला सके या फेरफार कर सके—ऐसा नही है।

क्योकि रंगके परमाणु पृथक् और पानीके परमाणु भी पृथक्; इसलिये रगका निमित्त आनेसे पानीके परमाणुओका रंग वदला ऐसा भी नही है; परन्तु पानीके परमाणु ही स्वय अपनी वैसी रंग-अवस्थारूपसे परिणमित हुए है ।

आटेके परमाणुओमेसे रोटीकी अवस्था होशियार स्त्रीने की है—ऐसा नही है, किन्तु स्वयं वे परमाणु ही उस अवस्थारूपसे उत्पन्न हुए है ।—यह वात भी ऊपरके दृष्टांत अनुसार समझ लेना चाहिये ।

स्कंधमे रहनेवाला प्रत्येक परमाणु स्वतंत्ररूपसे अपनी क्रमवद्ध योग्यतासे परिणमित होता है; स्कधके अन्य परमाणुओके कारण वह स्थूलरूप परिणमित हुआ—ऐसा नही है, किन्तु उसीमें स्थूलरूपसे परिणमित होनेकी स्वतंत्र योग्यता हुई है । देखो, एक परमाणु पृथक् हो तव उसमें स्थूल परिणमन नही होता, किन्तु उसके स्कधमे मिलता है तव उसमे स्थूल परिणमन होता है, तो उसके परिणाममे इतना फेरफार हुआ या नही ?—हॉ फेरफार तो हुआ है, किन्तु वह किसके कारण ?-तो कहते है कि अपनी ही क्रमवद्ध पर्यायके कारण, परके कारण नही । एक पृथक् परमाणु स्थूल स्कंधमे मिला वहाँ वह जैसा पृथक् था वैसा ही स्कंधमें नहीं रहा किन्तु सूक्ष्ममेसे स्थूलस्वभावरूपसे उसका परिणमन हुआ है । उसमे सर्वथा फेरफार नही हुआ—ऐसा भी नही है, और परके कारण फेरफार हुआ—ऐसा भी नही है । उसकी अपनी योग्यतासे ही उसमे फेरफार अर्थात् सूक्ष्मतामेसे स्थूलतारूप परिणमन हुआ है । जिस प्रकार एक पृथक् परमाणुमें स्थूलतारूप परिणमन नही होता, उसी प्रकार स्थूल स्कधमे भी यदि उसका स्थूल परिणमन न होता हो तो यह शरीरादि नोकर्म इत्यादि कुछ सिद्ध ही नही होगे । पृथक् परमाणु स्थूल स्कन्धमे मिलनेसे उसमें स्थूलतारूप परिणमन तो होता है, किन्तु वह परके कारण नही होता, उसकी अपनी योग्यता से होता है ।

(८९) क्रमबद्धका निर्णय करनेवालेको "अभाग्य" होता ही नहीं

"अभाग्यसे कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्रका निमित्त बन जाये तो उल्टा अतत्त्वश्रद्धान पुष्ट हो जाता है"—ऐसा मोक्षमार्ग प्रकाशकमें कहा है, किन्तु वहाँ भी वैसे निमित्तोके सेवनका विपरीत भाव कौन करता है ? वास्तवमे तो अपना जो विपरीत भाव है वही अभाग्य है। आत्माके ज्ञायकस्वभावकी ओर झुककर जिसने क्रमबद्धपर्यायिका निर्णय किया उसके ऐसा अभाग्य होता ही नही—अर्थात् कुदेव-कुगरु-कुशास्त्रका सेवन उसके होता ही नही।

आत्मा ज्ञायक है और वस्तुकी पर्याय क्रमबद्धरूपसे स्वयं होती है—ऐसे वस्तुस्वरूपको जो नही जानता उसका ज्ञान सच्चा नही होता, और सच्चे ज्ञान बिना निर्मलपर्याय अर्थात् शाति या धर्म नही होता।

(९०) स्वाधीनदृष्टिसे देखनेवाला—ज्ञाता

आइस (वर्फ) डालनेसे पानीकी ठण्डी अवस्था हुई—ऐसा नही है; पानीमे शक्कर डाली इसलिये उस शक्करके कारण पानीके परमाणुओमे मीठी अवस्था हुई—ऐसा नही है; वे परमाणु स्वाधीन-रूपसे वैसी अवस्थारूप परिणामित हुए है। अपने आत्माको स्वाधीन-दृष्टिसे ज्ञायकभावसे परिणमित देखनेवाला जगतके समस्त पदार्थों को भी स्वाधीन परिणमित देखता है, इसलिये वह ज्ञाता ही है. अकर्ता ही है। आत्मा तो अजीवके कार्यको नही करता, किन्तु एक स्कन्ध-में रहनेवाले अनेक परमाणओमे भी एक परमाणु दूसरे परमाणुका कार्य नही करता।—ऐसी स्वतन्त्रता है।

(९१) संस्कारकी सार्थकता, तथापि पर्यायकी क्रमबद्धता

प्रश्नः—प्रवचनसारके ४७ नयोमे तो कहा है कि अस्वभाव-नयसे आत्मा सस्कारको सार्थक करनेवाला है; जिसप्रकार लोहेके

तीरमें संस्कार डालकर लुहार नई नोक निकालता है, उसीप्रकार आत्माकी पर्यायमे नये सस्कार पडते है;—ऐसा है तो फिर पर्यायकी क्रमबद्धताका नियम कहां रहा ?

उत्तर:—पर्याय निरन्तर नई नई होती है, आत्मा अपनी पर्यायमें जैसे सस्कार डालते है वैसी पर्याय होती है। अनादिसे पर्यायमे मिथ्याश्रद्धा--ज्ञान थे, उनके वदले अव ज्ञायकस्वभावकी ओर ढलनेसे वे मिथ्याश्रद्धा-ज्ञान दूर होकर, सम्यक्श्रद्धा-ज्ञानके अपूर्व संस्कार पडे, इसलिये पर्यायमें नये संस्कार कहे। तथापि वहां क्रमवद्धपर्यायका नियम नही टूटा है। क्या सर्वज्ञभगवानने वैसा नही देखा था और हो गया ? अथवा क्या क्रमबद्धपर्यायमे वैसा नही था और हो गया ?—ऐसा नही है। स्वयं अपने ज्ञायकस्वभाव-सन्मुखके पुरुपार्थ द्वारा निर्मलपर्यायरूप उत्पन्न हुआ वहां, केवलीभगवानने क्रमवद्धपर्यायमे जो निर्मलपर्याय होना देखा था वही पर्याय आकर उपस्थित हो गई। इस प्रकार, ज्ञायकस्वभावका पुरुषार्थ करनेवालेको पर्यायमे मिथ्यात्व दूर होकर सम्यग्दर्शनके अपूर्व नये सस्कार पड़े विना नही रहते, और क्रमबद्धपर्यायका क्रम भी नही टूटता।—ऐसा मेल ज्ञायकस्वभावकी दृष्टिके बिना समझमें नही आयेगा।

(९२) क्रमबद्धपर्यायका ज्ञाता कौन ?

जिसे ज्ञायकस्वभावकी दृष्टि नहीं है और क्रमबद्धपर्यायमें आगा-पीछा करना मानता है उसे जीव-अजीव द्रव्योंकी खवर नही है इसलिये मिथ्या ज्ञान है। जो परका कर्तृत्व मानता है उसे तो अभी परसे भिन्नत्वका भी भान नहीं है; परसे भिन्नत्वको जाने बिना अन्तरमे ज्ञान और रागकी भिन्नता उसके ख्यालमे नही आ सकेगी। यहां तो ऐसी वात है कि जो अपने ज्ञानस्वभावकी ओर ढला वह क्रमबद्धपर्यायका ज्ञाता है, रागको भी वह ज्ञानसे भिन्न ज्ञेयरूप जानता है। ऐसा ज्ञाता रागादिका अकर्ता ही है।

*　　　*　　　*

* चौथा प्रवचन *

[आश्विन कृष्णा ३०, वीर स. २४८०]

क्रमवद्धपर्यायका निर्णय भी ज्ञायकस्वभावकी दृष्टि द्वारा ही होता है, इसलिये उसमे जैनशासन आ जाता है। जो अवद्धस्पृष्ट आत्माको देखता है वह समस्त जिनशासनको देखता है—ऐसा पन्द्रहवी गाथामे कहा है, और यहाँ—"जो ज्ञायकदृष्टिसे क्रमवद्धपर्यायका निर्णय करता है वह समस्त जिन-शासनको देखता है"—ऐसा कहा जाता है,—उन दोनोका तात्पर्य एक ही है। दृष्टिको अन्तरोन्मुख करके जहाँ ज्ञा....य....क पर दृष्टि स्थिर की वहाँ सम्यक् श्रद्धा-ज्ञानके साथ चारित्र, आनन्द, वीर्यादिका भी शुद्धपरिणमन होने लगा, यही जैनशासन है।

(९३) क्रमवद्धपर्यायके निर्णयमें सात तत्त्वोंकी श्रद्धा

जीव और अजीव दोनोकी अवस्था उस-उस काल क्रमबद्ध स्वतन्त्र होती है, उन्हे एक-दूसरेके साथ कार्यकारणपना नही है। जीवका ज्ञायकस्वभाव है, उस ज्ञायकको जाननेकी मुख्यतापूर्वक क्रमवद्धपर्यायका ज्ञाता है।—ऐसी प्रतीतिमे सातो तत्त्वोकी श्रद्धा भी आ जाती है इसलिये तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन इसमे आ जाता है। सातो तत्त्वोकी श्रद्धा किस प्रकार आती है वह कहते है:—

(१-२) अपने ज्ञानादि अनन्त गुणोको ज्ञेय बनाकर क्रमवद्ध ज्ञाता-दृष्टा परिणामरूपसे मै उत्पन्न होता हूँ और उसमे मैं तन्मय हूँ ऐसी स्वसन्मुख प्रतीतिमे जीवतत्त्वकी प्रतीति आ गई; ज्ञाता-दृष्टारूपसे उत्पन्न हुआ मै जीव हूँ, अजीव नही हूँ,—इसप्रकार अजीवसे भिन्नत्वका—कर्मके अभाव आदिका—ज्ञान भी आ गया, इसलिये अजीवतत्त्वकी प्रतीति हो गई।

(३-४-५-६) ज्ञायकस्वभावकी दृष्टिसे श्रद्धा-ज्ञान निर्मल हुए है, चारित्रमे भी अशत. शद्धता प्रगट हुई है और अभी साधकदशा

होनेसे अमुक रागादि भी होते है । वहा श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रका जितना निर्मल परिणमन है उतने ही सवर-निर्जरा है, और जितने रागादि होते है उतने ही अशमे आस्रव-बन्ध है । साधकको उस शुद्धता और अशद्धता दोनोका ज्ञान रहता है इसलिये उसे आस्रव-वन्ध-सवर-निर्जरा तत्त्वोकी प्रतीति आ गई ।

(७) परका अकर्ता होकर ज्ञायकस्वभावमें एकाग्र होनेसे क्रमबद्धपर्यायमे अंशत: शद्धता प्रगट हुई है और अभी इसी क्रमसे ज्ञायकस्वभावमे पूर्ण एकाग्र होनेसे पूर्ण ज्ञाता-दृष्टापना (केवलज्ञान) प्रगट हो जायगा और मोक्षदशा हो जायगी;—ऐसी श्रद्धा होनेसे मोक्ष-तत्त्वकी प्रतीति भी उसमें आ गई ।

इसप्रकार, ज्ञायकस्वभावके सन्मुख होकर क्रमबद्धपर्यायकी प्रतीति करनेसे उसमे "तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनम्" भी आ जाता है ।

(९४) सदोष आहार छोड़नेका उपदेश और क्रमबद्धपर्याय-उसका मेल

प्रश्न:—यदि पर्याय क्रमबद्ध होती है, आहार भी जो आना हो वही आता है, तो फिर—"मुनियोको सदोष आहार छोड़कर निर्दोष अहार लेना चाहिये"—ऐसा उपदेश किसलिये ?

उत्तर.—वहा ऐसी पहचान कराई है कि जहां मुनिदशा हुई हो वहां इसप्रकारका सदोष अहार लेनेका भाव होता ही नही; उस भूमिकाका क्रम ही ऐसा है कि वहा सदोष आहार लेनेकी वृत्ति ही नही होती । ऐसा आहार लेना चाहिए और ऐसा छोड़ना चाहिए—यह तो निमित्तका कथन है । किन्तु कोई ऐसा कहे कि—"भले ही सदोष आहार आना होगा तो सदोप आयगा, किन्तु हमे उसके ग्रहणकी वृत्ति नही है"—तो वह स्वच्छन्दी है, उसकी दृष्टि तो आहर पर है, ज्ञायक पर उसकी दृष्टि तो नही है । मुनियोंके तो ज्ञानमे इतनी अधिक सरलता हो गई कि—"यह आहार मेरे लिये वनाया होगा !" इतनी वृत्ति उठे तो भी (-फिर भले ही वह आहार उनके लिये किया हुआ

न हो और निर्दोष हो तो भी–) वह आहार लेनेकी वृत्ति छोड़ देते हैं। और कदाचित् उद्देशिक (–मुनिके लिये बनाया हुआ) आहार हो, किन्तु यदि स्वयको शंकाकी वृत्ति न उठे और वह आहार ले ले तो भी मुनिको वहां कुछ भी दोष नही लगता। इसप्रकार क्रमबद्धपर्याय-का निर्णय करनेवालेका जोर अपने ज्ञानस्वभावकी ओर जाता है; पुरुषार्थका जोर ज्ञायकस्वभावकी ओर ढले बिना क्रमबद्धपर्यायका यथार्थ निर्णय हो ही नही सकता।

(९५) क्रमबद्धपर्यायके निर्णयमें जैनशासन

देखो अपने ज्ञाता–दृष्टा स्वभावकी प्रतीतिपूर्वक इस क्रमवद्ध–पर्यायका निर्णय किया वहा अपनी क्रमबद्धपर्यायमे ज्ञातापनेकी ही अधिकता हुई, और रागका भी ज्ञाता रहा। क्रमबद्धपर्यायका निर्णय भी ज्ञायकस्वभावकी दृष्टि द्वारा ही होता है, इसिलिये उसमे जैन-शासन आ जाता है। जो अबद्धस्पृष्ट आत्माको देखता है वह समस्त जिनशासनको देखता है—ऐसा पन्द्रहवी गाथामे कहा, और यहा—"जो ज्ञायकदृष्टिसे क्रमबद्धपर्यायका निर्णय करता है वह समस्त जिनशासनको देखता है"—ऐसा कहा जाता है, उन दोनोका तात्पर्य एक ही है। दृष्टिको अन्तरोन्मुख करके जहा ज्ञा....य....क पर दृष्टि स्थिर की वहा सम्यक्श्रद्धा–ज्ञानके साथ चारित्र, आनद, वीर्यादिका भी शुद्ध परिणमन होने लगा, यही जैनशासन है, फिर वहा साधकदशामें चारित्रकी अस्थिरताका राग और कर्मका निमित्तादि कैसे होते है वह भी स्व–परप्रकाशक ज्ञानमे ज्ञेयरूपसे ज्ञात हो जाता है।

जिस जीवमे या अजीवमें, जिस समय जिस पर्यायकी योग्यता-का काल है उस समय उस पर्यायरूपसे वह स्वयं परिणमित होता है, किसी अन्य निमित्तके कारण वह पर्याय नही होती। ऐसे वस्तुस्व-भावका निर्णय करनेवाला जीव अपने ज्ञायकभावका आश्रय करके ज्ञाता–दृष्टाभावरूपसे ही उत्पन्न होता है, किन्तु अजीवके आश्रयसे

उत्पन्न नही होता। साधक होनेसे भले ही अधूरी दशा है, तथापि ज्ञायकस्वभावके आश्रयकी मुख्यतासे ज्ञायकरूप ही उत्पन्न होता है, रागादिकी मुख्यतारूप उत्पन्न नही होता। जिसने ज्ञायक-स्वभावकी दृष्टिसे क्रमबद्धपर्यायका निर्णय किया वही वास्तवमें सर्वज्ञको जानता है, वही जैनशासनको जानता है, वही उपादान-निमित्त और निश्चय-व्यवहारको यथार्थरूपसे पहिचानता है। जिसे ज्ञायकस्वभावकी दृष्टि नही है उसे वह कुछ भी यथार्थ—सच्चा नही होता।

(९६) आचार्यदेवके अलौकिक मंत्र

अहो ! यह तो कुन्दकुन्दाचार्यदेवकें और अमृतचन्द्राचार्यदेव-के अलौकिक मन्त्र हैं। जिसे आत्माकी परिपूर्ण ज्ञानशक्तिका विश्वास आ जाये उसीको यह क्रमबद्धपर्याय समझमे आ सकती है। समयसार-मे आचार्यदेवने जगह-जगह यह बात रखी है।—

मंगलाचरणमे ही सबसे पहले कलशमे शुद्धात्माको नमस्कार करते हुए कहा था कि—"सर्वभावातरच्छिदे" अर्थात शुद्धात्मा अपने-से अन्य सर्व जीवाजीव, चराचर पदार्थोको सर्व क्षेत्र-काल सम्बन्धी सर्व विशेपणो सहित, एक ही समयमे जाननेवाला है। यहाँ सर्व क्षेत्र-काल सम्बन्धी जानना कहा उसमे क्रमबद्धपर्याय होना आ ही गया। ("स्वानुभूत्या चकासते" अर्थात् अपनी अनुभवनक्रियासे प्रकाशित होता है—ऐसा कहकर उसमें स्व-परप्रकाशकपना भी बतलाया है।)

फिर दूसरी गाथामे जीवके स्वरूपका वर्णन करते हुए कहा है कि—"क्रमरूप और अक्रमरूप प्रवर्तित अनेक भाव जिसका स्वभाव होने से जिसने गुण-पर्याये अगीकार की है।"—उसमे क्रमबद्धपर्याय की बात आगई।

तत्पश्चात् "अनुक्रमसे आविर्भाव और तिरोभाव प्राप्त करती हुई वे-वे व्यक्तियाँ......" इसप्रकार ६२ वी गाथामे कहा, उसमे भी क्रमबद्धपर्यायकी बात समा गई।

तत्पश्चात् कर्ताकर्म अधिकारकी गाथा ७६-७७-७८ में "प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य" ऐसे कर्मकी बात की; वहां कर्ता, जो नवीन उत्पन्न नही करता तथा विकार करके अर्थात् फेरफार करके भी नही करता, मात्र जिसे प्राप्त करता है वह कर्ताका प्राप्य कर्म है,—ऐसा कहा उसमें भी पर्यायका क्रमबद्धपना आ गया। द्रव्य अपनी क्रमबद्धपर्यायको प्रतिसमय प्राप्त करता है—पहुँच जाता है।

तत्पश्चात् पुण्य-पाप अधिकारकी गाथा १६० "सो सव्वणाणदरिसी...."में कहा है कि आत्मद्रव्य स्वय ही "ज्ञान" होनेके कारण विश्वको (सर्व पदार्थोंको) सामान्य-विशेषरूपसे जाननेके स्वभाववाला है....किन्तु अपने पुरुपार्थके अपराधसे सर्व प्रकारसे सम्पूर्ण ऐसे अपनेको (अर्थात् सर्व प्रकारसे सर्व ज्ञेयोको) जाननेवाले ऐसे अपनेको नही जानता इसलिये अज्ञानभावसे वर्तता है। यहाँ "विश्वको सामान्य-विशेषरूपसे जाननेका स्वभाव" कहनेसे उसमे क्रमबद्धपर्यायकी वात भी समा गई। जीव अपने सर्वज्ञस्वभावको नही जानता इसलिये अज्ञानी है। यदि अपने सर्वज्ञस्वभावको जाने तो उसमे क्रमबद्धपर्यायका भी निर्णय हो जाये और अज्ञान न रहे।

आस्रव अधिकारमे गाथा १६६में "स्वय ज्ञानस्वभाववाला होकर, केवल जानता ही है"—ऐसा कहा, वहां ज्ञेयोका क्रमबद्धपना आ गया।

तत्पश्चात् सवर अधिकारमे "उपयोग उपयोगमे ही है, क्रोधमे या कर्म-नोकर्ममे उपयोग नही है"—ऐसा कहा, वहाँ उपयोगके स्व-परप्रकाशकस्वभावमे क्रमवद्धपर्यायकी बात भी सिद्ध हो जाती है।

फिर निर्जरा अधिकार गाथा २१६ मे वेद्य और वेदक दोनो भावोकी क्षणिकता वतलाई है, ये दोनो भाव कभी इकट्ठे नही होते—ऐसा होकर उनकी क्रमवद्धता वतलाई है। समय-समयकी उत्पन्नध्वंसी पर्याय पर ज्ञानीकी दृष्टि नही है किन्तु ध्रुव ज्ञायक-

स्वभाव पर उसकी दृष्टि है, ध्रुव ज्ञायक पर दृष्टि रखकर वह क्रमवद्धपर्यायका ज्ञाता है।

पश्चात् वन्ध अधिकारमे १६८वें कलश (सर्वं सदैव नियतं....) में कहा है कि—इस जगतमे जीवोंको मरण, जीवित, दुःख, सुख—सव सदैव नियमसे अपने कर्मके उदयसे होता है; "दूसरा पुरुष दूसरेके मरण, जीवन, दुःख, सुख करता है,—ऐसा जो मानना है वह तो अज्ञान है।" इसलिये आत्मा उस क्रमवद्धपर्यायका ज्ञाता है, किन्तु उसका वदलनेवाला नही है—यह वात उसमें आ गई।

मोक्ष अधिकारमें गाथा २९७–९८–९९में छह कारकोंका वर्णन करके, आत्माको "सर्वविशुद्धचिन्मात्रभाव" कहा। 'सर्वविशुद्धचिन्मात्र' कहनेसे सामनेवाले ज्ञेय पदार्थोंके परिणाम भी क्रमवद्ध है—ऐसा उसमें आ गया।

इस सर्वविशुद्धज्ञान अधिकारकी चलती हुई (३०८से ३११वी) गाथाओंमें भी क्रमवद्धपर्यायकी स्पष्ट वात की है।

दूसरे शास्त्रोंमें भी अनेक स्थानों पर यह वात की है। पं० वनारसीदासजीने श्री जिनेन्द्र भगवानके १००८ नामोमे "क्रमवर्ती"—ऐसा भी एक नाम दिया है।

(९७) स्पष्ट और मूलभूत वात—"ज्ञानशक्तिका विश्वास"

यह तो सीधी और स्पष्ट वात है कि आत्मा ज्ञान है, सर्वज्ञताका उनमें सामर्थ्य है, सर्वज्ञतामे क्या जानना शेष रह गया? सर्वज्ञताके सामर्थ्य पर जोर न आये तो क्रमवद्धपर्याय समझमे नही आ सकती। उधर सर्वज्ञताके सामर्थ्यको प्रतीतिमे लिया वहाँ ज्ञेयोंमे क्रमवद्धपर्यायें हैं उनका निर्णय भी हो गया। इस प्रकार यह आत्माके मूलभूत ज्ञायकस्वभावकी वात है। इसका निर्णय न करे तो सर्वज्ञकी भी सच्ची श्रद्धा नहीं होती। जिसे आत्माकी ज्ञानशक्तिका ही विश्वास न आवे उसे जैनशासनकी एक भी वात समझमें नहीं आ सकती।

सम्यक्त्वी अपने ज्ञायकस्वभावका आश्रय करके ज्ञातापनेके क्रमबद्धपरिणामरूप उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, किन्तु कर्मका आश्रय करके उत्पन्न नहीं होता इसलिये अजीव नहीं है ।

तत्पश्चात् स्वरूपमें विशेष एकाग्रता द्वारा छट्ठे—सातवें गुणस्थानरूप मुनिदशा प्रगट हुई, उस मुनिदशारूप भी जीव स्वयं ही अपने क्रमबद्धपरिणामसे उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, किन्तु निर्दोष आहारादिके आश्रयसे उस पर्यायरूपसे उत्पन्न नही होता इसलिये अजीव नहीं है ।

फिर केवलज्ञानदशा हुई, उसमें भी जीव स्वयं ही क्रमबद्ध-परिणमित होकर उस अवस्थारूपसे उत्पन्न हुआ है, इसलिये वह जीव ही है, किन्तु चौथा काल या शरीरका संहनन आदि अजीवके कारण वह अवस्था उत्पन्न नही हुई, तथा जीवने उस अजीवकी अवस्था नहीं की, इसलिये वह अजीव नही है ।

(९८) अहो ! ज्ञाताकी क्रमबद्धधारा !

देखो, यह ज्ञाताकी क्रमबद्धपर्याय ! इसमे तो केवलज्ञानका समावेश होता है, मोक्षमार्ग आ जाता है, सम्यग्दर्शन आ जाता है। और इससे विरुद्ध माननेवाला अज्ञानी कैसा होता है उसका ज्ञान भी आ जाता है। जीव और अजीव सभी तत्त्वोंका निर्णय इसमें आ जाता है ।

देखो, यह सत्यकी धारा !—ज्ञायकभावका क्रमबद्धप्रवाह !! ज्ञानीको अपने ज्ञायकस्वभावमें एकता द्वारा सम्यग्दर्शनसे प्रारम्भ करके ठेठ केवलज्ञान तक अकेले ज्ञायकभावकी क्रमबद्धधारा चली जाती है ।

शास्त्रमें उपदेशकथन अनेक प्रकारके आते है । उस-उस काल संतोंको वैसे विकल्प उठनेसे उस प्रकारकी उपदेशवाणी निकली; वहा ज्ञाता तो अपने ज्ञायकभावकी धारारूपसे उत्पन्न होता हुआ

उस वाणी और विकल्पका ज्ञाता ही है, किन्तु उसमें तन्मय होकर उसरूप उत्पन्न नही होता।

जगतका कोई पदार्थ बीचमें आकर जीवकी क्रमबद्धपर्यायको वदल दे—ऐसा तीनकालमें नही होता; जीव अपनी क्रमवद्धपर्यायरूपसे उत्पन्न होता हुआ जीव ही है; इसीप्रकार अजीव भी उसकी क्रमवद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है। जो जीव ऐसा निर्णय और भेदज्ञान नही करता वह अज्ञानरूपसे भ्रांतिमे भ्रमण कर रहा है।

(९९) ज्ञानके निर्णयमें क्रमवद्धका निर्णय

प्रश्नः—तीनकालकी पर्याय क्रमबद्ध है, तथापि कलकी वात भी ज्ञात क्यों नही होती ?

उत्तरः—उसका जाननेवाला ज्ञायक कौन है उसका तो पहले निर्णय करो। ज्ञाताका निर्णय करने से तीनकालकी क्रमवद्धपर्याय-का भी निर्णय हो जायेगा। और देखो, गई कलको शनिवार था और कल सोमवार ही आयेगा, उसके बाद मंगलवार ही आयेगा,—इस प्रकार सातों वारोंकी क्रमबद्धता जानी जा सकती है या नही ? 'वहुत समय बाद कभी सोमवारके पश्चात् शनिवार आ जायेगा तो ? अथवा रविवारके बाद बुधवार आ जायेगा तो !....ऐसी शंका कभी नही होती क्योंकि उस प्रकारका क्रमबद्धताका निर्णय हुआ है। उसी प्रकार आत्माके केवलज्ञान स्वभावकी प्रतीति करनेसे समस्त द्रव्योंकी क्रमवद्धपर्यायका निर्णय हो जाता है। यहां तो "क्रमबद्ध-पर्याय" कहनेसे ज्ञायकका निर्णय करनेका प्रयोजन है। ज्ञाता अपने स्वभावसन्मुख होकर परिणमित हुआ वहां स्वयं स्वकालमें क्रमवद्ध परिणमित होता है, और उसका स्व-परप्रकाशकज्ञान विकसित हुआ वह परको भी क्रमवद्धपरिणमित जानता है, इसलिये उनका वह कर्ता नही होता।

(१००) "निमित्त न आये तो?"—ऐसा कहनेवाला निमित्तको नहीं जानता

प्रश्नः—यदि वस्तुकी क्रमबद्धपर्याय अपने आप निमित्तके बिना हो जाती हो तो, यह पीछी यहां पडी है उसे हाथके निमित्त विना ऊपर उठा दीजिये !

उत्तरः—अरे भाई ! पीछीकी अवस्था पीछीमे और हाथकी अवस्था हाथमे,—उसमें तू क्या कर सकता है ? पीछी उसके क्षेत्रान्तरकी क्रमबद्धपर्यायसे ही ऊपर उठती है, और उस समय हाथ आदि निमित्त भी अपनी क्रमबद्धपर्यायरूपसे होते ही है, न हो ऐसा नही होता। इसप्रकार निमित्तका अस्तित्व होने पर भी उसे जो नही मानता, और "निमित्त न आये तो......." ऐसा तर्क करता है वह क्रमबद्धपर्यायको या उपादान-निमित्तको समझा ही नही है। "है" फिर "न हो तो...." यह प्रश्न ही कहा से आया ?

(१०१) "निमित्त बिना कार्य नहीं होता"-इसका आशय क्या?

उपादान-निमित्तकी स्पष्टताका प्रचार होनेसे अब कुछ लोग ऐसी भाषाका उपयोग करते है कि—"निमित्त भले ही कुछ नही करता, किन्तु उसके बिना तो कार्य नही होता न !" किन्तु गहराई से तो उनके भी निमित्ताधीन दृष्टि ही पड़ी है। निमित्त होता है उसे प्रसिद्ध करनेके लिये शास्त्रमे भी ऐसा कहा जाता है कि "निमित्त-के विना नही होता;" किन्तु "कार्य होना हो, और निमित्त न आये तो नही हो सकता"—ऐसा उसका अर्थ नही है। देवसेनाचार्य नयचक्र पृष्ठ ५२-५३ मे कहते है कि—"यद्यपि मोक्षरूपी कार्यमे भूतार्थसे जाना हुआ आत्मा आदि उपादान कारण है, तथापि वह सहकारी कारण बिना सिद्ध नही होता; इसलिये सहकारी कारणकी प्रसिद्धिके लिये निश्चय और व्यवहारका अविनाभाव सम्बन्ध बतलाते है।" इसमें तो क्रमबद्धपर्यायमे उपादानकी योग्यताके समय उस प्रकारका निमित्त होता है—ऐसा ज्ञान कराया है; कोई अज्ञानी,

निमित्तको सर्वथा न मानता हो तो, "निमित्त बिना नहीं होता"—ऐसा कहकर निमित्तकी प्रसिद्धि कराई है अर्थात् उसका ज्ञान कराया है। किन्तु उससे निमित्त आया इसलिये कार्य हुआ और निमित्त न होता तो वह पर्याय नही होती"—ऐसा उसका सिद्धान्त नही है। 'निमित्त बिना नही होता"—इसका आशय इतना ही है कि जहां-जहा कार्य होता है वहां वह होता है, न हो ऐसा नहीं हो सकता। निमित्तका ज्ञान करानेके लिये निमित्तकी मुख्यतासे कथन होता है परन्तु निमित्तकी मुख्यतासे कही पर कार्य नहीं होता, शास्त्रोमें तो निमित्तके और व्यवहारके अनेक लेख भरे है; किन्तु स्व-परप्रकाशक जागृत हुए बिना उनका आशय स्पष्ट कौन करेगा ?

(१०२) शास्त्रोंके उपदेशके साथ क्रमबद्धपर्यायकी सन्धि

कुन्दकुन्दाचार्यदेवकी आज्ञासे वसुबिन्दु अर्थात् जयसेनाचार्य-देवने दो दिनमे ही एक प्रतिष्ठापाठकी रचना की है, उसमें जिनेन्द्र-प्रतिष्ठा सम्बन्धी क्रियाओका प्रारम्भसे लेकर अंत तकका वर्णन किया है। प्रतिमाजीके लिये ऐसा पाषाण लाना चाहिये, ऐसी विधि-से लाना चाहिये; ऐसे कारीगरोंके पास ऐसी प्रतिमा बनवाना चाहिए तथा अमुक विधिके लिये मिट्टी लेने जाये वहां जमीन खोदकर मिट्टी ले ले और फिर बढ़ी हुई मिट्टीसे वह गड्ढा पूरने पर यदि मिट्टी बढ़े तो उसे शुभ शकुन समझना चाहिये।—इत्यादि अनेक विधियोंका वर्णन आता है, किन्तु आत्माका ज्ञायकपना रखकर वह सब बात है। ज्ञायकपनेसे च्युत होकर या क्रमबद्धपनेको तोड़कर वह बात नही है। प्रतिष्ठा करानेवालेको उस प्रकारका विकल्प होता है और मिट्टी आदिकी वैसी क्रमबद्धपर्याय होती है—उसकी वहां पहिचान कराई है, किन्तु ऐसा नही बतलाया है कि अजीवकी पर्याय जीव कर देता है। प्रतिष्ठामे "सिद्धचक्रमण्डलविधान" और "यागमण्डलविधान" आदिके बड़े बड़े रगविरगे मण्डल रचे जाते है, और शास्त्रमे भी उनका उपदेश आता है, तथापि वह सब क्रमबद्ध ही है; शास्त्रमें

उसका उपदेश दिया इसलिये उसकी क्रमवद्धता मिट गई या जीव उसका कर्ता हो गया—ऐसा नही है। ज्ञाता तो अपनेको जानता हुआ उसे भी जानता है, और क्रमबद्धपर्यायसे स्वयं अपने ज्ञायकभावरूप उत्पन्न होता है।

इसी प्रकार मुनिको समितिके उपदेशमे भी "देखकर चलना, विचारकर बोलना, वस्तुको यत्नपूर्वक उठाना-रखना"—इत्यादि कथन आता है, किन्तु उसका आशय यह बतलानेका नही है कि शरीरकी क्रियाको जीव कर सकता है। मुनिदशामें उस-उस प्रकारका प्रमादभाव होता ही नही, हिंसादिका अशुभभाव होता ही नही-ऐसा ही मुनिदशाकी क्रमबद्धपर्यायका स्वरूप है—वह बतलाया है। निमित्तसे कथन करके समझाये, तो उससे कही क्रमबद्धपर्यायका सिद्धान्त नही टूट जाता है।

(१०३) स्वयंप्रकाशी ज्ञायक

शरीरादिका प्रत्येक परमाणु स्वतत्ररूपसे अपनी क्रमबद्ध-पर्यायरूप परिणमित हो रहा है, उसे कोई दूसरा अन्यथा वदल दे—ऐसा तीनकालमे नही हो सकता। अहो! भगवान आत्मा तो स्वयं-प्रकाशी है, अपने ज्ञायकभाव द्वारा वह स्व-परका प्रकाशक ही है; किन्तु अज्ञानीको उस ज्ञायकस्वभावकी बात नही जमती। मै ज्ञायक क्रमबद्धपर्यायोको यथावत् जाननेवाला हूँ,—सदा जाननेवाला ही हूँ किन्तु किसीको बदलनेवाला नही हूँ—ऐसी स्वसन्मुख प्रतीति न करके अज्ञानी जीव कर्ता होकर परको बदलना मानता है, वह मिथ्या-मान्यता ही संसारपरिभ्रमणका मूल है।

सर्व जीव स्वयप्रकाशी ज्ञायक है, उसमें—

(१) केवली भगवान "पूर्ण ज्ञायक" है; (उनके ज्ञायकपना पूर्ण व्यक्त हो गया है।)

(२) सम्यक्त्वी—साधक "अपूर्ण ज्ञायक" है; (उनके पूर्ण ज्ञायकपना प्रतीतिमे आ गया है, किन्तु अभी पूर्ण व्यक्त नही हुआ।)

(३) अज्ञानी "विपरीत ज्ञायक" है; (उन्हें अपने ज्ञायकपने-
की खबर नही है ।)

ज्ञायकस्वभावकी अप्रतीति वह संसार,

ज्ञायकस्वभावकी प्रतीति द्वारा साधक दशा वह मोक्षमार्ग,
और—ज्ञायकस्वभाव पूर्ण विकसित हो जाये वह केवलज्ञान और मोक्ष।

(१०४) प्रत्येक द्रव्य "निजभवन" में ही विराजमान है

जगतमे प्रत्येक द्रव्य अपनी क्रमबद्धपर्यायके साथ तद्रूप है, किन्तु परके साथ तद्रूप नही है । अपने–अपने भावका जो "भवन" है, उसीमे प्रत्येक द्रव्य विराजमान है । जीवके गुण–पर्याये वह जीवका भाव है और जीव भाववान है; अजीवके गुण–पर्याये वह उसका भाव है और अजीव भाववान है । अपने–अपने भावका जो भवन अर्थात् परिणमन—उसीमे सव द्रव्य विराजमान है । जीवके भवनमे अजीव नही जाता—प्रवेश नही करता, और अजीवके भवन-में जीव प्रविष्ट नही होता । इसी प्रकार एक जीवके भवनमे दूसरा जीव प्रवेश नही करता और एक अजीवके भवनमे दूसरा अजीव नहीं जाता । जीव या अजीव प्रत्येक द्रव्य तीनोकाल अपने–अपने निज भवनमे (निज परिणमनमे) विराजमान है; अपने निज भवन-मेसे वाहर निकलकर दूसरेके भवनमे कोई द्रव्य नही जाता ।

सुदृष्टितरगिणीमे छह मुनियोका उदाहरण देकर कहा है कि:—जिस प्रकार एक गुफामे वहुत समयसे छह मुनिराज रहते है; किन्तु कोई किसीसे मोहित नही है, उदासीनता सहित एक गुफा-में रहते है; छहो मुनिवर अपनी–अपनी स्वरूपसाधनामे ऐसे लीन है कि दूसरे मुनि कव क्या करते है उसपर लक्ष ही नही जाता; एक-दूसरेसे निरपेक्ष रहकर सव अपने–अपनेमे एकाग्र होकर विराजमान हैं । उसीप्रकार इस चौदह ब्रह्माण्डरूपी गुफामें जीवादि छहो द्रव्य एक-दूसरेसे निरपेक्ष रूपसे अपने–अपने स्वरूपमे विराजमान है, कोई द्रव्य अन्य द्रव्यकी अपेक्षा नही रखता; सर्व द्रव्य अपने–अपने गुण–

पर्यायोंमें ही विद्यमान हैं; जगतकी गुफामें छहों द्रव्य स्वतंत्ररूपसे अपने-अपने स्वरूपमें परिणमित हो रहे है। उसमें भगवान आत्मा ज्ञायकस्वभाववाला है, आत्माके अतिरिक्त पांचों द्रव्योमें ज्ञायकपना नहीं है।

(१०५) यह बात न समझनेवालोंकी कुछ भ्रमणायें

आत्मा ज्ञायक है, और ज्ञायकस्वभावरूपसे परिणमित होता हुआ वह क्रमबद्धपर्यायोका ज्ञाता ही है। इसमे ज्ञायकस्वभावकी दृष्टिका अनन्तबल आता है;—उसे न समझनेवाले अज्ञानी मूढ जीवोंको इसमे एकान्त नियतपना ही भासित होता है, किन्तु उसके साथ स्वभाव और पुरुषार्थ, श्रद्धा और ज्ञानादि आ जाते है वे उसे भासित नहीं होते।

कुछ लोग यह वात सुननेके वाद क्रमबद्धपर्यायकी बातें करना सीखे है, किन्तु उसका ध्येय कहा जाता है और उसे समझनेवाले-की दशा कैसी होती है वह नही जानते, इसलिये वे भी भ्रमणमें ही रहते है।

"हम निमित्त वनकर परकी व्यवस्थामे फेरफार कर दे"—ऐसा कुछ अज्ञानी मानते हैं, वे भी मूढ है।

प्रश्न:—अगर ऐसा है, तो पच्चीस आदमियोंको भोजनका निमन्त्रण देकर फिर चुपचाप बैठे रहे, तो क्या अपने आप रसोई वन जायेगी!!

उत्तर:—भाई, यह तो अन्तरदृष्टिकी गहरी वात है, इसप्रकार अद्धर से यह नही जम सकती। जिसे निमत्रण देनेका विकल्प आया, वह कहीं वीतराग नही है, इसलिये उसे विकल्प आये विना नही रहेगा; किन्तु जीवको विकल्प आये, तो भी वहां वस्तुमें क्रमवद्धरूपसे जो अवस्था होना है, वही होती है। यह जीव विकल्प करे, तथापि सामनेवाली वस्तुमे वैसी अवस्था नही भी होती;

इसलिये विकल्पके कारण बाह्यकार्य होते हैं—ऐसा नहीं है। और विकल्प होता है उसपर भी ज्ञानीकी दृष्टिका बल नहीं है।

(१०६) "ज्ञानी क्या करते हैं"—यह अन्तर्दृष्टिके बिना नहीं जाना जा सकता

प्रश्न:—शरीरमें रोगका होना या मिटना वह सब अजीवकी क्रमबद्धपर्याय है—ऐसा ज्ञानी जानते हैं, तो भी वे दवा तो करते हैं, खाने-पीनेमें भी परहेज रखते है-सब करते है !

उत्तर:—तुझे ज्ञायकभावकी खबर नही है, इसलिये अपनी बाह्यदृष्टिसे तुझे ज्ञानी सब करते दिखाई देते है, किन्तु ज्ञानी तो अपने ज्ञायकस्वभावकी दृष्टिसे ज्ञायकभावमे ही तन्मयरूपसे परिणमित हो रहे हैं, रागमे तन्मय होकर भी वे परिणमित नही होते, और परकी कर्ताबुद्धि तो उनके स्वप्नमे भी नही रही है। अन्तर्दृष्टिके बिना तुझे ज्ञानीके परिणमनकी खबर नही पड़ सकती। ज्ञानीको अभी पूर्ण वीतरागता नहीं हुई है इसलिये अस्थिरतामें अमुक रागादि होते हैं, उन्हें वे जानते हैं, किन्तु अकेले रागको जाननेकी भी प्रधानता नहीं है। ज्ञायकको जाननेकी मुख्यतापूर्वक रागको भी जानते हैं; और अनन्तानुबन्धी रागादि उनके होते ही नही, तथा ज्ञायकदृष्टिमें स्वसन्मुख पुरुषार्थ भी चालू ही है। जो स्वच्छन्दका पोषण करें—ऐसे जीवोंके लिये यह बात नही है।

(१०७) दो पंक्तियोंमें अद्भुत रचना !

अब ! दो पंक्तियोकी टीकामे तो आचार्यदेवने जगतके जीव और अजीव समस्त द्रव्योंकी स्वतंत्रताका नियम रखकर अद्भुत रचना की है। जीव अपने क्रमबद्धपरिणामोंसे उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नही है; इसीप्रकार अजीव भी अपने क्रमबद्धपरिणामों से उत्पन्न होता अजीव ही है, जीव नही है। जीव अजीवकी पर्यायको करता है या अजीव जीवकी पर्यायको करता है;—ऐसा जो माने

उसे जीव-अजीवके भिन्नत्वकी प्रतीति नही रहती अर्थात् मिथ्याश्रद्धा हो जाती है ।

(१०८) 'अभाव' है वहां 'प्रभाव' कैसे पाड़े ?

प्रश्न:—एक-दूसरेका कुछ कर नही सकते, किन्तु परस्पर निमित्त होकर प्रभाव तो पाड़ते है न ?

उत्तर:—किस प्रकार प्रभाव पाडते है ? क्या प्रभाव पाडकर परकी अवस्थाको कोई वदल सकता है ? कार्य हुआ उसमे निमित्त-का तो अभाव है, तव फिर उसने प्रभाव कैसे पाडा ? जीव अपने स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षासे सत् है, किन्तु परवस्तुके द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षासे वह असत् है, इसलिये परद्रव्यकी अपेक्षा-से वह अद्रव्य है, परक्षेत्रकी अपेक्षासे वह अक्षेत्र है, परकालकी अपेक्षासे वह अकाल है, और परवस्तुके भावकी अपेक्षासे वह अभावरूप है; तथा इस जीवके द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षासे अन्य सर्व वस्तुयें अद्रव्य-अक्षेत्र-अकाल और अभावरूप है । तव फिर कोई किसीमें प्रभाव पाड़े यह वात नही रहती । द्रव्य, क्षेत्र और भाव को तो स्वतन्त्र कहे, किन्तु काल अर्थात् स्वपर्याय परके कारण (निमित्तके कारण) होती है—ऐसा माने वह भी स्वतंत्र वस्तुस्वरूप-को नहीं समझा है । प्रत्येक वस्तु प्रतिसमय अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप-से उत्पन्न होती है अर्थात् उसका स्वकाल भी अपनेसे—स्वतत्र है ।

एक पण्डितजी ऐसा कहते है कि—"अमुक-अमुक द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावमें ऐसी शक्ति है कि निमित्त होकर दूसरे पर प्रभाव डालते है"—किन्तु यदि निमित्त प्रभाव डालकर परकी पर्याय-को बदल देता हो तो दो वस्तुओंकी भिन्नता ही कहां रही ? प्रभाव डालना कहना तो मात्र उपचार है । यदि परके द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अपनी पर्याय होना माने तो, अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से स्वयं नही है—ऐसा हो जाता है इसलिये अपनी नास्ति हो जाती है । इसी प्रकार स्वयं निमित्त होकर परकी अवस्था को करे तो सामने-

वाली वस्तुकी नास्ति हो जाती है। और कोई द्रव्य परका कार्य करे तो द्रव्य पररूप है—ऐसा हो गया, इसलिये अपने रूप नहीं रहा। जीवके स्वकालमे जीव है और अजीवके स्वकालमें अजीव है; कोई किसीका कर्ता नहीं है।

पुनश्च, निमित्तकी वलवानता वतलानेके लिये सूकरीके दूधका दृष्टान्त देते है कि—सूकरीके पेटमें दूध दो वहुत भरा हैं, किन्तु दूसरा कोई उसे नही निकाल सकता; उसके छोटे-छोटे बच्चों-के आकर्षक मुँहका निमित्त पाकर वह दूध झट उनके गलेमे उतर जाता है।—इसलिये देखो, निमित्तका कितना सामर्थ्य है!—ऐसा कहते है किन्तु भाई! दूधका प्रत्येक रजकण अपने स्वतंत्र क्रमवद्धभाव-से ही परिणमित हो रहा है। इसीप्रकार "हल्दी और चूनेके मिलनेसे लाल रग हुआ तो वहा एक दूसरे पर प्रभाव डालकर नई अवस्था हुई या नही ?"—ऐसा भी कोई कहते है, किन्तु वह वात सच्ची नही है। हल्दी और चूनेके रजकण एकमेक हुए ही नही है, उन दोनोंका प्रत्येक रजकण स्वतंत्ररूपसे अपने-अपने क्रमवद्धपरिणामसे ही उस अवस्थारूप उत्पन्न हुआ है, किसी दूसरेके कारण वह अवस्था नही हुई। जिसप्रकार हारमें अनेक मोती गुँथे है; उसी प्रकार द्रव्यमें अनादि-अनन्त पर्यायोकी माला है, उसमे प्रत्येक पर्यायरूपी मोती क्रमानुसार लगा है।

(१०९) प्रत्येक द्रव्य अपनी क्रमवद्धपर्यायके साथ तद्रूप है

पहले तो आचार्यदेवने मूल नियम बतलाया कि जीव और अजीव दोनो द्रव्य अपनी-अपनी क्रमवद्धपर्यायरूपसे उत्पन्न होते हैं; अब दृष्टान्त और उसका हेतु देते है। यहा दृष्टान्त भी "सुवर्ण" का दिया है;—जिसप्रकार सुवर्णको कभी जंग नही लगती, उस प्रकार यह मूलभूत नियम कभी नही फिरता। जिस प्रकार कंकनादि पर्यायोरूपसे उत्पन्न होनेवाले सुवर्णका अपने ककनादि परिणामोके साथ तादात्म्य है, उसी प्रकार सर्व द्रव्योंका अपने परिणामोके साथ

तादात्म्य है । सुवर्णमें चूडी आदि जो अवस्था हुई, उस अवस्थारूप-से वह स्वय ही उत्पन्न हुआ है, स्वर्णकार नही; यदि स्वर्णकार वह अवस्था करता हो तो उसमे वह तद्रूप होना चाहिये; किन्तु स्वर्णकार और हथौड़ी तो एक ओर पृथक् रहने पर भी वह ककनपर्याय तो रहती है, इसलिये स्वर्णकार या हथौडी उसमे तद्रूप नही है–सुवर्ण ही अपनी कंकनादिपर्यायमे तद्रूप है । इसप्रकार सर्व द्रव्योका अपने–अपने परिणामोके साथ ही तादात्म्य है—परके साथ नही ।

देखो, यह मेज पर्याय है, इसमे उस लकडीके परमाणु ही तद्रूप होकर उत्पन्न हुए है; वढ़ई या आरीके कारण यह अवस्था हुई है—ऐसा नही है । यदि वढईके द्वारा यह मेजरूप अवस्था हुई हो तो वढई इसमें तन्मय होना चाहिए; किन्तु इस समय वढई या आरी निमित्तरूपसे न होने पर भी उन परमाणुओमे मेजपर्याय वर्त रही है; इसलिये निश्चित् होता है कि यह वढ़ईका या आरीका काम नहीं है । इसी प्रकार प्रत्येक वस्तुका— उत्पन्न होती हुई अपनी क्रमबद्ध-पर्यायोके साथ ही तादात्म्यपना है, किन्तु साथमे सयोगरूपसे रहनेवाली अन्य वस्तुओके साथ उसका तादात्म्यपना नही है ।—ऐसा होनेसे जीवको अजीवके साथ कार्य-कारणपना नही है, इसलिये जीव अकर्ता है—यह बात आचार्यदेव युक्तिपूर्वक सिद्ध करेगे ।

★ पाँचवाँ प्रवचन ★

[आश्विन शुक्ला १, वीर स० २४८०]

देखो, इस क्रमवद्धपर्यायमे वास्तवमे तो ज्ञानस्वभावी आत्माकी बात है, क्योंकि क्रमवद्धपर्यायका ज्ञाता कौन ? "ज्ञायक" को जाने विना क्रमवद्धपर्याय को जानेगा कौन ? ज्ञायकस्वभावकी ओर उन्मुख होकर जो ज्ञायकस्वभाव–रूपसे परिणमित हुआ वह ज्ञायक अर्थात् अकर्ता हुआ, और वही क्रमबद्धपर्यायका ज्ञाता हुआ ।

(११०) क्रमबद्धपर्यायरूपसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञायक परका अकर्ता है

यह सर्वविशुद्धज्ञान-अधिकार है; सर्वविशुद्धज्ञान अर्थात् शुद्धज्ञायकभाव, वह परका अकर्ता है—यह बात यहाँ सिद्ध करना है।

अपने ज्ञायकभावकी क्रमबद्धपर्यायरूपसे उत्पन्न होता हुआ जीव परका कर्ता नही है और पर उसका कार्य नही है। पर्याय नई होती है उस अपेक्षासे वह "उत्पन्न होता है"—ऐसा कहा है। पहले वह पर्याय नही थी और नई प्रगट हुई—इसप्रकार पहलेकी अपेक्षासे वह नई उत्पन्न हुई कहलाती है; किन्तु उस पर्यायको निरपेक्षरूपसे देखे तो प्रत्येक समयकी पर्याय उस-उस समयका सत् है, उसकी उत्पत्ति और विनाश—वह तो पहलेके और बादके समयकी अपेक्षासे है।

"द्रव्यके विना पर्याय नही होती, अर्थात् द्रव्य और पर्याय—इन दो वस्तुओके विना कर्ताकर्मपना सिद्ध नही होता"—यह दलील तो तब आती है जब कर्ताकर्मपना सिद्ध करना हो; किन्तु "पर्याय भी निरपेक्ष सत् है"—ऐसा सिद्ध करना हो वहाँ यह बात नही आती। प्रत्येक समयकी पर्याय भी स्वयं अपनेसे सत् होनेसे "द्रव्यसे नही आलिंगित ऐसी शुद्धपर्याय है," पर्याय द्रव्यसे आलिंगित नही है अर्थात् निरपेक्ष है। (देखो, प्रवचनसार गाथा १७२, टीका) यहाँ यह बात सिद्ध करना है कि अपनी निरपेक्ष क्रमबद्धपर्यायसे उत्पन्न होता हुआ जीव उसमे तद्रूप है। द्रव्य अपनी पर्यायके साथ तद्रूप—एकमेक है, किन्तु परकी पर्यायके साथ तद्रूप नही है, इसलिये उसका परके साथ कर्ताकर्मपना नही है;—इसप्रकार ज्ञायक आत्मा अकर्ता है। यह कर्ताकर्म-अधिकार नही है किन्तु सर्वविशुद्धज्ञान-अधिकार है, इसलिये यहाँ ज्ञायकभाव परका अकर्ता है—ऐसा अकर्तापना सिद्ध करना है।

जीव अपने क्रमबद्ध परिणामोंसे उत्पन्न होता हुआ जीव ही

है—अजीव नहीं है। "उत्पन्न होता है"—कौन उत्पन्न होता है? जीव स्वयं। जीव स्वय जिस परिणामरूपसे उत्पन्न होता है उसके साथ उसे अनन्यपना—एकपना है; अजीवके साथ उसे अनन्यपना नही है इसलिये उसे अजीवके साथ कार्यकारणपना नही है। प्रत्येक द्रव्य को—स्वयं जिस परिणामरूपसे उत्पन्न होता है—उसीके साथ अनन्यपना है, दूसरेके परिणामोके साथ उसे अनन्यपना नही है। इसलिये वह अकर्ता है। आत्मा भी अपने ज्ञायकभावरूपसे उत्पन्न होता हुआ उसके साथ तन्मय है; वह अपने ज्ञानपरिणामके साथ एकमेक है, किन्तु परके साथ एकमेक नही है, इसलिये वह परका अकर्ता है। ज्ञायकरूपसे उत्पन्न होते हुए जीवको कर्मके साथ एकपना नहीं है, इसलिये वह कर्मका कर्ता नही है; ज्ञायकदृष्टिमे वह नये कर्मबन्धनको निमित्त भी नही होता इसलिये वह अकर्ता ही है।

(१११) कर्मके कर्तापनेका व्यवहार किसे लागू होता है?

प्रश्नः—यह तो निश्चयकी बात है, किन्तु व्यवहारसे तो आत्मा कर्मका कर्ता है न?

उत्तरः—ज्ञायकस्वरूप आत्मापर जिसकी दृष्टि नही है और कर्मपर दृष्टि है, ऐसा मिथ्यादृष्टि जीव ही कर्मका व्यवहारसे कर्ता है—यह बात आचार्यदेव अगली गाथाओमे कहेगे। इसलिये जिसे अभी कर्मके साथका सम्बन्ध तोडकर ज्ञायकभावरूप परिणमित नही होना है किन्तु कर्मके साथ कर्ताकर्मपनेका व्यवहार रखना है, वह तो मिथ्यादृष्टि ही है। मिथ्यात्वादि जडकर्मके कर्तापनेका व्यवहार अज्ञानीको ही लागू होता है।

प्रश्नः—तो फिर ज्ञानीको कौन-सा व्यवहार?

उत्तरः—ज्ञानीके ज्ञानमे तो अपने ज्ञायकस्वभावको जाननेकी मुख्यता है, और मुख्य वह निश्चय है, इसलिये अपने ज्ञायकस्वभावको जानना वह निश्चय है; और साधकदशामे बीचमे जो राग रहा है उसे जानना वह व्यवहार है। ज्ञानीको ऐसे निश्चय-व्यवहार एकसाथ

वर्तते है। किन्तु, मिथ्यात्वादि कर्मप्रकृतिके बन्धनमें निमित्त हो या व्यवहारसे कर्ता हो—ऐसा व्यवहार ज्ञानीके होता ही नही। उसे ज्ञायकदृष्टिके परिणमनमे कर्मके साथका निमित्त-नैमित्तिक-संबंध टूट गया है। अगली गाथाओमे आचार्यदेव यह वात विस्तारपूर्वक समझायेगे।

(११२) वस्तुका कार्यकाल

कार्यकाल कहो या क्रमबद्धपर्याय कहो, जीवका जो कार्यकाल है उसमे उत्पन्न होता हुआ जीव उससे अनन्य है, और अजीवके कार्यकालसे वह भिन्न है। जीवकी जो पर्याय हो उसमें अनन्यरूपसे जीवद्रव्य उत्पन्न होता है। उस समय जगतके अन्य जीव-अजीव द्रव्य भी सव अपने-अपने कार्यकालमे—क्रमबद्धपर्यायसे—उत्पन्न होते हैं, किन्तु उन किसीके साथ इस जीवकी एकता नही है।

उसी प्रकार, अजीवका जो कार्यकाल है उसमें उत्पन्न होता हुआ अजीव उससे अनन्य है, और जीवके कार्यकालसे वह भिन्न है। अजीवके एक-एक परमाणुकी जो पर्याय होती है उसमें अनन्यरूपसे वह परमाणु उत्पन्न होता हैं, उसे दूसरेके साथ एकता नही है। शरीरका हलन-चलन हो, भाषा बोली जाये,—इत्यादि पर्यायोरूपसे अजीव उत्पन्न होता है, वह अजीवकी क्रमबद्धपर्याय है, जीवके कारण वह पर्याय नही होती।

(११३) निषेध किसका? निमित्तका या निमित्ताधीनदृष्टिका?

प्रश्न.—आप क्रमवद्धपर्याय होना कहते है, उसमें निमित्तका तो निषेध हो जाता है।

उत्तर:—क्रमवद्धपर्याय माननेसे निमित्तका सर्वथा निषेध नही हो जाता, किन्तु निमित्ताधीनदृष्टिका निषेध हो जाता है। पर्यायमे अमुक निमित्त-नैमित्तिकसम्वन्ध भले हो, किन्तु यहाँ ज्ञायकदृष्टिमे उसकी वात नही है। क्रमवद्धपर्याय माननेसे निमित्त होनेका

सर्वथा निषेध भी नही होता, तथा निमित्तके कारण कुछ होता है–यह बात भी नही रहती। निमित्त पदार्थ उसके क्रमवद्ध स्वकालसे अपनेमें उत्पन्न होता है और नैमित्तिक पदार्थ भी उसके स्वकालसे अपनेमे उत्पन्न होता है; इस प्रकार दोनोका भिन्न-भिन्न अपनेमें परिणमन हो ही रहा है। "उपादानमे पर्याय होनेकी योग्यता तो है, किन्तु यदि निमित्त आये तो होती है, और न आये तो नही होती"—यह मान्यता मिथ्यादृष्टिकी है। पर्याय होनेकी योग्यता हो और पर्याय न हो—ऐसा हो ही नही सकता। उसी प्रकार, यहाँ क्रमबद्धपर्याय होनेका काल हो और उस समय उसके योग्य निमित्त न हो—ऐसा भी हो ही नही सकता। यद्यपि निमित्त तो परद्रव्य है, वह कहीं उपादानके आधीन नही है; किन्तु वह परद्रव्य उसके अपने लिये तो उपादान है, और उसका भी क्रमवद्धपरिणमन हो ही रहा है। यहाँ, आत्माको अपने ज्ञायकस्वभावसन्मुखके क्रमवद्धपरिणमनसे छट्ठे-सातवे गुणस्थानकी भावलिंगी मुनिदशा प्रगट हो, वहाँ निमित्तमें द्रव्यलिंगरूपसे शरीरकी दिगम्बर दशा ही होती है—ऐसा उसका क्रम है। कोई मुनिराज ध्यानमें वैठे हो और कोई अज्ञानी आकर उनके शरीर पर वस्त्र डाल जाये तो वह कही परिग्रह नही है, वह तो उपसर्ग है। सम्यग्दर्शन हुआ वहाँ कुदेवादिको माने ऐसा क्रमबद्धपर्यायमें नही होता, और मुनिदशा हो वहाँ वस्त्र-पात्र रखे ऐसा क्रमवद्धपर्यायमे नही होता,—इस प्रकार सर्व भूमिकाओको समझ लेना चाहिये।

(११४) योग्यता और निमित्त (सर्व निमित्त धर्मास्तिकायवत् हैं)

'इष्टोपदेश'में (३५ वी गाथामे) कहा है कि कोई भी कार्य होनेमे वास्तविक रूपसे उसकी अपनी योग्यता ही साक्षात् साधक है, अर्थात् प्रत्येक वस्तुकी अपनी योग्यतासे ही कार्य होता है, वहाँ दूसरी वस्तु तो धर्मास्तिकायवत् निमित्तमात्र है। जिस प्रकार अपनी योग्यतासे स्वयं गति करनेवाले पदार्थोंको धर्मास्तिकाय तो सर्वत्र विछा हुआ निमित्त है, वह कही किसीको गति नहीं कराता; उसी

प्रकार प्रत्येक वस्तुमें अपनी क्रमवद्धपर्यायकी योग्यतासे ही कार्य होता है, उसमे जगतकी दूसरी वस्तुये तो मात्र धर्मास्तिकायवत् हैं। देखो, यह इष्ट–उपदेश। ऐसी स्वाधीनताका उपदेश ही इष्ट है, हितकारी है, यथार्थ है। इससे विपरीत मान्यताका उपदेश हो तो वह इष्ट–उपदेश नही है किन्तु अनिष्ट है। जैनदर्शनका उपदेश कहो ....आत्माके हितका उपदेश कहो....इष्ट उपदेश कहो....यथार्थ उपदेश कहो....सत्यका उपदेश कहो...अनेकान्तका उपदेश कहो या सर्वज्ञ-भगवानका उपदेश कहो...वह यह है कि–जीव और अजीव प्रत्येक वस्तुमे अपनी–अपनी क्रमवद्धयोग्यतासे ही कार्य होता है, परसे उसमें कुछ भी नही होता। वस्तु अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप अपनी योग्यतासे ही स्वय परिणमित हो जाती है, दूसरी वस्तु तो धर्मास्ति-कायवत् निमित्तमात्र है। यहाँ धर्मास्तिकायका उदाहरण देकर पूज्यपादस्वामीने निमित्तका स्वरूप बिलकुल स्पष्ट कर दिया है।

धर्मास्तिकाय तो समस्त लोकमें सदैव ज्योंका त्यों स्थित है; जो जीव या पुद्गल स्वयं अपनी योग्यतासे ही गति करते है, उन्हें वह निमित्तमात्र है। गतिरूपसे 'स्वय परिणमितको' ही निमित्त है; स्वयं परिणमित न होनेवालेको वह परिणमित नही कराता; और न निमित्त भी होता है।

"योग्यताके समय निमित्त न हो तो?" ऐसी शंका करने-वाला वास्तवमे योग्यताको या निमित्तके स्वरूपको नही जानता। जिसप्रकार कोई पूछता है कि—"जीव–पुद्गलमे गति करनेकी योग्यता तो है, किन्तु धर्मास्तिकाय न हो तो?"—तो ऐसा पूछनेवाला वास्तवमे जीव–पुद्गलकी योग्यताको या धर्मास्तिकायको भी नही जानता है; क्योंकि गतिके समय सदैव धर्मास्तिकाय निमित्तरूप-से होता ही है, जगतमे धर्मास्तिकाय न हो ऐसा कभी होता ही नही।

"योग्यताके समय निमित्त न हो तो?"

"गतिकी योग्यताके समय धर्मास्तिकाय न हो तो?"

"पानी गर्म होनेकी योग्यताके समय अग्नि न हो तो?"

"मिट्टीमें घड़ा होनेकी योग्यताके समय कुम्हार न हो तो?"

"जीवमें मोक्ष होनेकी योग्यता हो, किन्तु वज्रर्षभनाराच-संहनन न हो तो?"

—यह सब प्रश्न एक ही प्रकारके—निमित्ताधीन दृष्टिवालेके—है। इसी प्रकार गुरु-शिष्य, क्षायकसम्यक्त्व और केवली-श्रुतकेवली-आदि सभीमे समझ लेना चाहिये। जगतमे जीव या अजीव प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने नियमित स्वकालकी योग्यतासे ही परिणमित होता है, उस समय दूसरी वस्तु निमित्तरूप हो वह "गतेः धर्मास्तिकायवत्" है। कोई भी कार्य होनेमे वस्तुकी "योग्यता ही" निश्चयकारण है; दूसरा कारण कहना वह "गतिमे धर्मास्तिकायवत्" उपचारमात्र है, अर्थात् वास्तवमे वह कारण नही है। अपनी क्रमवद्धपर्यायिरूपसे वस्तु स्वयं ही उत्पन्न होती है—यह नियम समझे तो निमित्ताधीनदृष्टिकी सब गुत्थियाँ सुलझ जाये। वस्तु एक समयमें उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वरूप है। एक समयमे अपनी क्रमवद्धपर्यायरूपसे उत्पन्न होती है, उसी समय पूर्व पर्यायसे व्ययको प्राप्त होती है, और उसी समय अखण्डतारूपसे ध्रुव स्थिर रहती है—इस प्रकार उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप वस्तु स्वय वर्तती है; एक वस्तुके उत्पाद-व्यय-ध्रुवमे बीचमें कोई दूसरा द्रव्य घुस जाये—ऐसा नही होता।

जिस प्रकार वास्तवमे मोक्षमार्ग तो एक ही है, किन्तु उसका निरूपण दो प्रकारसे है; निश्चयरत्नत्रयको मोक्षमार्ग कहना वह तो वास्तवमें मोक्षमार्ग है, और शुभरागरूप व्यवहाररत्नत्रयको मोक्षमार्ग कहना वह वास्तवमे मोक्षमार्ग नही है, किन्तु उपचारमात्र है।

उसी प्रकार कार्यका कारण वास्तवमे एक ही है। वस्तुकी योग्यता ही सच्चा कारण है, और निमित्तको दूसरा कारण कहना वह सच्चा कारण नही है, किन्तु उपचारमात्र है।

इसी प्रकार कार्यका कर्ता भी एक ही है, दो कर्ता नहीं हैं। दूसरेको कर्ता कहना वह उपचारमात्र है।

(११५) प्रत्येक द्रव्यका स्वतंत्र परिणमन जाने बिना भेदज्ञान नहीं होता

यहाँ कहते है कि द्रव्य उत्पन्न होता हुआ अपने परिणामसे अनन्य है; इसलिये उस परिणमनके कर्ता दो नही होते। एक द्रव्यके परिणाममे दूसरा द्रव्य तन्मय नही होता, इसलिये दो कर्ता नही होते; उसी प्रकार एक द्रव्य दो परिणाममें (अपने और परके— दोनोके परिणाममे) तन्मय नही होता, इसलिये एक द्रव्य दो परिणाम नही करता। नाटक-समयसारमें पण्डित बनारसीदासजी कहते है कि—

करता परिनामी दरव,
करमरूप परिनाम।
किरिया परजयकी फिरनी
वस्तु एक त्रय नाम ॥ ७ ॥

अर्थात्—अवस्थारूपसे जो द्रव्य परिणमित होता है वह कर्ता है; जो परिणाम होते है वह उसका कर्म है; और अवस्थासे अवस्थान्तर होना वह क्रिया है। यह कर्ता, कर्म और क्रिया वस्तुरूपसे भिन्न नही है, अर्थात् वे भिन्न-भिन्न वस्तुमें नही रहते। पुनश्च—

एक परिनामके न करता दरव दोइ,
दोई परिनाम एक दर्व न धरतु है।
एक करतूति दोइ दर्व कबहूँ न करैं,
दोइ करतूति एक दर्व न करतु है ॥
जीव पुद्गल एक खेत-अवगाही दोउ,
अपने अपने रूप कोउ न टरतु है।
जड परनामनिकौ करता है पुद्गल,
चिदानन्द चेतन सुभाउ आचरतु है ॥ १० ॥

अर्थात्—एक परिणामके कर्ता दो द्रव्य नही होते; एक द्रव्य दो परिणामोको नही करता। एक क्रियाको दो द्रव्य कभी नही करते, तथा एक द्रव्य दो क्रियाये नही करता।

जीव और पुद्‌गल यद्यपि एक क्षेत्रमे रहते है, तथापि अपने-अपने स्वभावको कोई नही छोडते। पुद्‌गल तो उसके जड-परिणामका कर्ता है, और चिदानन्दआत्मा अपने चेतनस्वभावका आचरण करता है।

—इस प्रकार प्रत्येक द्रव्यके भिन्न-भिन्न स्वतंत्र परिणमनको जबतक जीव न जाने तवतक परसे भेदज्ञान नही होता और स्वभाव-मे एकता प्रगट नही होती, इसलिये सम्यग्दर्शनादि कुछ नही होते।

(११६) जो पर्यायमें तन्मय हो वही उसका कर्ता

क्रमवद्धपरिणामसे परिणमित द्रव्य अपनी पर्यायके साथ एकमेक है,—यह सिद्धांत समझानेके लिये आचार्यदेव यहाँ सुवर्णका दृष्टांत देते है। जिस प्रकार सुवर्णमे कुण्डलादि जो अवस्था हुई उसके साथ वह सुवर्ण एकमेक है, पृथक् नही है, सुवर्णकी अवस्थासे स्वर्णकार पृथक् है किन्तु सुवर्ण पृथक् नही है। उसी प्रकार जगतके जीव या अजीव सर्व द्रव्य अपनी-अपनी जो अवस्था होती है उसके साथ एकमेक है, दूसरेके साथ एकमेक नही है, इसलिये वे दूसरेके अकर्ता है। जो पर्याय हुई, उस पर्यायमे जो तन्मय हो वही उसका कर्ता होता है, किन्तु उससे जो पृथक् हो वह उसका कर्ता नही होता—यह नियम है। जैसे कि—

घडा हुआ, वहाँ उस घडारूप अवस्थाके साथ मिट्टीके परमाणु एकमेक है, किन्तु कुम्हार उसके साथ एकमेक नही है, इसलिये कुम्हार उसका अकर्ता है।

वस्त्र हुआ, वहाँ उस वस्त्ररूप पर्यायके साथ ताने-वानेके परमाणु एकमेक है, किन्तु बुनकर उसके साथ एकमेक नही है, इसलिये वह उसका अकर्ता है।

आलमारी हुई, वहाँ उस आलमारीकी अवस्थाके साथ लकड़ीके परमाणु एकमेक है, किन्तु वढ़ई उसके साथ एकमेक नही है, इसलिये वह उसका अकर्ता है।

रोटी हुई, वहाँ रोटीके साथ आटेके परमाणु एकमेक हैं, किन्तु स्त्री (रसोई बनानेवाली) उसके साथ एकमेक नही है, इसलिये स्त्री रोटीकी अकर्ता है।

सम्यग्दर्शन हुआ, वहाँ उस पर्यायके साथ आत्मा स्वयं एकमेक है, इसलिये आत्मा उसका कर्ता है, किन्तु अजीव उसमें एकमेक नही है इसलिये वह अकर्ता है। इसप्रकार सम्यग्ज्ञान, सुख, आनन्द सिद्धदशा आदि सर्व अवस्थाओमें समझ लेना चाहिए। उस-उस अवस्थारूपसे उत्पन्न होता हुआ जीव ही उसमें तद्रूप होकर उसका कर्ता है; वह अजीव नही है इसलिये अजीवके साथ उसे कार्य-कारणपना नही है।

(११७) ज्ञाता रागका अकर्ता

यहाँ तो आचार्यदेव यह सिद्धान्त समझाते है कि—ज्ञायक-स्वभावसन्मुख होकर जो जीव ज्ञातापरिणामरूपसे उत्पन्न हुआ वह जीव रागका भी अकर्ता है; अपने ज्ञातापरिणाममें तन्मय होनेसे उसका कर्ता है और रागका अकर्ता है, क्योकि रागमे वह तन्मय नही है। ज्ञायकभावमें जो तन्मय हुआ वह रागमें तन्मय नही होता, इसलिये वह रागका अकर्ता ही है।

—ऐसे ज्ञातास्वभावको जानना वह निश्चय है। स्वसन्मुख होकर ऐसा निश्चयका ज्ञान करे तो, किस पर्यायमें कैसा राग होता है और वहाँ निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध किस प्रकारका होता है,—उस सव व्यवहारका भी यथार्थ विवेक हो जाता है।

(११८) निश्चय-व्यवहारका आवश्यक स्पष्टीकरण

कई लोग कहते हैं कि यह तो निश्चयकी वात है, किन्तु

व्यवहारसे तो जीव जडकर्मका कर्ता है! तो आचार्यदेव कहते है कि—अरे भाई! जिसकी दृष्टि ज्ञायक पर नही है और कर्म पर है ऐसे अज्ञानीको ही कर्मके कर्तापनेका व्यवहार लागू होता है; ज्ञायक-दृष्टिवाले ज्ञानीको वैसा व्यवहार लागू नही होता। ज्ञायकस्वभावी जीव मिथ्यात्वादि कर्मका अकर्ता होने पर भी उसे कर्मका कर्ता कहना वह व्यवहार है; और वह व्यवहार अज्ञानीको ही लागू होता है। ज्ञायकस्वभावकी दृष्टिवाला ज्ञानी तो अकर्ता ही है।

सुवर्णकी जो अवस्था हुई उसका स्वर्णकार अकर्ता है, तथापि उसे निमित्तकर्ता कहना वह व्यवहार है। जो कर्ता है उसे कर्ता जानना वह निश्चय, और अकर्ताको कर्ता कहना वह व्यवहार है। जीव अपनी क्रमबद्धअवस्थारूपसे उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, और अजीव अपनी क्रमबद्धअवस्थारूपसे उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है। जीव अजीवकी अवस्थाका अकर्ता है और अजीव जीवकी अवस्था-का अकर्ता।—इसप्रकार जैसे जीव–अजीवको परस्पर कर्तापना नही है उसी प्रकार उनको परस्पर कर्मपना, करणपना, सम्प्रदानपना, अपादानपना या अधिकरणपना भी नही है। मात्र निमित्तपनेसे उन्हे एक—दूसरेका कर्ता, कर्म, करण आदि कहना वह व्यवहार है। निमित्तसे कर्ता यानी वास्तवमे अकर्ता, और अकर्ताको कर्ता कहना वह व्यवहार। निश्चयसे अकर्ता हुआ तब व्यवहारका ज्ञान सच्चा हुआ। ज्ञायकस्वभावकी ओर ढलकर जो ज्ञाता हुआ वह रागको रागरूपसे जानता है किन्तु वह रागमे ज्ञानकी एकता नही करता, इसलिये वह ज्ञाता तो रागका भी अकर्ता है।

(११९) क्रमबद्धपर्यायका मूल

देखो, इस क्रमबद्धपर्यायमे वास्तवमे तो ज्ञानस्वभावी आत्मा-की बात है, क्योकि क्रमबद्धपर्यायका ज्ञाता कौन? "ज्ञायक" को जाने विना क्रमबद्धपर्यायको जानेगा कौन? ज्ञायकस्वभावकी ओर ढलकर जो ज्ञायकभावरूप परिणमित हुआ वह ज्ञायक हुआ अर्थात्

अकर्ता हुआ, और वही क्रमबद्धपर्यायका ज्ञाता हुआ। "ज्ञायक" कहो या "अकर्ता" कहो; ज्ञायक परका अकर्ता है। ज्ञायकस्वभावकी ओर ढलकर ऐसा भेदज्ञान करे, फिर साधकदशामे भूमिकानुसार जो व्यवहार रहा उसे ज्ञानी जानता है, इसलिये "व्यवहारनय उस काल जाना हुआ प्रयोजनवान है"—यह वात उसे लागू होती है मिथ्यादृष्टि-को नही। मिथ्यादृष्टि तो ज्ञायकको भी नही जानता, और व्यवहारका भी उसे सच्चा ज्ञान नही होता।

द्रव्य अपनी जिस क्रमवद्धपर्यायरूपसे उत्पन्न होता है वह पर्याय ही उसका कार्य है, दूसरा उसका कार्य नही है। इसप्रकार एक कर्ताके दो कार्य नही होते, इसलिये जीव-अजीवको परस्पर कार्य-कारणपना नही है। निगोदसे लेकर सिद्ध तकके समस्त जीव और एक परमाणुसे लेकर अचेतन महास्कन्ध, तथा दूसरे चार अजीव द्रव्य,—उन सवको अपने-अपने उसकालके क्रमबद्ध उत्पन्न होनेवाले परिणामोके साथ तद्रूपपना है। पर्याये अनादि अनन्त क्रमवद्ध होने पर भी उनमे वर्तमानरूपसे तो एक ही पर्याय वर्तती है, और उस उस समय वर्तती हुई पर्यायमे द्रव्य तद्रूपतासे वर्त रहा है। वस्तुको तो जब देखो तव वर्तमान है, जव देखो तब वर्तमान उस समयको पर्याय सत् है, उस वर्तमानके पहले हो जानेवाली पर्याये भूतकालमे है और वादमे होनेवाली पर्याये भविष्यमे है, वर्तमान पर्याय एक समय भी आगे-पीछे होकर भूत या भविष्यकी पर्यायरूप नही हो जाती; उसीप्रकार भविष्यकी पर्याय भूतकालकी पर्यायरूप नही होती या भूतकालकी पर्याय भविष्यकी पर्यायरूप नही हो जाती। अनादि-अनन्त प्रवाहक्रममे प्रत्येक पर्याय अपने-अपने स्थान पर ही प्रकाशित रहती है; इसप्रकार पर्यायोकी क्रमबद्धता है।—यह बात प्रवचनसार की ९९ वी गाथामे प्रदेशोके विस्तारक्रमका दृष्टान्त देकर अलौकिक रीतिसे समझाई है।

(१२०) क्रमवद्धपर्यायमें क्या-क्या आया ?

प्रश्न:—"क्रमवद्ध" कहनेसे भूतकालकी पर्याय भविष्यरूप,

या भविष्यकी पर्याय भूतकालरूप नही होती—यह वात तो ठीक है; किन्तु इस समय यह पर्याय ऐसी ही होगी—यह वात इस क्रमबद्ध-पर्यायमें कहाँ आई ?

उत्तरः—क्रमबद्धपर्यायमें जिस समयके जो परिणाम है वे सत् हैं; और उस परिणामका स्वरूप कैसा होता है वह भी उसमे साथ ही आ जाता है। "मैं ज्ञायक हूँ" तो मेरे ज्ञेयरूपसे समस्त पदार्थोंके तीनोंकालके परिणाम क्रमवद्ध सत् है—ऐसा निर्णय उसमें हो जाता है। यदि ऐसा न माने तो उसने अपने ज्ञायकभावके पूर्ण सामर्थ्यको ही नहीं माना है। मै ज्ञायक हूँ और पदार्थोंमें क्रमवद्ध-पर्याय होती है—यह बात जिसे नही जमती उसे निश्चय-व्यवहारके या निमित्त-उपादान आदिके झगडे खडे होते है, किन्तु यह निर्णय करे तो सव झगडे शान्त हो जाये और भूल दूर होकर मुक्ति हुए बिना न रहे।

(१२१) जहाँ रुचि वहाँ जोर

"निमित्तसे और व्यवहारसे तो आत्मा कर्मका कर्ता है न! —ऐसा अज्ञानी जोर देता है, किन्तु भाई! तेरा जोर उल्टा है; तू कर्मकी ओर जोर देता है किन्तु "आत्मा अकर्ता है—ज्ञान ही है"—इसप्रकार ज्ञायक पर जोर क्यों नही देता ? जिसे ज्ञायककी रुचि नही है और रागकी रुचि है वही कर्मके कर्तापने पर जोर देता है।

क्रमबद्धपर्यायका यथार्थ निर्णय करनेवाला कालके प्रवाह-की ओर नही देखता, किन्तु ज्ञायकस्वभावकी ओर देखता है; क्योकि वस्तुकी क्रमबद्धपर्याय कही कालके कारण नही होती। कालद्रव्य तो परिणमनमे सर्व द्रव्योंको एकसाथ निमित्त है, तथापि कोई परमाणु स्कन्धमें जुडे, तो उसी समय दूसरा परमाणु उसमेसे पृथक् होता है, एक जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है और दूसरा जीव उसी समय केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है,—इसप्रकार जीव-अजीव द्रव्योमे अपनी-अपनी योग्यतानुसार भिन्न-भिन्न अवस्थारूपसे क्रमवद्ध परिणाम होते

है। इसलिये, अपने ज्ञानपरिणामका प्रवाह जहाँसे वहता है—ऐसे ज्ञायकस्वभाव पर दृष्टि रखकर ही क्रमबद्धपर्यायका यथार्थ ज्ञान होता है।

(१२२) तद्रूप और कद्रूप; [ज्ञानीको दिवाली, अज्ञानीको होली]

क्रमबद्धपर्यायरूपसे परिणमित होनेवाला द्रव्य अपने परिणामके साथ "तद्रूप" है;—ऐसा न मानकर दूसरा कर्ता माने तो उसने द्रव्यके साथ पर्यायको तद्रूप नही माना किन्तु परके साथ तद्रूप माना, इसलिये उसकी मान्यता कद्रूप हुई—मिथ्या हुई। पर्यायको अंतरोन्मुख करके ज्ञायकभावके साथ तद्रूप करना चाहिये, उसके बदले परके साथ तद्रूप मानकर कद्रूप की, उसने दिवालीके बदले होली की है। जिसप्रकार होलीके बदले दिवालीके त्योहारमे मुँह पर कालिख पोतकर मुँह काला करले तो उसे मूर्ख कहा जायेगा, उसी प्रकार "दि....वाली" यानी अपनी निर्मल स्वपर्याय; उसमें स्वयं तद्रूप होना चाहिये उसके बदले अज्ञानी परके साथ अपनी तद्रूपता मानकर अपनी पर्यायको मलिन करता है, इसलिये वह दिवालीके बदले अपने गुणोंकी होली जलाता है। भाई, "दि" अर्थात् स्वकालकी पर्याय, उसे "वाल" (झुका) अपने आत्मामे,—तो तेरे घर पर दिवालीके दीपक जगमगा उठे अर्थात् सम्यग्ज्ञानके दीप जल उठे और मिथ्यात्वकी होली दूर हो जाये। स्वकालकी पर्यायको अन्तरोन्मुख न करके परके साथ एकत्व मानकर, उस विपरीत मान्यतामें अज्ञानी अपने गुणोको होम (जला) देता है इसलिये उसमे गुणोंकी होली जलती है—गुणोंकी निर्मलदशा प्रगट होनेके बदले मलिनदशा प्रगट होती है; उसमे आत्माकी शोभा नही है।

स्वभावसन्मुख होकर क्रमबद्ध आये हुए निर्मल स्वकालके साथ तद्रूपता धारण करे उसमे आत्माकी शोभा और प्रभुता है। अपनी-अपनी पर्यायके साथ तद्रूपता धारण करे उसीमे प्रत्येक द्रव्यकी प्रभुता है; यदि उसकी पर्यायमें दूसरा कोई तद्रूप होकर उसे करे

तो उसमें द्रव्यकी प्रभुता नहीं रहती; अथवा आत्मा स्वय परके साथ तद्रूपता मानकर उसका कर्ता होने जाये तो उसमें भी अपनी या परकी प्रभुता नही रहती। जो परका कर्ता होने जाये वह अपनी प्रभुताको भूलता है। क्रमबद्धपर्यायका ज्ञातापना न मानकर उसमे उल्टा-सीधा करना माने तो वह जीव अपने ज्ञाताभावके साथ तद्रूप न रहकर मिथ्यादृष्टि—कद्रूप हो जाता है।

(१२३) यह है जैनशासनका सार !

अहो, प्रत्येक द्रव्य स्वय ही अपनी क्रमबद्धपर्यायसे उत्पन्न होता हुआ उस-उस परिणाममे तद्रूप होकर उसे करता है, किन्तु दूसरे परिणामको नही करता;-इस एक सिद्धान्तमे छहों द्रव्योके तीनोकालके परिणमनके हलकी चावी आ जाती है, सब समाधान हो जाते है। मै ज्ञायक, और पदार्थोंमे स्वतन्त्र क्रमबद्धपरिणमन—बस इसमे सव सार आ गया। अपने ज्ञायकस्वभावका और पदार्थोंके क्रमवद्धपरिणमनकी स्वतंत्रताका निर्णय करके, स्वय अपने ज्ञायक-स्वभावमे अभेद होकर परिणमित हुआ, वहाँ स्वयं ज्ञायक ही रहा और परका अकर्ता हुआ, उसका ज्ञान रागादिसे पृथक् होकर "सर्वविशुद्ध" हुआ।—इसका नाम जैनशासन और इसका नाम धर्म।

"योग्यताको ही" कार्यकी साक्षात् साधक कहकर इष्टोपदेशमे स्वतत्रताका अलौकिक उपदेश किया है। "इष्टोपदेश" को "जैनका उपनिषद्" भी कहते है। वास्तवमे वस्तुकी स्वतत्रता बतलाकर आत्माको अपने ज्ञायकस्वभावकी ओर ले जाये वही इष्ट-उपदेश है; और वही जैनधर्मका मर्म है, इसलिये जैनका उपनिषद् है।

(१२४) "—विरला बूझे कोई !"

यह वात समझे विना उपादान-निमित्तका भी यथार्थ ज्ञान नही होता। उपादान और निमित्त दोनो वस्तुये है अवश्य, उनका ज्ञान करानेके लिये शास्त्रोमे उनका वर्णन किया है, वहा अज्ञानी अपनी विपरीत दृष्टिसे उपादान-निमित्तके नामसे उल्टा स्व-परकी

एकत्वबुद्धिका पोषण करता है, "देखो शास्त्रमें निमित्त तो कहा है न ? दो कारण तो कहे है न ?"—ऐसा कहकर उल्टा स्व-परकी एकत्वबुद्धिको घोटता है। प० बनारसीदासजी कहते है कि:—

उपादान निजगुण जहा तहां निमित्त पर होय ।
भेदज्ञान परमाण विधि विरला बूझे कोय ॥ ४ ॥

अर्थात्—जहा उपादानकी अपनी निजशक्तिसे कार्य होता है वहां दूसरी वस्तु निमित्त होती है; इसप्रकार उपादान और निमित्त दोनों वस्तुये तो है, किन्तु वहां उपादानकी अपनी योग्यतासे ही कार्य होता है, और निमित्त तो उसमें अभावरूप—अकिंचित्कर है;—ऐसी भेदज्ञानकी यथार्थ विधि कोई विरले ही जानते है, अर्थात् सम्यक्त्वी जानते है।

(१२५) यहाँ सिद्ध करना है—आत्माका अकर्तृत्व

अभी तक आचार्यदेवने यह बात सिद्ध की है कि—"प्रथम तो जीव क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणामोसे उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नही है; इसीप्रकार अजीव भी क्रमबद्ध अपने परिणामोसे उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नही है, क्योकि जिस प्रकार सुवर्णका कंकनादि परिणामोके साथ तादाम्य है उसी प्रकार सर्व द्रव्योको अपने परिणामोके साथ तादात्म्य है।"

अब इस सिद्धान्त परसे जीवका अकर्तृत्व सिद्ध करनेके लिये आचार्यदेव कहते है कि-"इसप्रकार जीव अपने परिणामोसे उत्पन्न होता है, तथापि उसका अजीवके साथ कार्यकारणभाव सिद्ध नही होता×××" कर्ता होकर अपने ज्ञायकपरिणामरूपसे उत्पन्न होता हुआ जीव, कर्मके बन्धनका भी कारण हो-ऐसा नही होता। इस प्रकार उसका अकर्तृत्व है।

(१२६) "एक"का कर्ता "दो"का कर्ता नहीं है
(ज्ञायकके अकर्तृत्वकी सिद्धि)

प्रश्न:—यदि जीव अपने परिणामसे उत्पन्न होता है और उसमें तद्रूप होकर उसे करता है, तो एकके साथ दूसरेका भी करे उसमें क्या हर्ज? "एकका ग्वाला वह दो का ग्वाला" —यानी जो ग्वाल एक गाय चराने ले जाता है वह साथमे दो ले जाये तो उसमे उसे क्या परिश्रम? अथवा "एक की रसोई वनाना वहाँ साथमे दो-की वना लेना।" उसी प्रकार कर्ता होकर एक अपना करे वह साथमे दूसरेका भी कर दे तो क्या हर्ज? जीव स्वय ज्ञानकरूपसे उत्पन्न भी हो और कर्मको भी बाँध ले—इसमे क्या आपत्ति है?

उत्तर.—प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्यायके साथ तद्रूप है, इसलिये उसे तो करता है, किन्तु परके साथ तद्रूप नही है, इसलिये उसका वह कर्ता नही है। परके साथ तद्रूप हो तभी परको करे, किन्तु ऐसा तो कभी हो नही सकता। इसलिये "गायके ग्वाले" जैसी लौकिक कहावत यहाँ लागू नही होती। स्वभाव-सन्मुख होकर जो जीव अपने ज्ञायकभावरूपसे परिणमित हुआ, वह अपने ज्ञायकभावके साथ तद्रूप है, इसलिये उसका तो वह कर्ता है, किन्तु रागादिभावोके साथ वह तद्रूप नही है इसलिये वास्तवमें रागका कर्ता नही है, इसलिये कर्मके कर्तृत्वका व्यवहार भी उसे लागू नही होता। इससे आचार्यदेव कहते है कि—"जीव अपने परिणामोसे उत्पन्न होता है, तथापि उसे अजीव-के साथ कार्यकारणभाव सिद्ध नही होता।"

कौन-सा जीव?....कहते है कि ज्ञानी;

कैसे परिणाम?....कहते है कि ज्ञाता-दृष्टाके निर्मल परिणाम—ज्ञानी अपने ज्ञाता-दृष्टाको निर्मल परिणामरूपसे उत्पन्न होता है, किन्तु अजीव कर्मोके वन्धका कारण नही होता; क्योकि उसे अपने ज्ञायकभावके साथ ही एकता है, रागादिकी कर्मके साथ एकता नही

है, इसलिये वह रागादिका और कर्मका अकर्ता ही है। जीव अपने ज्ञायकपरिणामका कर्ता हो और साथ ही साथ अजीवमें नये कर्म बांधनेमें भी निमित्त हो—ऐसा नहीं होता। नये कर्मोंमें यहां मुख्यरूपसे मिथ्यात्वादि ४१ प्रकृतियोंकी बात लेना है,—उनका बन्धन ज्ञानीको होता ही नहीं। ज्ञानीको अपने निर्मल ज्ञान परिणामके साथ कार्यकारणपना है, किन्तु अजीवके साथ या रागादिके साथ उसे कार्य-कारणपना नहीं है, इसलिये वह अकर्ता है।

(१२७) व्यवहार कौनसा? और किसको?

प्रश्नः—यह तो निश्चयकी बात हुई, अब व्यवहार समझाइये?

उत्तरः—जो यह निश्चयरूप समझ ले उसे व्यवहारकी खबर पड़ती है। ज्ञाता जागृत हुआ और स्व-पर प्रकाशक शक्ति विकसित हुई तब निमित्त और व्यवहार कैसे होते हैं उन्हें वह जानता है। स्वयं रागसे अधिक होकर ज्ञायकरूपसे परिणमित होता हुआ चारित्रमें अस्थिरताका जो राग है उसे भी जानता है—वह ज्ञानीका व्यवहार है। किन्तु जहां निश्चयका भान नहीं है, ज्ञाता जागृत नहीं हुआ है, वहां व्यवहारको जानेगा कौन? वह अज्ञानी तो रागको भला जानते हुए उसीमें एकता मान लेता है, इसलिये उसे तो राग ही निश्चय हो गया, रागसे पृथक् कोई रागका ज्ञाता नहीं रहा। यहां तो जागृत होकर ज्ञानकी अधिकतारूपसे परिणमित होता हुआ शेष अल्प रागको भी जाने वह व्यवहार है। परमार्थज्ञेय तो अपना ज्ञायक आत्मा ही है, और राग वह ज्ञानीका व्यवहारज्ञेय है। किन्तु जिसे ज्ञायकस्वभावकी दृष्टि नहीं है और "कर्मका व्यवहारकर्ता तो हूँ न!"—ऐसी दृष्टि है, उसके लिये आचार्यदेव अगली गाथा कहेंगे कि कर्मके साथ कर्तापनाका व्यवहार अज्ञानी—मिथ्यादृष्टिको ही लागू होता है।

☆

★ छठवाँ प्रवचन ★

[आश्विन शुक्ला २, वीर स० २४८०]

भाई, पचपरमेष्ठी भगवान ही हमारे "प च" हैं। ज्ञायकस्वभाव और क्रमबद्धपर्यायका यह जो वस्तुस्वरूप कहा जा रहा है उसी प्रकार अनादिसे पंचपरमेष्ठी भगवन्त कहते आये है, और महाविदेहमे विराजमान सीमधरादि भगवन्त इस समय भी यही उपदेश दे रहे है। इसके सिवा अज्ञानी विपरीत माने, तो भले माने किन्तु यहा तो प चपरमेष्ठी भगवन्तोको प चरूपसे रखकर यह बात कही जा रही है।

(१२८) ज्ञायक वस्तुस्वरूप, और अकर्तृत्व

इस "सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार" को "शुद्धात्मद्रव्य अधिकार" भी कहा जाता है। ज्ञायकस्वभावी शुद्ध आत्मद्रव्यका स्वरूप क्या है वह आचार्यदेव बतलाते है। आत्माका स्वभाव तो ज्ञायक है, ज्ञाता है; वह ज्ञायकस्वभाव न तो परका कर्ता है, और न रागका। कर्ता होकर परकी अवस्था उत्पन्न करे ऐसा तो ज्ञायकका स्वरूप नही है, और न रागमे कर्तावुद्धि भी उसका स्वभाव है; राग भी उसके ज्ञेय-रूप ही है। रागमे तन्मय होकर नही, किन्तु रागसे अधिक रहकर— भिन्न रहकर ज्ञायक उसे जानता है। ऐसा ज्ञायक–वस्तुस्वरूप समझे तो ज्ञातृत्व और कर्तृत्वके सारे गर्व दूर हो जाये।

यहाँ जीवको समझाना है कि तू ज्ञायक है, परका अकर्ता है। "ज्ञायक" ज्ञाता–दृष्टा परिणामके अतिरिक्त दूसरा क्या करे? ऐसे अपने ज्ञायकस्वभावको जानकर जो स्वसन्मुख निर्मल परिणामरूप-से परिणमित हुआ वह ज्ञानी ऐसा जानता है कि प्रतिसमय मेरे ज्ञान-के जो निर्मल क्रमबद्धपरिणाम होते है उन्हीमे मै तन्मय हूँ, रागमे या परमे मै तन्मय नही हूँ, इसलिये उनका मै अकर्ता हूँ।

अजीव भी अपने क्रमबद्ध होनेवाले जड परिणामोके साथ तन्मय है और दूसरोके साथ तन्मय नही है; इसलिये वह अजीव भी परका अकर्ता है; किन्तु यहाँ उसकी मुख्यता नही है, यहाँ तो जीव-का अकर्तृत्व सिद्ध करना है; जीवको यह बात समझाना है।

(१२९) दृष्टि बदलकर सम्यग्दर्शन प्रगट करे, वही इस उपदेशका रहस्य समझा है।

यह आत्माके ज्ञायकभावकी बात है; इसे समझ ले तो अपूर्व सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान हो, और उसके साथ अतीन्द्रिय आनन्दके अंशका वेदन हो। दृष्टिको बदले तो यह बात जीवकी समझमें आ सकती है। यह वस्तु मात्र करनेके लिये नही है, किन्तु समझकर दृष्टिको अन्तरोन्मुख करनेके लिये यह उपदेश है। क्रमबद्ध-पर्याय तो अजीवमे भी होती है, किन्तु उसे कही ऐसा नही समझाना है कि तू अकर्ता है इसलिये दृष्टिको बदल! यहाँ तो जीवको समझाना है। अज्ञानी जीव अपने ज्ञायकस्वभावको भूलकर "मै पर-का कर्ता"—ऐसा मान रहा है; उसे यहाँ समझाते है कि भाई! तू तो ज्ञायक है; जीव और अजीव सर्व द्रव्य अपनी-अपनी क्रमबद्ध-पर्यायमे परिणमित हो रहे है, तू उनका ज्ञायक है, किन्तु किसी परका कर्ता नही है। "मै ज्ञायक स्वभाव, परका अकर्ता, अपनी ज्ञानपर्यायमे क्रमबद्ध परिणमित होता हूँ"—ऐसा समझकर स्वद्रव्यकी दृष्टि करनेसे सम्यग्दर्शन होता है। दृष्टिकी दिशा स्वोन्मुख करे तभी क्रमबद्धपर्यायका यथार्थ निर्णय होता है, और उसके अपनेमे निर्मल पर्यायका क्रम प्रारम्भ हो जाता है। "मेरी सब पर्याये क्रमबद्ध-क्रमशः होती है"—ऐसा निर्णय करते हुए, उन पर्यायोरूपसे परिणमित होनेवाले ऐसे ज्ञायकद्रव्यकी ओर दृष्टि जाती है। मेरा क्रमबद्धपरिणमन मुझमे और परका क्रमबद्धपरिणमन पर-मे; परके क्रममे मै नही हूँ और मेरे क्रममे पर नही है;—ऐसा यथार्थ भेदज्ञान करनेसे "मै परका कुछ करूँ"—ऐसी दृष्टि छूट

जाती है, और ज्ञायकस्वभावोन्मुखदृष्टि होती है। उस स्वसन्मुख दृष्टिका परिणमन होनेसे ज्ञान, आनन्द, वीर्यादि समस्त गुणोमे भी स्वाश्रयसे अंशत: निर्मल परिणमन हुआ।

(१३०) जैनधर्मकी मूल बात

पंडित या त्यागी नाम धारण करनेवाले कितनोको तो अभी "सर्वज्ञ" की तथा क्रमबद्धपर्यायकी भी श्रद्धा नही है। किन्तु यह तो जैनधर्मकी मूल बात है, इसका निर्णय किये बिना सच्चा जैनत्व होता ही नही। यदि केवलज्ञान तीनकालकी समस्त पर्यायोको न जाने तो वह केवलज्ञान काहेका? और यदि पदार्थोंकी तीनोकालकी समस्त पर्यायें व्यवस्थित—क्रमबद्ध ही न हों तो केवलीभगवानने देखा क्या?

(१३१) "सर्वभावांतरच्छिदे"

समयसारका मांगलिक करते हुए पहले ही कलशमे आचार्यदेवने कहा है कि—

नम: समयसाराय
स्वानुभूत्या चकासते
चित्स्वभावाय भावाय
सर्वभावांतरच्छिदे ॥ १ ॥

"समयसार" अर्थात् शुद्ध आत्माको नमस्कार करते हुए आचार्यदेव कहते है कि मैं साधक हूँ, इसलिये मेरा परिणमन अंतरमे नमता है, मैं शुद्धात्मामे परिणमित होता हूँ।—कैसा है शुद्धात्मा? प्रथम तो स्वानुभूतिसे प्रकाशमान है यानी स्वसन्मुख ज्ञानक्रिया द्वारा ही वह प्रकाशमान है; राग द्वारा या व्यवहारके अवलम्बन द्वारा वह प्रकाशित नही होता। और कहा है कि वह ज्ञानस्वभावरूप वस्तु है, तथा स्वयसे अन्य समस्त भावोका भी ज्ञाता है। इस प्रकार जीवका ज्ञानस्वभाव है और वह तीनोंकालकी क्रमबद्धपर्यायोको जानता है—यह बात भी उसमें आ गई।

(१३२) ज्ञानमें जो परको जाननेकी शक्ति है वह अभूतार्थ नहीं है

प्रश्नः—जीवका ज्ञानस्वभाव है, और केवलज्ञान होने पर वह सर्व पदार्थोकी तीनोंकालकी क्रमबद्धपर्यायोंको जानता है—ऐसा आप कहते है, किन्तु नियमसारकी १५९ वी तथा १६६ वीं गाथामें कहा है कि केवलीभगवान निश्चयसे स्वको जानते-देखते है और लोकालोकको तो व्यवहारसे जानते-देखते है; तथा समयसारकी ११ वी गाथामे व्यवहारको अभूतार्थ कहा है; इसलिये "सर्वज्ञभगवान-ने तीनकालकी समस्त पर्यायोंको जाना है और तदनुसार ही पदार्थो मे क्रमवद्धपरिणमन होता है"—यह वात ठीक नही है!! (—ऐसा प्रश्न है।)

उत्तरः—भाई, तुझे सर्वज्ञकी भी श्रद्धा नही रही? शास्त्रों-की ओटमें तू अपनी विपरीत दृष्टिका पोषण करना चाहता है; किन्तु सर्वज्ञकी श्रद्धाके विना तुझे शास्त्रोंका एक अक्षर भी यथार्थरूपसे समझमें नही आ सकता। ज्ञान परको व्यवहारसे जानता है—ऐसा कहा, वहाँ ज्ञानमें जाननेकी शक्ति कहीं व्यवहारसे नहीं है; जाननेकी शक्ति तो निश्चयसे है, किन्तु परके साथ एकमेक होकर अथवा तो परसन्मुख होकर केवलज्ञान उसे नहीं जानता इसलिये व्यवहार कहा है। स्वको जानते हुए अपनेमें एकमेक होकर जानता है इसलिये स्व-परप्रकाशकपनेको निश्चय कहा, और पर-मे एकमेक नही होता इसलिये परप्रकाशकपनेको व्यवहार कहा है। किन्तु ज्ञानमे स्व-परप्रकाशक शक्ति है वह तो निश्चयसे ही है, वह कही व्यवहार नही है। "सर्वभावातरच्छिदे"—ऐसा कहा उसमे क्या शेष रह गया?—वह कही व्यवहारसे नहीं कहा है। और १६० वी गाथामें "सो सव्वणाणदरिसी ....अर्थात् आत्मा स्वयं ही ज्ञान होनेके कारण विश्वको (सर्व पदार्थोंको) सामान्य-विशेषरूपसे जाननेके स्वभाववाला है"—ऐसा कहा, वह कही व्यवहारसे नही कहा है किन्तु निश्चयसे ऐसा ही है। ज्ञानमें स्व-

परको जाननेकी शक्ति है वह कही व्यवहार या अभूतार्थ नही है। अरे! स्वच्छन्दसे कही हुई अपनी बातको सिद्ध करनेके लिये, ज्ञान-स्वभावके सामर्थ्यको भी अभूतार्थ कहकर उडाये, और उसी पर कुन्दकुन्द भगवान जैसे आचार्योके नामसे बात करे—यह तो मूढ़ जीवोका महान गजब है! और जो उनकी ऐसी बातको स्वीकार करते है उन्हे भी वास्तवमे सर्वज्ञदेवकी श्रद्धा नही है।

(१३३) सर्वज्ञस्वभावका निर्णय करे उसे पुरुषार्थकी शंका नहीं रहती

अब, अनेक जीव यों ही (निर्णय बिना) सर्वज्ञताको मानते हैं, उन्हे ऐसा प्रश्न उठता है कि यदि सर्वज्ञभगवानके देखे अनुसार ही क्रमबद्ध होता है और उस क्रममे फेरफार नही हो सकता,—तो फिर जीवको पुरुषार्थ करना कहा रहा? तो उससे कहा है कि हे भाई! तूने अपने ज्ञानस्वभावका निर्णय किया है?—सर्वज्ञका निर्णय किया है? तू अपने ज्ञानस्वभावका और सर्वज्ञका निर्णय कर तो तुझे खबर पडेगी कि क्रमबद्धपर्यायमे पुरुषार्थ किस प्रकार आता है? पुरुषार्थका यथार्थ स्वरूप ही अभी लोगोकी समझमे नही आया है। अनादिकालसे परमे और रागमे ही स्वत्व मानकर मिथ्यात्वके अनन्त दु.खका अनुभव कर रहा है, उसके बदले ज्ञायक-स्वभावका निर्णय होनेसे वह विपरीत मान्यता छूट गई और ज्ञायकभावकी ओर दृष्टि ढली, वहाँ अपूर्व अतीन्द्रिय आनन्दके अंशका अनुभव होता है,—इसीमे अपूर्व पुरुषार्थ आ जाता है। ज्ञायकस्वभावको दृष्टिमे लेकर उसका अनुभव करनेसे पुरुषार्थ, ज्ञान श्रद्धा, आनन्द, चारित्र—इन समस्त गुणोका परिणमन स्वोन्मुख हुआ है। स्वसन्मुख होकर ज्ञानस्वभावका निर्णय किया उसमे केवलज्ञानका निर्णय, क्रमबद्धपर्यायका निर्णय, भेदज्ञान, सम्यग्दर्शन, पुरुषार्थ, मोक्षमार्ग—यह सब एकसाथ आ गया है।

(१३४) निर्मल क्रमबद्धपर्याय कब प्रारम्भ होती है ?

सर्व द्रव्य अपनी-अपनी क्रमबद्धपर्यायरूपसे उत्पन्न होते हैं और उसमें वे तद्रूप हैं, —जीव अपनी पर्यायमें उत्पन्न होता है तथापि वह अजीवको उत्पन्न नहीं करता, इसलिये अजीवके साथ उसे कार्यकारणपना नहीं है। ऐसा होने पर भी अज्ञानी अपनी दृष्टि अपने ज्ञायकस्वभावकी ओर न घुमाकर, 'मैं परका कर्ता'—ऐसी बुद्धिसे अज्ञानरूप परिणमित होता है और इसलिये वह मिथ्यात्वादि कर्मोंका निमित्त होता है। क्रमबद्ध तो क्रमबद्ध ही है, किन्तु अज्ञानी अपने ज्ञायकस्वभावका निर्णय नहीं करता, इसलिये उसकी क्रमबद्धपर्याय शुद्ध न होकर विकारी होती है। यदि ज्ञायकस्वभावका निर्णय करे तो दृष्टि बदल जाये और मोक्षमार्गकी निर्मल क्रमबद्धपर्याय प्रारम्भ हो जाय।

(१३५) "मात्र दृष्टिकी भूल है"

चैतन्यमूर्ति आत्मा ज्ञानस्वभाव है, वह स्व-परका प्रकाशक है, इसलिये पदार्थ जैसे हैं वैसा ही उनको जाननेवाला है, किन्तु किसी को आगे-पीछे करनेवाला नहीं है। भाई! जगतके समस्त पदार्थोंमें जिस पदार्थकी जिस समय जो अवस्था होना है वह होना ही है, तू किसी परद्रव्यकी अवस्थामें फेरफार करनेकी सामर्थ्य नहीं रखता; —तो अब तुझे क्या करना रहा? अपने ज्ञायकस्वभावको चूककर, "मैं परका कर्ता" ऐसी दृष्टिमें अटका है उसकी कुलाट मारकर ज्ञानस्वभावकी ओर अपनी दृष्टि घुमा! ज्ञायककी ओर दृष्टि करनेसे क्रमबद्धपर्यायका ज्ञाता रह जाता है; वह ज्ञाता अपने निर्मल ज्ञानादि-परिणामोंका तो कर्ता है, किन्तु रागादिका या कर्मका कर्ता वह नहीं है। ऐसे ज्ञातास्वभावको जो न माने और परका कर्ता होकर उसकी क्रमबद्धपर्यायको बदलने जाये, तो उस जीवको सर्वज्ञकी भी सच्ची श्रद्धा नहीं है। जिस प्रकार सर्वज्ञभगवान ज्ञाता-दृष्टापनेका ही कार्य करते हैं, किसीके परिणमनको नहीं बदलते, उसीप्रकार इस आत्माका स्वभाव भी ज्ञाता-दृष्टापनेका कार्य करना ही है।

पुण्य-पाप अधिकारकी १६० वी गाथामें आचार्यदेव कहते है कि :—

सो सव्वणाणदरिसी कम्मरएण णिएणवच्छण्णो ।
ससारसमावण्णो ण विजाणदि सव्वदो सव्वं ।।

—यह सर्वज्ञानी-दर्शि भी, निजकर्म रज आच्छाद से ।
ससार प्राप्त, न जानता वो सर्वको सव रीत से ।। १६० ।।

ज्ञानस्वरूपी आत्मा तो सर्वका ज्ञायक तथा दर्शक है; किन्तु अपने ज्ञानस्वभावके सन्मुख होकर उसकी प्रतीति नही करता, इसीलिये वह अज्ञानरूपसे वर्तता है । सर्वको जाननेवाला जो अपना सर्वज्ञ-स्वभाव अर्थात् ज्ञायकस्वभाव, अपने अपराधके कारण उसे स्वय नही जानता, इसलिये ज्ञाता–दृष्टापनेका परिणमन न होकर अज्ञानके कारण विकारका परिणमन होता है । ज्ञानस्वभावकी प्रतीति होने के पश्चात् ज्ञानीको अस्थिरताके कारण अमुक रागादि होते है और ज्ञानका परिणमन अल्प होता है—उसकी यहाँ मुख्यता नही है, क्योकि ज्ञानीको ज्ञाता-दृष्टापनेकी ही मुख्यता है, ज्ञायकदृष्टिके परिणमनमे रागका कर्तापना नही है ।

(१३६) "पुरुषार्थ" भी न उड़े और .. "क्रम" भी न टूटे !

अपनी क्रमबद्धपर्यायमे ज्ञातापनेका कार्य करता हुआ जीव दूसरेका भी कार्य करे—ऐसा नही होता, इस प्रकार ज्ञायकजीव अकर्ता है । जड़ या चेतन, ज्ञानी या अज्ञानी,—सब अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप ही उत्पन्न होते है ।

ज्ञायकस्वभावके आश्रयसे पुरुषार्थ होता है, तथापि पर्यायका क्रम नही टूटता;

ज्ञायकस्वभावके आश्रयसे सम्यग्दर्शन होता है, तथपि पर्यायका क्रम नही टूटता;

ज्ञायकस्वभावके आश्रयसे चारित्रदशा होती है, तथापि पर्यायका क्रम नही टूटता;

ज्ञायकस्वभावके आश्रयसे आनन्द प्रगट होता है, तथापि पर्यायका क्रम नही टूटता;

ज्ञायकस्वभावके आश्रयसे केवलज्ञान होता है, तथापि पर्याय-का क्रम नही टूटता;

देखो, यह वस्तुस्थिति ! पुरुषार्थ भी नही उड़ता और क्रम भी नही टूटता। ज्ञायकस्वभावके आश्रयसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रादिका पुरुषार्थ होता है, और वैसी निर्मलदशाये होती जाती है, तथापि पर्यायकी क्रमबद्धता नही टूटती।

(१३७) अज्ञानीको क्या करना चाहिये ?

प्रश्नः—हम तो अज्ञानी है, हमे क्या करना चाहिये ? क्या क्रमबद्ध मानकर बैठे रहे ?

उत्तरः—भाई ! अज्ञानीको अपने ज्ञानस्वभावका निर्णय करना चहिये। स्वसन्मुख पुरुपार्थ द्वारा जहां ज्ञानस्वभावका निर्णय किया वहा क्रमबद्धका भी निर्णय हुआ और अपनी क्रमबद्धपर्यायमें जो निर्मल पर्यायका क्रम था वही पर्याय आकर उपस्थित हो गई। स्वसन्मुख पुरुषार्थसे रहित तो क्रमबद्धकी मान्यता भी सच्ची नही है। ज्ञानस्वभावका आश्रय करके परिणमित होनेसे, यद्यपि पर्यायका क्रम आगे-पीछे नही होता, तथपि सम्यग्दर्शनादिका परिणमन हो जाता है और अज्ञानदशा छूट जाती है। इसलिये, "अज्ञानीको क्या करना चाहिये"—इसका उत्तर यह है कि अपने ज्ञायकस्वभावका निर्णय करके अज्ञान दूर करना चाहिये। प्रश्न ऐसा था कि—"क्या हम बैठे रहे ?"—किन्तु भाई ! बैठे रहनेकी व्याख्या क्या ? यह जड शरीर बैठा रहे तो इसके साथ कही धर्मका सम्बन्ध नही है। अज्ञानी अनादिकालसे रागके साथ एकत्वबुद्धि करके उस रागमे ही बैठा है—रागमे ही स्थित है; उसके बदले ज्ञायकस्वभावमे एकता करके उसमे बैठे—अर्थात् एकाग्र हो तो अज्ञान दूर हो और सम्यग्दर्शनादि शुद्धताका अपूर्व क्रम प्रारम्भ हो।—इसका नाम धर्म है।

(१३८) एक बिना सब व्यर्थ !

मैं ज्ञाता ही हूँ और पदार्थ क्रमवद्ध परिणमित होनेवाले है—ऐसा जो नही मानता वह केवलीभगवानको, आत्माके ज्ञानस्वभावको, पंचपरमेष्ठी भगवन्तोको या शास्त्रको नही मानता, जीव-अजीवकी स्वतंत्रता या सात तत्वोकी उसे श्रद्धा नही है, मोक्षमार्गके पुरुषार्थकी तथा द्रव्य-गुण-पर्यायकी, उपादान-निमित्तकी या निश्चयव्यवहार-की भी उसे खवर नही है। जिसने ज्ञानस्वभावका निर्णय नही किया उसका कुछ भी सच्चा नही है। ज्ञानस्वभावका निर्णय करे तो उसमे सभी पक्षोका निर्णय आ जाता है।

(१३९) पंचरूपसे परमेष्ठी और उनका फैसला

प्रश्नः—इस सम्वन्धमे आजकल वहुत झगडे (मतभेद) चल रहे है, इसलिये "पचो"को वीचमे रखकर इसका कुछ निपटारा करो न?

उत्तरः—भाई, पचपरमेष्ठी भगवान ही हमारे "पच" है। ज्ञायकस्वभावका और क्रमवद्धपर्यायका यह जो वस्तुस्वरूप कहा जा रहा है उसी प्रकार अनादिसे पचपरमेष्ठी भगवान कहते आये है, और महाविदेहमे विराजमान सीमधरादि भगवन्त इस समय भी यही उपदेश दे रहे हैं। इसके सिवा अज्ञानी विपरीत मानते हो तो भले माने, किन्तु यहाँ तो पचपरमेष्ठी भगवन्तोको पचरूपसे रखकर यह वात कही जा रही है। पचपरमेष्ठी भगवन्त इसीप्रकार मानते आये है और इसी प्रकार कहते आये है। जिसे पचपरमेष्ठीमे सम्मिलित होना हो उसे इसी अनुसार मानना पडेगा।

देखो, यह पचायतका फैसला!

हे भाई! पचपरमेष्ठीभगवन्तोमे अरिहन्त और सिद्ध भगवंत सर्वज्ञ है, तीनकाल तीनलोकको प्रत्यक्ष जाननेवाले है,—उस सर्वज्ञता-को तू मानता है या नही मानता?

—यदि तू वास्तवमे सर्वज्ञताको मानता हो तो उसमे क्रमबद्ध-पर्यायकी स्वीकृति भी आ ही गई।

—और यदि तू सर्वज्ञताको मानता हो तो तूने पंचोंको (–पंचपरमेष्ठी भगवन्तोको) ही वास्तवमे नही माना है ।

"णमो अरिहताण और णमो सिद्धाण"—ऐसा प्रतिदिन वोलते है, किन्तु अरिहन्त और सिद्धभगवान केवलज्ञान सहित है, वे तीनकाल तीनलोकको जानते है और उसीप्रकार होता है—ऐसा माने तो उसमे क्रमवद्धपर्यायकी स्वीकृति आ ही जाती है । आत्माकी सम्पूर्ण ज्ञानशक्तिको और क्रमवद्धपर्यायको जो नही मानता वह पचपरमेष्ठी भगवन्तोको भी यथार्थस्वरूपसे नही मानता । इसलिये जिसे वास्तवमे पचपरमेष्ठी भगवन्तोको पहिचानना हो उसे वरावर निर्णय करके यह बात मानना चाहिये ।—ऐसा पचोका फैसला है ।



(१४०) जीवके अकर्तृत्वकी न्यायसे सिद्धि

ज्ञायक आत्मा कर्मका अकर्ता है—ऐसा यहाँ आचार्यदेव न्याय से सिद्ध करते है.—

(१) प्रथम तो जीव और अजीव सभी द्रव्य अपनी-अपनी क्रमबद्ध-पर्यायरूपसे उत्पन्न होते है;

(२) जो पर्याय होती है उसमें वे तद्रूप है;

(३) जीव अपने परिणामरूपसे उत्पन्न होता है, तथापि वह परको (–कर्मको) उत्पन्न नही करता, इसलिये उसे परके साथ उत्पाद्य–उत्पादकभाव नही है,

(४) उत्पाद्य–उत्पादकभावके विना कार्यकारणपना नही होता इसलिये जीव कारण होकर कर्मको उत्पन्न करे ऐसा नही होता, और—

(५) कारण–कार्यभावके विना जीवका अजीवके साथ कर्ताकर्मपना सिद्ध नही हो सकता, अर्थात् ज्ञायकभावरूपसे उत्पन्न होनेवाला जीव कर्ता होकर, मिथ्यात्वादि अजीव कर्मको उत्पन्न करे— ऐसा किसी प्रकार सिद्ध नही होता।

—इसलिये ज्ञायकभावकी क्रमबद्धपर्यायरूपसे परिणमित होता हुआ ज्ञानी कर्मका अकर्ता ही है। भाई! तू तो ज्ञानस्वभाव! तू अपने ज्ञाता–दृष्टाभावरूपसे परिणमित होकर उस परिणाममे तद्रूप होकर उसे कर सकता है, किन्तु तू जडकर्मका कर्ता हो—ऐसा तेरा स्वभाव नही है। अहो! मैं . ज्ञा .. य... क... हूँ... ऐसा अ....त....र् मु ...ख.. हो... कर. स ..म....झे ...तो जी....व ...को....कि . त....नी. . गां....ति ...हो....जा... ये....!

(१४१) अजीवमें भी अकर्तापना

यहाँ जीवका अकर्तापना समझानेके लिये आचार्यदेवने जो न्याय दिया है वह सर्व द्रव्योमे लागू होता है। अजीवमें भी एक अजीव दूसरे अजीवका अकर्ता है। जैसे कि—पानी उष्ण हुआ वहाँ अग्नि उसका अकर्ता है, निम्नानुसार.—

(१) अग्नि और पानी दोनो पदार्थ अपनी–अपनी क्रमबद्धपर्यायरूपसे उत्पन्न होते है;

(२) अपनी–अपनी जो पर्याय होती है उसमें वे तद्रूप है;

(३) अग्नि अपने परिणामरूपसे उत्पन्न होती है, तथापि वह पानीकी उष्ण अवस्थाको उत्पन्न नही करती, इसलिये उसे पानीके साथ उत्पाद्य–उत्पादकभाव नही है;

(४) उत्पाद्य–उत्पादकभावके विना कार्य–कारणपना नहीं होता, इसलिये अग्नि कारण होकर पानीकी उष्ण अवस्थाको उत्पन्न करे—ऐसा नही होता; और—

(५) कारण–कार्यभावके विना अग्निका पानीके साथ कर्ताकर्मपना सिद्ध नही हो सकता।

—इसलिये अग्नि पानीकी अकर्ता ही है। अग्नि अग्निकी पर्यायमें तद्रूप है और उष्ण पानीकी अवस्थामे वह पानी ही तद्रूप है। इसीप्रकार कुम्हार और घडा आदि जगतके समस्त पदार्थोंमें भी उपरोक्तानुसार पांच बोल लागू करके एक–दूसरेका अकर्तापना समझ लेना चाहिये।

[नोटः—यहाँ जो अग्नि और पानीका दृष्टान्त दिया है, वह जीवका अकर्तृत्व सिद्ध करनेके लिये नही दिया है, किन्तु अजीवका परस्पर अकर्तृत्व सिद्ध करनेके लिये दिया है–यह बात लक्षमें रखना चाहिये।]

(१४२) "....निमित्त कर्ता तो है न?"

प्रश्नः—जीव कर्ता है या नही ?

उत्तरः—हाँ, जीव कर्ता अवश्य है, लेकिन किसका ? कि—अपने ज्ञायकपरिणामका;—पुद्गलकर्मका नही।

प्रश्नः—पुद्गल कर्मका निमित्ताकर्ता है या नही ?

उत्तर—नहीं; ज्ञायकभावरूपसे परिणमित होनेवाला जीव मिथ्यात्वादि पद्गलकर्मका निमित्तकर्ता भी नही है। कर्मके निमित्त होने पर जिसकी दृष्टि है उस जीवको ज्ञायकभावका परिणमन नही है किन्तु अज्ञानभावका परिणमन है। अज्ञानभावके कारण ही वह

पुद्‌गलकर्मका निमित्तकर्ता होता है, और वह ससारका ही कारण है।—यह वात आचार्यदेवने आगे आनेवाली गाथाओंमे भलीभाँति समझाई है।

(१४३) ज्ञाताका कार्य

ज्ञानस्वभावी जीव कर्ता होकर किसी पर्यायको आगे-पीछे वदल दे ऐसा नही है। स्वय अपने ज्ञातापरिणामरूपसे उत्पन्न होता हुआ क्रमबद्धपर्यायका ज्ञाता है; ज्ञातापरिणाम ही ज्ञानीका कार्य है। जिसप्रकार "ईश्वर जगतका कर्ता"—यह बात मिथ्या है, उसीप्रकार जीवका परका कर्ता—यह वात भी मिथ्या है। ज्ञायकमूर्ति आत्मा स्व-परप्रकाशक है, वास्तवमें ज्ञायक तो शुभ-अशुभभावोंका भी ज्ञाता ही है; उसमे एकतारूप परिणमित न होनेसे, किन्तु भिन्न ज्ञानभावरूप परिणमित होनेसे, वह रागका कर्ता नही है। रागको ज्ञानके साथ एकमेक करके जो उसका कर्ता होता है, उसकी दृष्टि "ज्ञायक" पर नही है किन्तु विकार पर है, इसलिये मिथ्यादृष्टि है। शुभभाव हो, वहाँ "अशुभभाव होना थे, किन्तु ज्ञानने उन्हे बदलकर शुभ कर दिया"—ऐसा जो मानता है उसकी उन्मुखता भी विकारकी ओर ही है; ज्ञायककी ओर उसकी उन्मुखता नही है। ज्ञाता तो ज्ञायकस्वभावसन्मुख होकर, अपने अपने ज्ञाताभावरूप ही परिणमित होता हुआ, उस-उस समयके रागको भी ज्ञानका व्यवहारज्ञेय वनाता है, किन्तु उसे ज्ञानका कार्य नही मानता। उस समय जो ज्ञानपरिणमन हुआ (—उस ज्ञानपरिणमनके साथ सम्यक्‌श्रद्धा, आनंद, पुरुषार्थ आदिका परिणमन भी साथ ही है) वही ज्ञाताका कार्य है। इसप्रकार ज्ञानी अपने निर्मल ज्ञान—आनन्दादि परिणामोंका कर्ता है, किन्तु रागका या परका कर्ता नही है।

(१४४) "अकार्यकारणशक्ति" और पर्यायमें उसका परिणमन

ज्ञानी जानता है कि मुझमे अकार्यकारणशक्ति है; मै कारण होकर परका कार्य करूँ और पर वस्तु कारण होकर मेरा कार्य

करे—ऐसा परके साथ कार्यकारणपना मुझे नही है । अरे ! अन्तर्मे ज्ञान कारण होकर रागको कार्यरूपसे उत्पन्न करे, अथवा तो रागको कारण बनाकर ज्ञान उसके कार्यरूपसे उत्पन्न हो—ऐसा ज्ञान और रागको भी कार्यकारणपना नही है ।–ऐसी अकार्यकारणशक्ति आत्मामे है ।

प्रश्न:—अकार्यकारणपना तो द्रव्यमें ही है न ?

उत्तर:—द्रव्यमें अकार्यकारणशक्ति है—ऐसा माना किसने ? —पर्यायने । जिस पर्यायने द्रव्योन्मुख होकर अकार्यकारणशक्तिको माना, वह पर्याय द्रव्यके साथ अभेद होकर स्वयं भी अकार्यकारणरूप हो गई है; इस प्रकार पर्यायमें भी अकार्यकारणपना है । दूसरे प्रकारसे कहा जाये तो—ज्ञायकस्वभावोन्मुख होकर जो पर्याय अभेद हुई उस पर्यायमें रागका या परका कर्तृत्व नही है, यह तो ज्ञायकभावरूप ही है ।

(१४५) आत्मा परका उत्पादक नहीं है

देखो भाई ! जिसे अपना आत्महित करनेकी गरज हुई हो —ऐसे जीवके लिये यह बात है । अन्तरकी लोकोत्तरदृष्टिकी यह बात है; लौकिक वातके साथ इस वातका मेल नही जम सकता । लोकव्यवहारमें तो आजकल ऐसी योजनाये चल रही है कि— "अनाजका उत्पादन बढ़ाओ और वस्तीका उत्पादन कम करो ।" किन्तु यहाँ तो लोकोत्तरदृष्टिकी बात है कि भाई ! तू परका उत्पादक नही है, तू तो ज्ञान है । "अरे ! अभक्ष्य वस्तु खाकर भी अनाज बचाओ"—ऐसा कहनेवाले तो अनार्यदृष्टिवाले है;—ऐसोंकी बात तो दूर रही, किन्तु यहाँ तो कहते है कि आत्मा कर्ता होकर परको उत्पन्न करे या परका उत्पन्न होना रोके—ऐसा माननेवाले भी मूढ मिथ्यादृष्टि हैं । ज्ञानीको तो अन्तरमे रागका भी अकर्तृत्व है—यह बात तो अभी इससे भी सूक्ष्म है ।

(१४६) "सब मानें तो सच्चा"—यह बात झूठ है ।
(सच्चे साक्षी कौन ?)

प्रश्नः—सब लोग हाँ कहे तो आपकी बात सच्ची है !

उत्तरः—अरे भाई ! हमारे तो पचपरमेष्ठी हो पच है, इसलिये जो पचपरमेष्ठी माने वह सच है। दुनियाके अज्ञानी लोग भले ही कुछ और माने ।

जैसा प्रश्न यहां किया वैसा ही प्रश्न भैया भगवतीदासजीके उपादान-निमित्तके दोहेमें किया है; वहा निमित्त कहता है कि—

निमित्त कहै मोकों सबै जानत है जगलोय;
तेरो नांव न जानहि उपादानको होय ? ॥ ४ ॥

—हे उपादान ! जगतमे घर-घर जाकर लोगोसे पूछे तो सब मेरा ही नाम जानते है—अर्थात् निमित्तसे कार्य होता है—ऐसा सब मानते है, किन्तु उपादान क्या है उसका तो नाम भी नही जानते ।

तब उसके उत्तरमे उपादान कहता है कि—

उपादान कहे रे निमित्त ! तू कहा करै गुमान ?
मोको जाने जीव वे जो है सम्यक्वान ॥ ५ ॥

—अरे निमित्त ! तू गुमान किसलिये करता है ? जगतके अज्ञानी लोग मुझे भले ही न जाने, किन्तु जो सम्यक्वत ज्ञानी जीव है वे मुझे जानते है ।

निमित्त कहता है कि जगतसे पूछे; उपादान कहता है कि-ज्ञानीसे पूछे ।

उसी प्रकार निमित्त फिरसे कहता है कि—

कहै जीव सब जगतके जो निमित्त सोइ होय।
उपादानकी बातको पूछे नाही कोय ॥ ६ ॥

—जैसा निमित्त हो वैसा कार्य होता है—ऐसा तो जगतके

सभी जीव कहते है, किन्तु उपादानकी वातको तो कोई पूछता भी नहीं है ।

तब उसे उत्तर देते हुऐ उपादान कहता है कि—

उपादान बिन निमित्त तू कर न सके इक काज ।
कहा भयौ जग ना लखे जानत हैं जिनराज ॥ ८ ॥

—अरे निमित्त ! उपादानके बिना एक भी कार्य नही हो सकता, अर्थात् उपादानसे ही कार्य होता है ।–जगतके अज्ञानी जीव इसे न जाने उससे क्या हुआ ?—जिनराज तो ऐसा जानते है ।

उसी प्रकार यहां, "आत्माका ज्ञायकस्वभाव और उसके ज्ञेयरूपसे वस्तुकी क्रमबद्धपर्यायें'—यह बात दुनियाके अज्ञानी जीव न समझे और उसका स्वीकार न करे तो उससे क्या ? किन्तु पंच–परमेष्ठीभगवन्त उसके साक्षी है; उन्होने इसी प्रकार जाना है और इसी प्रकार कहा है; और जिस जीवको अपना हित करना हो–पंच-परमेष्ठीकी श्रेणीमे बैठना हो, उसे यह बात समझकर स्वीकार करना ही पड़ेगी ।

(१४७) "गोशालाका मत ?"—या जैनशासनका मर्म ?

यह तो जैनशासनकी मूल बात है । इस बातको "गोशाला-का मत" कहनेवाला जैनशासनको नही जानता । प्रथम तो "गोशाला" था ही कव ? और यह वात तो अनेकों वार स्पष्ट कही जा चुकी है कि ज्ञायकस्वभावसन्मुखके पुरुषार्थ विना एकान्त नियत माननेवाला इस क्रमवद्धपर्यायका रहस्य समझा ही नही है । सम्यक् पुरुषार्थ द्वारा जिसने ज्ञानस्वभावकी प्रतीति की और ज्ञाता हुआ, उसीको क्रमवद्धपर्यायका यथार्थ निर्णय है, और उसीने जैनशासनको जाना है ।

(१४८) कर्ता–कर्मका अन्यसे निरपेक्षपना

उत्पाद्य वस्तु स्वयं ही अपनी योग्यतासे उत्पन्न होती है, अन्य कोई उत्पादक नहीं है; वस्तुमें ही वैसी क्रमबद्धपर्यायरूपसे स्वयं

परिणमित होनेकी शक्ति है—वैसी अवस्था की योग्यता है—वैसा ही स्वकाल है; तो उसमे दूसरा क्या करे? और यदि वस्तुमे स्वयमे वैसी शक्ति न हो—योग्यता न हो—स्वकाल न हो तो भी दूसरा उसमे क्या करे? इसलिये अन्यसे निरपेक्षपनेसे ही कर्ता–कर्मपना है। पहले कर्ता–कर्म अधिकारमे आचार्यदेव यह बात कह गये है कि "स्वयं अपरिणमितको पर द्वारा परिणमित नही किया जा सकता; क्योकि वस्तुमे जो शक्ति स्वय न हो उसे अन्य कोई नही कर सकता। और स्वयं परिणमितको तो पर परिणमित करनेवाले की अपेक्षा नही होती, क्योकि वस्तुकी शक्तियाँ परकी अपेक्षा नही रखती।" (देखो, गाथा ११६ से १२५)

(१४९) सर्वत्र उपादानका ही बल

पुनश्च, प० वनारसीदासजी भी कहते है कि:—

उपादान वल जहा—तहा, नहि निमित्तको दाव।
एक चक्रसों रथ चले, रविको यहै स्वभाव ॥ ५ ॥

—जहाँ देखो वहाँ उपादानका ही बल है, अर्थात् योग्यतासे ही कार्य होता है, उसमें निमित्तका कोई दाव–पेच नही है; "निमित्तके कारण कार्य हुआ"—ऐसा निमित्तका दाव या बारी कभी आती ही नहीं; जहा देखो वहा उपादानका ही दाव है। "ऐसा क्यों?" कहते है—उपादानकी वैसी ही योग्यता। "निमित्तके कारण हुआ?"—कहते है नही।

(१५०) "–निमित्त बिना ...??"

प्रश्न:—निमित्त कुछ नही करता यह सच, किन्तु क्या निमित्तके बिना होता है?

उत्तर:—हा, भाई! उपादानके कार्यमे तो निमित्तका अभाव है, इसलिये वास्तवमे निमित्तके बिना ही कार्य होता है। निमित्त है अवश्य, किन्तु वह निमित्तमे है, उपादानमे उसका अभाव ही है, उस अपेक्षासे निमित्त बिना ही होता है।

—ऐसी बात आये वहाँ उपादान-निमित्तका भेदज्ञान समझनेके बदले कुछ विपरीत दृष्टिवाले जीव कहते है कि—"अरे ! निमित्तका निषेध हो जाता है!" भाई रे!" इसमे निमित्तके अस्तित्वका निषेध नही होता, निमित्त तो निमित्तरूपसे ज्योका त्यों रहता है । तू निमित्तको निमित्त रूपसे रख रख, उसे उपादानमें मत मिला । अज्ञानी निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्धको कर्ताकर्मरूपसे मानकर, उपादान-निमित्तकी एकता कर डालते है ।

"—कार्य होता तो है उपादानसे, किन्तु कही निमित्तके विना होता है ?

—शरीरको क्रिया होती शरीरसे है, किन्तु कही जीवके विना होती है ?

—विकार करता है जीव स्वय, किन्तु कही कर्मके विना होता है ?

—ज्ञान होता है स्वयसे, किन्तु कही गुरुके विना होता है ?

—मोक्ष होता है जीवके उपादानसे, किन्तु कही मनुष्यदेहके बिना होता है ?"

—इस प्रकार कितने ही दलील करते है; किन्तु भाई ! उपादानकी अपनी योग्यतासे ही कार्य होता है—ऐसा जो वास्तवमें जानता है उसे इसका भी ज्ञान होता है कि परनिमित्त कैसा होता है; इसलिये "निमित्तके विना..." का प्रश्न उसे नही रहता । वह तो जानता है कि उपादानसे कार्य होता है, और वहाँ योग्य निमित्त होता ही है,—गतैः धर्मास्तिकायवत् ।" (देखो श्री पूज्यपादाचार्यदेवकृत इष्टोपदेश गाथा- ३५)

जो जीव स्व-पर दो वस्तुओको मानता ही नही, निमित्तको जानता ही नही, ऐसे अन्यमतीको निमित्तका अस्तित्व सिद्ध करनेके लिये "निमित्तके विना नही होता"—ऐसी दलीलसे समझाया जाता है; किन्तु, जहा स्व-परके भेदज्ञानकी बात चलती

हो, उपादान-निमित्तकी स्वतंत्रताका वर्णन चलता हो, वहां बीच-में "निमित्तके विना नही होता"—यह दलील रखना तो निमित्ताधीनदृष्टि ही सूचित करता है। "निमित्त होता ही है" फिर "निमित्तके विना नही होता"—इस दलीलका क्या काम है ?

प्रवचनसार गाथा १६० मे आचार्यदेव कहते है कि वास्तवमें मैं शरीर, वाणी और मनका आधारभूत नही हूँ, उनका कारण मैं नही हूँ, उनका कर्ता, प्रयोजक या अनुमोदक भी मै नही हूँ; मेरे बिना ही, अर्थात् मै उन शरीरादिका आधार हुए बिना, कारण हुए विना, कर्ता हुए विना, प्रयोजक या अनुमोदक हुए विना, वे स्वय अपने-अपनेसे ही होते है, इसलिये उन शरीरादिका पक्षपात छोडकर अर्थात् मेरे निमित्त विना वे नही हो सकते—ऐसा पक्षपात छोडकर) अत्यत मध्यस्थ-साक्षीस्वरूप-ज्ञायक हूँ।

(देखो, प्रवचनसार गाथा-१६०)

(१५१) इस उपदेशका तात्पर्य और उसका फल

यहा आचार्यदेव कहते है कि हे भाई! सर्व द्रव्योको दूसरेके साथ उत्पाद्य-उत्पादकभावका अभाव है इसलिये तू ज्ञाता ही रह। "मैं ज्ञान हूँ"—ऐसा निर्णय करके जो स्वसन्मुख ज्ञातापरिणामरूपसे उत्पन्न हुआ वह जीव अपने सम्यक्‌श्रद्धा-ज्ञान-आनन्दादि कार्यरूपसे उत्पन्न होता है इसलिये उसका उत्पादक है, किन्तु कर्मादि परका उत्पादक नही है।—इसप्रकार जीवको स्वभावसन्मुख दृष्टि करके निर्मल क्रमबद्धपर्यायरूपसे परिणमित होनेके लिये यह उपदेश है। ज्ञायकस्वभावसन्मुख दृष्टि करके परिणमित हुआ वहा—

ज्ञानगुण अपने निर्मल परिणामके साथ तद्रूप होकर परिणमित हुआ;

श्रद्धागुण अपने सम्यग्दर्शनपरिणामके साथ तद्रूप होकर परिणमित हुआ;

आनन्दगुण अपने आनन्दपरिणामके साथ तद्रूप होकर परिणमित हुआ;

—इस प्रकार ज्ञायकस्वभावसन्मुख होकर परिणमित होनेसे श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र-वीर्यादि समस्त गुणोंकी निर्मल परिणमनधारा बढ़ने लगी।—यह है ज्ञायकस्वभावकी और क्रमवद्धपर्यायकी प्रतीतिका फल !

★ सातवाँ प्रवचन ★

[आश्विन शुक्ला ३, वीर स० २४८०]

एक ओर अकेला ज्ञायकस्वभाव और दूसरी ओर क्रमबद्धपर्याय—इसका यथार्थ निर्णय करनेमे सव आ जाता है, वह मूल वस्तुधर्म है, वह केवली-भगवानका उदर है, सन्तोका हार्द है, शास्त्रोका मर्म है, विश्वका दर्शन है और मोक्षमार्गका कर्तव्य कैसे होता है उसकी यह रीति है।

अज्ञानी कहते है कि "छूतकी बीमारी" है तव यहां कहते है कि यह तो सर्वज्ञका हार्द है; जिसे यह वात बैठ गई उसके हृदयमे सर्वज्ञ बैठ गये,—वह अल्पज्ञ होने पर भी "मैं सर्वज्ञ जैसा ज्ञाता ही हूँ"—ऐसा उसे निर्णय हो गया।

(१५२) अधिकारका नाम

इस सर्वविशुद्धज्ञान अधिकारकी पहली चार गाथाओंकी वचनिका हो रही है। सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार कहो, ज्ञायकद्रव्यका अधिकार कहो, या क्रमवद्धपर्यायका अधिकार कहो; जहा ज्ञायकद्रव्यको पकडकर ज्ञान एकाग्र हुआ वहा वह ज्ञान सर्वविशुद्ध हो गया, और उस ज्ञानके विषयरूपसे सर्व द्रव्योकी क्रमबद्धपर्याय है उसका भी उसे निर्णय हो गया।

(१५३) "क्रमबद्ध" और "कर्मबन्ध" !

देखो, यह क्रमबद्धपर्यायकी बात छह दिनसे चल रही है, और आज सातवाँ दिन है; बहुत-बहुत पक्षोंसे स्पष्टीकरण हो गया है; तथापि कुछ लोगोंको यह बात समझना कठिन मालूम होता है। कोई तो कहते है कि—"महाराज ! आप क्या कहते हो, "कर्मबन्ध" मानना यह सम्यग्दर्शन है—ऐसा आप कहते हो ?"—अरे भाई! यह "क्रमबद्ध" अलग और "कर्मबन्ध" अलग ! दोनोके बीच विशाल अन्तर है । कर्मबन्धरहित ज्ञायकस्वभाव कैसा है और वस्तुकी पर्याय-में क्रमबद्धता किस प्रकार है उसे पहिचाने तो सम्यग्दर्शन हो । इस "क्रमबद्ध" को समझ ले तो "कर्मबन्ध" का नाश हो, और जो "क्रमबद्ध" को न समझे उसे "कर्मबन्ध" होता है ।

(१५४) "ज्ञायक" और "क्रमबद्ध" दोनोंका निर्णय एकसाथ

जीवमे या अजीवमें प्रतिसमय जो क्रमबद्धपर्याय होना है वही होती है; पहले होनेवाली पर्याय बादमें नहीं होती, और बादमें होनेवाली पर्याय पहले नही होती । अनादि-अनन्त काल प्रवाहके जितने समय है उतनी ही प्रत्येक द्रव्यकी पर्याये है; उनमे जिससमय जिस पर्यायका नम्बर (क्रम) है उस समय वही पर्याय होती है । जिस प्रकार सात वारोमें रविवारके बाद सोमवार और फिर मंगलवार-इसप्रकार ठीक क्रमबद्ध ही आते है उल्टे-सीधे नही आते; उसीप्रकार एकसे सौ तकके नम्बरोमे १ के बाद २, ५०के बाद ५१, ९९ के बाद १००, इसप्रकार सब क्रमबद्ध ही आते है; उसीप्रकार द्रव्यकी क्रमबद्धपर्यायोमें जो ५१ वी पर्याय होगी वह ५० वी या ५२ वी नही होती, और जो '५२' वी हो वह ५१ वी नही होती । अर्थात् पर्यायके क्रमबद्धपनेमे कोई भी पर्याय बीचसे हटकर आगे-पीछे नहीं होती । जिसप्रकार पदार्थकी पर्यायका ऐसा क्रमबद्धस्वरूप है, उसीप्रकार आत्माका ज्ञायकस्वरूप है । मैं सर्वविशुद्धज्ञानमात्र ज्ञायक हूँ—ऐसे ज्ञायकस्वरूपके निर्णयके साथ क्रमबद्धपर्यायका भी निर्णय हो जाता

है। आत्माका ज्ञायकस्वरूप और पर्यायोंका क्रमबद्धस्वरूप—इन दो-मेंसे एकको भी न माने तो ज्ञान और ज्ञेयका मेल नही रहता अर्थात् सम्यग्ज्ञान नही होता। ज्ञायकस्वभाव और क्रमबद्धपर्याय—इन दोनोंका निर्णय एकसाथ ही होता है।—कब होता है ?—जब ज्ञानस्वभावकी ओर ढले तब।

(१५५) यह बात किसे परिणमित होती है ?

अभी तो जिसने यथार्थ गुरुगमसे ऐसी बातका श्रवण भी नहीं किया है, वह उसका ग्रहण और धारण तो कहाँसे करेगा ? और सत्यका ग्रहण तथा धारण किये बिना ज्ञानस्वभावसन्मुख होकर उसकी रुचिका परिणमन कहाँसे होगा ? यहाँ ऐसा कहना है कि अभी जो विपरीत बातका श्रवण और पोषण कर रहे हैं, उनके सत्यरुचिके परिणमनकी योग्यता नही है। जिसके अन्तरकी महान पात्रता और पुरुषार्थ हो उसीको यह बात परिणमित होती है।

(१५६) धर्मका पुरुषार्थ

उत्पाद–व्यय–ध्रुवयुक्त सत्, और सत् वह द्रव्यका लक्षण है; उसमें भी क्रमबद्धपर्यायकी बातका समावेश हो जाता है; क्रमबद्ध-पर्यायके बिना उत्पाद–व्यय नही हो सकते। प्रत्येक पर्यायका उत्पाद अपने–अपने कालमे एक समय पर्यन्त सत है। अकेली पर्याय पर या राग पर दृष्टि रखकर इस क्रमबद्धपर्यायका निर्णय नही होता, किन्तु ध्रुव ज्ञायकस्वभाव पर दृष्टि रखकर ही क्रमबद्धपर्यायका यथार्थ निर्णय होता है। अनेक लोगोंको ऐसा प्रश्न उठता है कि—क्रमबद्धपर्यायमें धर्मका पुरुषार्थ करना कहाँ रहा ? उनसे कहते है कि भाई! सम्यक्-श्रद्धा–ज्ञानके अन्तर्पुरुषार्थ बिना यह बात निश्चित ही नही होती। "मैं ज्ञायक हूँ"—ऐसी दृष्टिके बिना क्रमबद्धपर्यायका ज्ञान करेगा कौन ? ज्ञानके निर्णय बिना ज्ञेयका निर्णय होता ही नही। ज्ञानके निर्णय सहित क्रमबद्धपर्यायका निर्णय करे तो अनन्त पदार्थोंमें कही भी फेरफार करनेका अनन्ता अहंकार दूर हो जाये और ज्ञातारूप ही

रहे ।—इसीमें मिथ्यात्वके और अनन्तानुबन्धीकषायके नाशका पुरुषार्थ आ गया । यही धर्मके पुरुपार्थका स्वरूप है, अन्य कोई वाहरका पुरुषार्थ नही है ।

(१५७) "क्रमबद्ध" का निर्णय और उसका फल

क्रमवद्धपर्यायका निर्णय किसे होता है ? और उसका फल क्या ?

—जिसकी वुद्धि ज्ञायकभावमे एकाग्र हुई है, और रागमें या परका फेरफार करनेकी मान्यतामें रुक नही गई है, उसीको क्रमवद्धपर्यायका यथार्थ निर्णय हुआ है, और उस निर्णयके साथ उसे पुरुपार्थादि पाँचों समवाय (पूर्वोक्त प्रकारसे) आ जाते है। और, स्वसन्मुख होकर वह निर्णय करते ही सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायोंका क्रमवद्ध प्रवाह प्रारम्भ हो जाता है—यही उसका फल है। ज्ञायकस्वभावकी दृष्टि कहो, क्रमबद्धपर्यायका निर्णय कहो, या मोक्षमार्गका पुरुषार्थ कहो—तीनों एकसाथ ही है; उनमेसे एक हो और दूसरे दो न हों ऐसा नही हो सकता ।

प्रत्येक पदार्थ सत् है , उसका जो अनादि अनन्त जीवन है उसमें तीनोकालकी पर्याये एकसाथ प्रगट नही हो जाती, किन्तु एकके वाद एक प्रगट होती है, और प्रत्येक समयकी पर्याय व्यवस्थित क्रमवद्ध है । ऐसे वस्तुस्वरूपका निर्णय करनेवालेको सर्वज्ञके केवल-ज्ञानका निर्णय हुआ और अपने ज्ञानमे वैसा सर्वज्ञताका सामर्थ्य है—उसका भी निर्णय हो गया । ज्ञानस्वभावकी सन्मुखतामें इन सवका निर्णय एकसाथ हो जाता है। अक्रम ऐसे ज्ञायकस्वभावी द्रव्यकी ओर उन्मुख होकर उसका निर्णय करनेसे पर्यायकी क्रमबद्धताका निर्णय भी हो जाता है; अक्रमरूप अखण्ड द्रव्यकी दृष्टि विना पर्यायकी क्रमवद्धताका यथार्थ ज्ञान नही होता ।

भगवान ! द्रव्य त्रिकाली सत् है, और पर्याय एक-एक समयका सत् है; वह सत् जैसा है उसे वैसा ही जाननेका तेरा स्वभाव है;

किन्तु उसमें कही उलटा-सीधा करनेका तेरा स्वभाव नहीं है । अरे, सत्मे "ऐसा क्यो ?"—इसप्रकार विकल्प करनेका भी तेरा स्वभाव नही है ।—ऐसे स्वभावकी प्रतीति करनेसे मोक्षमार्गका प्रारम्भ हो जाता है और उसमे मोक्षमार्गके पाँचो समवाय एकसाथ आ जाते है।

(१५८) यह है संतोंका हार्द

एक ओर अकेला ज्ञायकस्वभाव, और दूसरी ओर क्रमबद्ध-पर्याय,—इसका यथार्थ निर्णय करनेमें सब आ जाता है, वह मूल वस्तुधर्म है, वह केवलीभगवानका उदर है, सतोका हार्द है, शास्त्रो-का मर्म है, विश्वका दर्शन है, और मोक्षमार्गका कर्तव्य कैसा होता है उसकी यह रीति है ।

अज्ञानी कहते है कि यह " छूतकी बीमारी है" तब यहां कहते है कि यह सर्वज्ञका हार्द है; जिसे यह बात बैठ गई उसके हृदयमे सर्वज्ञ बैठ गये,—वह अल्पज्ञ होने पर भी "मैं सर्वज्ञ जैसा ज्ञाता हूँ" —ऐसा उसे निर्णय हो गया ।

अभी जिन्होने ऐसे वस्तुस्वरूपका निर्णय नही किया, अरे ! यह बात सुनी भी नही, और यो ही त्यागी या व्रतपना लेकर धर्म मान लिया है, उन्हे धर्म तो नही है, किन्तु धर्मकी रीति क्या है—इसकी भी उन्हे खबर नही है।

(१५९) जो यह बात समझ ले उसकी दृष्टि बदल जाती है

यहाँ ज्ञायकस्वभावकी दृष्टिकी बात है, इसलिये ज्ञानस्वभाव-का निर्णय क्या, पुरुषार्थ क्या, सम्यग्दर्शन क्या,—यह सब साथ ही आ जाता है, और इस दृष्टिसे तो गृहीत या अगृहीत दोनों मिथ्यात्वका नाश हो जाता है । जो ज्ञायकस्वभावकी दृष्टि नही करता, पुरुषार्थ-को नही मानता, सम्यग्दर्शन नही करता और " जो होना होगा वह होगा "—इसप्रकार एकान्त नियतको पकड़कर स्वच्छन्दी होता है, वह गृहीतमिथ्यादृष्टि है, ऐसे जीवकी यहां बात नही है । यह बात

समझ ले उसे ऐसा स्वच्छन्द रहता ही नहीं, उसकी तो दृष्टिका सारा परिणमन ही वदल जाता है ।

(१६०) ज्ञायकस्वभावकी दृष्टिकी ही मुख्यता

द्रव्यदृष्टिके विना क्रमबद्धपर्यायका निर्णय नही होता; क्योकि क्रमवद्धपना समय-समयकी पर्यायमे है, और छद्मस्थका उपयोग असंख्य समयका है, उस असंख्य समयके उपयोगमे एक-एक समय की पर्याय पृथक् करके नही पकड़ी जा सकती, किन्तु ध्रुवज्ञायकस्वभाव-में उपयोग एकाग्र हो सकता है । इसलिये समय-समयकी पर्यायका क्रमवद्धपना पकड़ते हुए उपयोग अन्तरोन्मुख होकर ध्रुवज्ञायकस्वभाव-मे एकाग्र होता है और ज्ञायककी प्रतीतिमे क्रमबद्धपर्यायकी प्रतीति भी हो जाती है ।—इसप्रकार इसमें ज्ञायकस्वभावकी दृष्टि ही मुख्य है।

(१६१) जैसा वस्तुस्वरूप, वैसा ही ज्ञान और वैसी ही वाणी

देखो, यह वस्तुस्वरूप ! पदार्थका जैसा स्वरूप हो वैसा ही ज्ञान जाने, तो वह ज्ञान सच्चा हो । समस्त पदार्थोकी तीनोकालकी पर्यायें क्रमबद्ध है,—ऐसा ही वस्तुस्वरूप है; सर्वज्ञभगवानने केवलज्ञान-में प्रत्यक्ष इसप्रकार जाना है और वाणीमे भी वैसा ही कहा है; इसप्रकार पदार्थ, ज्ञान और वाणी तीनो समान है । पदार्थोका जैसा स्वभाव है वैसा ही ज्ञानमे देखा, और जैसा ज्ञानमें देखा वैसा ही वाणीमे आया; —ऐसे वस्तुस्वरूपसे जो विपरीत मानता है—आत्मा कर्ता होकर परकी पर्याय वदल सकता है—ऐसा मानता है वह पदार्थके स्वभावको नही जानता, सर्वज्ञके केवलज्ञानको नही जानता और सर्वज्ञके कहे हुए आगमको भी वह नही जानता; इसलिये देव-गुरु-शास्त्रको उसने वास्तवमे नही माना है ।

इस "क्रमवद्धपर्याय" के सम्वन्धमे आजकल अनेक जीवोका कुछ निर्णय नही है, और वडी गडवड़ी चल रही है, इसलिये यहाँ अनेकानेक प्रकारोसे उसकी स्पष्टता की गई है ।

(१६२) स्वच्छन्दीके मनका मैल (१)

प्रश्नः—आप कहते है कि जैसा सर्वज्ञ भगवानने देखा होगा वैसा क्रमवद्ध होगा; तो फिर हमारी पर्यायमें मिथ्यात्व भी जैसा क्रमवद्ध होना होगा वैसा होगा ?

उत्तरः—अरे मूढ़ ! तुझे सर्वज्ञको मानना नही है और स्वच्छन्दका पोपण करना है !—निकाल दे अपने मनका मैल !! सर्वज्ञका निर्णय करे और मिथ्यात्व भी रहे—यह कहांसे लाया ? तूने सर्वज्ञका निर्णय ही नही किया है। इसलिये अन्तरका मैल निकाल दे....गोटे निकाल दे और ज्ञानस्वभावके निर्णयका उद्यम कर। ज्ञानस्वभावके निर्णय विना "क्रमवद्ध" की वात तू कहासे लाया ? मात्र "क्रमवद्ध" शव्दको पकड़ रखनेसे नही चलेगा। ज्ञानस्वभावका निर्णय करके क्रमवद्धको माने तो अपनी पर्यायमे मिथ्यात्व रहनेका प्रश्न ही न उठे, क्योकि उसकी पर्याय तो अन्तर्स्वभावोन्मुख हो गई है, उसे अव मिथ्यात्वका क्रम हो ही नही सकता, और सर्वज्ञ भगवान भी ऐसा देख ही नही सकते।

जिसे ज्ञानस्वभावका भान नही है, सर्वज्ञदेवका निर्णय नही है और उस प्रकारका उद्यम भी नही करता, विकारकी रुचि नहीं छोड़ता और मात्र भाषामे "क्रमवद्धपर्याय" का नाम लेकर स्वच्छन्दी होता है, वैसा जीव तो अपने आत्माको ही ठगता है। अरे ! जो परम वीतरागताका कारण है उसकी ओट लेकर स्वच्छन्दका पोषण करता है यह तो महान विपरीतता है।

(१६३) स्वच्छन्दीके मनका मैल (२)

एक त्यागी–पडितजीने विद्यार्थी पर खूव क्रोध किया; जब किसीने उनसे कहा तो वे वोले कि–"अरे भैया ! तुमने गोम्मटसार नही पढ़ा, गोम्मटसारमे ऐसा लिखा है कि जव क्रोधका उदय आता है तव क्रोध हो ही जाता है।" देखो, यह गोम्मटसार पढकर सार निकाला ! अरे भाई ! तू गोम्मटसारकी ओट न ले, तुझ जैसे स्वच्छन्दकी पुष्टि

करनेवालेके लिये वह कथन नहीं है। पहले तो क्रोधादिकषाय होनेका भय रहता था और अपने दोषोंकी निन्दा करता था, उसके बदले अब तो वह भी नही रहा ! भाई ! शास्त्रका उपदेश तो वीतरागताके लिये होता है या कषाय बढानेके लिये ? अज्ञानदशामें जैसा कषाय था वैसे ही कषायमे खड़ा हो तो उसने शास्त्र पढे ही नही, भले ही वह गोम्मटसारका नाम ले, किन्तु वास्तवमे वह गोम्मटसारको नही मानता।

(१६४) स्वच्छन्दीके मनका मैल (३)

—इसी प्रकार अब इस क्रमबद्धपर्यायकी बातमे लो। कोई जीव रुचिपूर्वक तीव्र क्रोधादिभाव करे और फिर कहे कि —"क्या किया जाये भाई ! हमारी क्रमबद्धपर्याय ऐसी ही होना थी !" क्रमबद्धपर्याय सुनकर ज्ञायकस्वभावोन्मुख होनेके बदले, यदि ऐसा सार निकाले तो वह स्वच्छन्दी है, वह क्रमबद्धपर्यायको समझा ही नही है। अरे भाई ! तू क्रमबद्धपर्यायकी ओट न ले, तुझ जैसे स्वच्छन्दका पोषण करनेवालेके लिये यह बात नही है। पहले तो क्रोधादि कषायका भय रहता था और अपने दोषोंकी निन्दा करता था, उसके बदले अब तो वह भी नही रहा। भाई रे ! यह क्रमबद्धपर्यायका उपदेश तो अपने ज्ञायकभावकी दृष्टि करनेके लिये है या विकारकी रुचिका पोषण करनेके लिये ? जो विकारकी रुचि छोडकर ज्ञानस्वभाकी दृष्टि नही करता वह जीव क्रमबद्धपर्यायकी बात समझा ही नही है; भले ही क्रमबद्धपर्यायका नाम ले, किन्तु वास्तवमें वह क्रमबद्धपर्यायको मानता ही नही है।

इसलिये हे भाई ! अपने मनका मैल निकाल दे, स्वच्छन्दका बचाव छोड दे और विकारकी रुचि छोड़कर ज्ञानस्वभावकी प्रतीतिका उद्यम कर।

(१६५) सम्यक्त्वीकी अद्भुत दशा !

प्रश्न:—क्रमबद्धपर्यायकी सच्ची समझ कैसे होती है ?

उत्तर:—"मैं ज्ञायक हूँ"—इस प्रकार ज्ञाताकी ओर ढलकर, अपनी दृष्टिको ज्ञायकस्वभावकी ओर मोड़ दे उसीको क्रमबद्धपर्यायकी सच्ची समझ होती है, इसके सिवा नही होती । इस प्रकार क्रमबद्धपर्याय माननेवालेकी दृष्टि क्रोध पर नही होती, किन्तु ज्ञायक पर ही होती है; और ज्ञायकदृष्टिके परिणमनमे क्रोधादि नही रहते । ज्ञायकस्वभावकी दृष्टिका ऐसा परिणमन हुए विना जीवको सच्चा सन्तोष और समाधान नही होता; और सम्यक्त्वीको ऐसी दृष्टिका परिणमन होनेसे उनके सब समाधान हो गये है, ज्ञायकपनेके परिणमनमें उन्हें किसीका अभिमान भी नहीं रहा, और अपनेमे प्रमाद भी नही रहा तथा आकुलता भी नहीं रही । ज्ञातापनेके परिणमनकी धारा चल रही है उसमे व्याकुलता भी कैसी ? और प्रमाद भी कैसा ?—ऐसी सम्यक्त्वीकी अद्‌भुत दशा है ।

(१६६) ज्ञातापनेसे च्युत होकर अज्ञानी कर्ता होता है

एक ओर ज्ञाता-भगवान, और सामने पदार्थोका क्रमबद्ध-परिणमन—उनका आत्मा ज्ञाता ही है, ऐसा मेल है; उसके बदले वह मेल तोडकर (अर्थात् स्वयं अपने ज्ञातास्वभावसे च्युत होकर) जो जीव कर्ता होकर परके क्रमको बदलना चाहता है, वह जीव परके क्रमको तो नही बदल सकता किन्तु उसकी दृष्टिमे विषमता (मिथ्यात्व) होती है । ज्ञायकपनेका निर्मल प्रवाह चलना चाहिये उसके बदले विपरीतदृष्टिके कारण वह विकारके कर्तृत्वरूपसे परिणमित होता है ।

(१६७) सम्यक्‌श्रद्धा-ज्ञान कब होते हैं ?

जिसे अपना हित करना हो,—ऐसे जीवके लिये यह बात है । हित सत्यसे होता है किन्तु असत्यसे नही होता । सत्यके स्वीकार विना सच्चा ज्ञान नही होता, और सम्यक्ज्ञानके बिना धर्म या हित नही होता । जिसे अपने ज्ञानमेसे असत्यपना टालकर सत्यपना करना हो उसे क्या करना चाहिये ?—उसकी यह बात है ।

जैसा पदार्थ है वैसी ही उसकी श्रद्धा करे, और जैसी श्रद्धा है वैसा ही पदार्थ हो, तो वह श्रद्धा सच्ची है; इसीप्रकार जैसा पदार्थ है वैसा ही उसका ज्ञान करे, और जैसा ज्ञान करे, वैसा ही पदार्थ हो—तो वह ज्ञान सच्चा है ।

"आत्मा ज्ञायकस्वरूप है, ज्ञायकपना ही जीवतत्त्वका सच्चा स्वरूप है, और पदार्थ क्रमबद्धपर्यायसे स्वयं परिणमित होनेवाले हैं; यह "ज्ञायक" अपने ज्ञानसहित उनका ज्ञाता है, किन्तु वह किसीके क्रमको बदलकर आगे-पीछे करनेवाला नही है"—ऐसे वस्तुस्वरूपकी श्रद्धा और ज्ञान करे तो वे श्रद्धा-ज्ञान सच्चे हों, इसलिये हित और धर्म हो ।

(१६८) मिथ्याश्रद्धा-ज्ञानका विषय जगतमें नहीं है

—किन्तु कोई ऐसा माने कि "मै कर्ता होकर परकी अवस्थाको वदल दूँ अर्थात् मेरा परके साथ कार्यकारणपना है"-तो उसकी मान्यता मिथ्या है, क्योंकि उसकी मान्यतानुसार वस्तुस्वरूप जगतमें नहीं है । मिथ्याश्रद्धाका (और मिथ्याज्ञानका) विषय जगतमें नही है । जिस प्रकार जगतमे "गधेका सीग" कोई वस्तु ही नहीं है, इसलिये "गधेका सीग" ऐसी श्रद्धा या ज्ञान वह मिथ्या ही है । उसी प्रकार "परके साथ कार्यकारणपना हो"—ऐसी कोई वस्तु ही जगतमें नही है, तथापि "मै परका करूँ"—इस प्रकार जो परके साथ कार्यकारणपना मानता है उसकी श्रद्धा और ज्ञान मिथ्या ही हैं; क्योंकि उसकी मान्यतानुसार कोई विषय जगतमे नही है । यहां ऐसा नही समझना चाहिये कि—जिस प्रकार "गधेका सीग" और परके साथ कार्यकारणपना जगतमे नही है उसी प्रकार मिथ्या श्रद्धा भी नही है । मिथ्या श्रद्धा-ज्ञान तो अज्ञानीकी पर्यायमे है; किन्तु उसकी श्रद्धानुसार वस्तुस्वरूप जगतमें नही है । अज्ञानीकी पर्यायमें मिथ्या श्रद्धा तो "सत्" है, किन्तु उसका विषय "असत्" है अर्थात् उसका कोई विषय जगतमें नही है ।

देखो, यहां कहा है कि–"मिथ्याश्रद्धा सत् है" इसका क्या मतलब ?—कि जगतमे मिथ्याश्रद्धाका अस्तित्व (सत्पना) है, मिथ्याश्रद्ध है ही नही—ऐसा नहीं है; किन्तु उस मिथ्याश्रद्धाके अभिप्रायानुसार कोई वस्तु जगतमें नही है। यदि उस श्रद्धानुसार वस्तुका स्वरूप हो तो उसे मिथ्याश्रद्धा न कहा जाये।

(१६९) इसमें क्या करना आया ?

यहां एक वात चल रही है कि आत्माका ज्ञायकपना और सर्व वस्तुओकी पर्यायोंका क्रमवद्धपना माने बिना श्रद्धा–ज्ञान सच्चे नही होते, और सच्चे श्रद्धा–ज्ञान बिना हित या धर्म नही होता।

कोई पूछे कि इसमें क्या करना आया ?–तो उसका उत्तर यह है कि–पहले परका कर्तृत्व मानकर विकारमें एकाग्र होता था, उसके बदले अब ज्ञानस्वभावमें एकाग्रता करके ज्ञाता–दृष्टा रहा। उस ज्ञाता-दृष्टापनेमे अतीन्द्रिय आनन्दका वेदन, स्वभावका पुरुषार्थ आदि भी साथ ही हैं।

(१७०) ज्ञायकसन्मुख दृष्टिका परिणमन ही सम्यक्त्वका पुरुषार्थ

ज्ञायकस्वभावका निर्णय करके जिसने क्रमबद्धपर्याय मानी उसके स्वसन्मुख पुरुषार्थ भी साथ ही आ गया है। ज्ञायकस्वभावसन्मुख जो परिणमन हुआ उसमे पुरुपार्थ कहीं अलग नहीं रह जाता; पुरुषार्थ भी साथ ही परिणमित होता है। ज्ञायकस्वभावकी दृष्टि, क्रमबद्धपर्याय-का निर्णय, स्वसन्मुख पुरुपार्थ, या सम्यग्दर्शन–यह सब कहीं पृथक्–पृथक् नही है किन्तु एक ही है। इसलिये कोई ऐसा कहे कि "हमने ज्ञायकका और क्रमवद्धका निर्णय तो कर लिया, किन्तु अभी सम्यग्दर्शनका पुरुपार्थ करना वाकी है," तो उसका निर्णय सच्चा नही है; क्योकि यदि ज्ञायकस्वभावका और क्रमबद्धपर्यायका यथार्थ निर्णय हो तो सम्यग्दर्शनका पुरुषार्थ उसमें आ ही जाता है।

(१७१) ज्ञायकस्वभावके आश्रयसे ही निर्मलपर्यायका प्रवाह

स्वसन्मुखपुरुषार्थ द्वारा ज्ञायकस्वभावका आश्रय करनेसे सम्यग्दर्शन होता है तथापि वह क्रमबद्ध है।

ज्ञायकस्वभावका आश्रय करनेसे मुनिदशा होती है, तथापि वह क्रमबद्ध है।

ज्ञायकस्वभावका आश्रय करनेसे शुल्कध्यान होता है, तथापि वह क्रमबद्ध है।

ज्ञायकस्वभावका आश्रय करनेसे केवलज्ञान और मोक्षदशा होती है, तथापि वह भी क्रमबद्ध है।

इसप्रकार ज्ञायकस्वभावके आश्रयसे ही निर्मलपर्यायका प्रवाह चलता है। जो ज्ञायकस्वभावका आश्रय नही करता उसे क्रमबद्धपर्यायमें निर्मल प्रवाह प्रारम्भ नही होता, किन्तु मिथ्यात्व चालू ही रहता है। स्वसन्मुखपुरुषार्थ द्वारा ज्ञायकस्वभावका आश्रय किये बिना किसीको भी निर्मलपर्यायका क्रम प्रारम्भ हो जाये–ऐसा नही होता।

(१७२) अकेले ज्ञायक पर ही जोर

देखो, इसमे जोर कहाँ आया ? अकेले ज्ञायकस्वभावके अवलम्बन पर ही सारा जोर आया। कालप्रवाहकी ओर देखकर बैठा रहना नही आया किन्तु ज्ञायककी ओर देखकर उसमे एकाग्र होना आया। ज्ञानीकी दृष्टिका जोर निमित्त पर, राग पर या भेद पर नही है, किन्तु अक्रम ऐसे चैतन्यभाव पर ही उसकी दृष्टिका जोर है; और वही सच्चा पुरुषार्थ है। अन्तरमे अपने ज्ञायकस्वभावको ही स्वज्ञेय बनाकर ज्ञान एकाग्र हुआ, वही सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र और मोक्षका कारण है।

(१७३) तुझे ज्ञायक रहना है या परको बदलना है ?

ज्ञायकस्वभावसन्मुख होकर क्रमबद्धपर्यायका ज्ञाता हुआ

उसका फल वीतरागता है, और वही जैनशासनका सार है। जिन्हें ज्ञानस्वभावकी खबर नही है, सर्वज्ञकी श्रद्धा नही है;—ऐसे लोग इस "क्रमवद्धपर्याय"के सम्बन्धमे ऐसी दलील करते है कि—"ईश्वर-का कर्तृत्व माने वहाँ तो भक्ति आदिसे ईश्वरको सतुष्ट करके उसमें फेरफार भी कराया जा सकता है, किन्तु यह क्रमबद्धपर्यायका सिद्धात तो इतना कठिन है कि ईश्वर भी इसमे फेरफार नही कर सकता!"–अरे भाई! तुझे अपनेमें ज्ञायकरूपसे रहना है या किसीमें फेरफार करने जाना है? क्या परमे कही फेरफार करके तुझे सर्वज्ञका ज्ञान मिथ्या सिद्ध करना है? तुझे आत्माके ज्ञानस्वभावको मानना है या नही? ज्ञानस्वभावी आत्माके पाससे ज्ञाता–दृष्टापनेके अतिरिक्त दूसरा कौनसा काम तुझे लेना है? ज्ञानस्वभावकी प्रतीति करके ज्ञायकस्वभावरूपसे परिणमित होनेमें सम्पूर्ण मोक्षमार्गका समावेश हो जाता है।

(१७४) ज्ञानी ज्ञाता ही रहते हैं, और उसमें पांचों समवाय आजाते हैं

एक बार ज्ञायकस्वभावका निर्णय करे तो ज्ञातापना हो जाये और परके कर्तृत्वका अभिमान उड़ जाये; इसलिये परके प्रति एकत्वबुद्धिके अनन्तानुवन्धी राग–द्वेष, हर्ष–शोकका तो भुक्का हो गया। रागका और परका संग छोडकर, अन्तरमें ज्ञायकस्वभावका संग करे उसे ज्ञेयोंकी क्रमबद्धपर्यायका निर्णय हो जाता है इसलिये वह ज्ञाता ही रहता है; एकत्वबुद्धिपूर्वकके राग–द्वेष उसे कही होते ही नही। शिष्यकी ज्ञानादि पर्याय उसके अपनेसे क्रमबद्ध होती है, मैं उसका क्या करूँ?—मै तो ज्ञाता ही हूँ;—ऐसा जाना वहाँ ज्ञानी को उसके प्रति एकत्वबुद्धिसे राग या द्वेष (–शिष्य होशियार हो तो राग, और वह न आये तो द्वेष) होता ही नही; और इसप्रकार ज्ञानीको कही भी एकत्ववुद्धिसे रागादि नही होते; उसके तो अपने ज्ञानस्वभावमे एकत्ववुद्धिसे निर्मल ज्ञानादिपरिणाम ही होते है।

ज्ञायकभावका जो परिणमन हुआ वही उसका स्वकाल है,

वही उसका नियत है, वही उसका स्वभाव है, वही उसका पुरुषार्थ है, और उसमे कर्मका अभाव है। इसप्रकार ज्ञायकभावके परिणमनमें ज्ञानीके एक साथ पाँचो समवाय आ जाते है।

(१७५) यहां जीवको उसका ज्ञायकपना समझाते हैं

जीव क्रमबद्ध अपनी ज्ञानादि पर्यायरूपसे उत्पन्न होता है, इसलिये उसे अपनी पर्यायके साथ कार्य-कारणपना है, किन्तु परके साथ कारण-कार्यपना नही है। एक द्रव्यमे दूसरे द्रव्यके कारण-कार्यका अभाव है। इस द्रव्यमे अपनी क्रमबद्धपर्यायका कार्य-कारणपना प्रतिसमय हो रहा है, और उसी समय सामने जगतके अन्य द्रव्योंमे भी अपनी-अपनी पर्यायका कारण-कार्यपना बन ही रहा है, किन्तु सर्व द्रव्योको अन्य द्रव्योके साथ कारण-कार्यपनेका अभाव है। ऐसी वस्तुस्थिति समझे तो, मै कारण होकर परका कुछ भी कर दूँ—ऐसा गर्व कहाँ रहता है? यह समझे तो भेदज्ञान होकर ज्ञायक-स्वभावोन्मुखता हो जाये। जीवको अपने ज्ञायकस्वभावकी ओर उन्मुख करनेके लिये यह बात समझाते है। जिसकी दृष्टि अपने ज्ञायकस्वभाव पर नहीं है, प्रत्येक वस्तु क्रमबद्धपर्यायरूपसे स्वय ही उत्पन्न होती है,—उसकी जिसे खबर नही है, और रागादि द्वारा परकी अवस्थामे फेरफार करना मानता है ऐसे जीवको समझाते है कि अरे जीव! तेरा स्वरूप तो ज्ञान है; जगतके पदार्थोंकी जो क्रमबद्ध-अवस्था होती है उसका तू बदलनेवाला या करनेवाला नही है किंतु जाननेवाला है; इसलिये अपने ज्ञातास्वभावकी प्रतीति कर और ज्ञातारूपसे ही रह, —अर्थात् ज्ञानस्वभावमे ही एकाग्र हो; यही तेरा सच्चा कार्य है।

(१७६) जीवको अजीवके साथ कारण-कार्यपना नहीं है।

जगतके पदार्थोंमे स्वाधीनरूपसे जो क्रमबद्धअवस्था होती है वही उनकी व्यवस्था है, उस व्यवस्थाको आत्मा नही बदल सकता। जीव अपने ज्ञानरूपसे परिणमित होता हुआ, साथमे अजीवकी

अवस्थाको भी कर दे ऐसा नही होता । आत्मा और जड़ दोनोमें प्रतिसमय अपना-अपना नया-नया कार्य उत्पन्न होता है, और वे स्वयं उसमे तद्रूप होनेसे उसका कारण है; इसप्रकार प्रत्येक वस्तुको अपनेमें समय-समय नया-नया कार्य-कारणपना वन ही रहा है; तथापि उन्हे एक-दूसरेके साथ कार्य-कारणपना नही है । जैसा ज्ञान हो वैसी भाषा निकलती हो अथवा जैसे शब्द हो वैसा ही ज्ञान होता हो तथापि ज्ञान को और शब्दको कारण-कार्यपना नही है । इच्छानुसार भाषा निकाले वहा अज्ञानी ऐसा मानता है कि मेरे कारण भाषा बोली गई, अथवा शब्दोके कारण मुझे वैसा ज्ञान हुआ-ऐसा वह मानता है, किन्तु दोनोके स्वाधीन परिणमनको वह नही जानता । प्रत्येक वस्तु प्रतिसमय नये-नये कारण-कार्यरूपसे परिणमित होती है और निमित्त भी नये-नये होते है तथापि उनको परस्पर कार्य-कारणपना नही है, अपने कार्य-कारण अपनेमे और निमित्तके कारण-कार्य निमित्तमे । भेदज्ञानसे ऐसा वस्तुस्वरूप जाने तो ज्ञानका विषय सच्चा हो, इसलिये सम्यग्ज्ञान हो जाये ।

(१७७) भूले हुओंको मार्ग बतलाते हैं, रोगीका रोग मिटाते हैं

ज्ञायकस्वभाव क्रमवद्धपर्यायका ज्ञाता है, उसके बदले क्रमवद्धको एकान्त-नियत कहकर जो उसका निषेध करता है वह अपने ज्ञायकत्वका ही इन्कार करता है और केवलज्ञानको उड़ाता है । भाई ! तू एकवार अपने ज्ञायकत्वका तो निर्णय कर....ज्ञायकका निर्णय करनेसे तुझे क्रमवद्धकी प्रतीति भी हो जायेगी, इसलिये अनादिकालीन विपरीत परिणमन छूटकर सीधा सम्यक् परिणमन प्रारम्भ हो जायेगा । इसप्रकार विपरीतमार्गसे छुड़ाकर स्वभावके सीधे मार्ग पर चढनेकी यह बात है । जिस प्रकार कोई लग्नमडपमें जानेके वदले स्मशानमे जा पहुँचे, उसीप्रकार अज्ञानी अपने ज्ञायकस्वभावकी लगन लगाकर उसमे एकाग्र होनेके वदले, मार्ग भूलकर 'मैं परका करू''—ऐसी विपरीतदृष्टिसे भवभ्रमणके मार्ग पर चढ़ गया है । यहा आचार्यदेव उसे ज्ञायकस्वभावका अकर्तृत्व बतलाकर

सीधे मार्ग (मोक्षमार्ग) पर चढ़ाते है। "मैं ज्ञायकस्वरूप, हूँ"—ऐसी ज्ञायककी लगन छोड़कर मूढ़ अज्ञानी जीव परकी कर्तावुद्धिसे आत्माकी श्रद्धा जहाँ भस्म हो जाती है ऐसे मिथ्यात्वरूपी स्मशानमें जा पहुंचा है। आचार्यदेव उसे कहते है कि भाई ! तेरा ज्ञायकजीवन है, उसका विरोध करके बाह्यविपयोमें एकत्वबुद्धिके कारण तुझे आत्माकी श्रद्धामें क्षयरोग लग गया है, यह तेरा क्षयरोग दूर करनेकी औषधि है; ज्ञायकस्वभावसन्मख होकर क्रमवद्धपर्यायका निर्णय कर तो तेरी कर्तावुद्धि दूर हो जाये और क्षयरोग मिटे अर्थात् मिथ्याश्रद्धा दूर होकर सम्यक्श्रद्धा हो। आजकल अनेक जीवोको यह निर्णय करना कठिन होता है, किन्तु यह तो खास आवश्यक है; यह निर्णय किये विना भवभ्रमणका अनादिकालीन रोग दूर नही हो सकता। मेरा ज्ञायकस्वभाव परका अकर्ता है मै अपने ज्ञायकपनेके क्रममे रहकर, क्रमवद्धपर्यायका ज्ञाता हूँ—ऐसा निर्णय न करे उसे अनन्त संसारभ्रमणके कारणरूप मिथ्याश्रद्धा दूर नही होती।

(१७८) वस्तुका परिणमन व्यवस्थित होता है या अव्यवस्थित ?

भाई ! तू विचार तो कर कि वस्तुका परिणमन व्यवस्थित होता है या अव्यवस्थित ?

यदि अव्यवस्थित कहे तो ज्ञान ही सिद्ध नही हो सकता; अव्यवस्थित परिणमन हो तो केवलज्ञान तीनकालका ज्ञान कैसे करेगा ? मन:पर्यय, अवधिज्ञान भी अपने भूत-भविष्यके विपयोंको कैसे जानेगे ? ज्योतिपी ज्योतिष काहेकी देखेगा ? श्रुतज्ञान क्या निर्णय करेगा ? हजारो लाखो या असंख्य वर्पोके बाद भविष्यकी चौवीसीमे यही चौवीस जीव तीर्थकर होंगे—यह सव किस प्रकार निश्चित् होगा ? सात वारोमे किस वारके वाद कौन-सा वार आयेगा और अट्ठाईस नक्षत्रोमे किस नक्षत्रके वाद कौन-सा नक्षत्र आयेगा —यह भी कैसे निश्चित् हो सकता है ? यदि अव्यवस्थित परिणमन हो तो यह कुछ भी पहलेसे निश्चित् नही हो सकता, इसलिये उसका ज्ञान ही

किसीको नही होगा। किन्तु ऐसा ज्ञान तो होता है, इसलिये वस्तुका परिणमन व्यवस्थित-क्रमवद्ध-नियमवद्ध ही है।

—और व्यवस्थितपरिणमन ही प्रत्येक वस्तुमे है, तो फिर -आत्मा उसमे फेरफार कर दे—यह बात भी नही रहती, मात्र ज्ञायकत्व ही रहता है। इसलिये तू अपने ज्ञायकपनेका निर्णय कर और परको बदलनेकी बुद्धि छोड—ऐसा उपदेश है। परको अव्यवस्थित माननेसे तेरा ज्ञान ही अव्यवस्थित हो जाता है, अर्थात् तुझे अपने ज्ञानकी ही प्रतीति नही रहती। और जो ज्ञानकी प्रतीति करे उसे परको बदलनेकी बुद्धि नही रहती।

(१७९) ज्ञाताके परिणमनमें मुक्तिका मार्ग

ऐसे अपने ज्ञायकस्वभावका निर्णय करके, स्वसन्मुख ज्ञाता-भावरूपसे क्रमवद्धपरिणमित होनेवाले जीवको परके साथ (कर्मके साथ) कार्यकारणपना सिद्ध नही होता; वह कर्ता होकर अजीवका कार्य भी करे—ऐसा नही होता। इसप्रकार जीव अकर्ता है—ज्ञायक है—साक्षी है। ज्ञायकस्वभावसन्मुख होकर ऐसा ज्ञायकपनेका जो परिणमन हुआ उसमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आ जाते है, और वही मोक्षका कारण है।

* आठवाँ प्रवचन *

[आश्विन शुक्ला ४, वीर सं० २४८०]

भाई ! यह बात समझकर तू स्वसन्मुख हो....अपने ज्ञायकस्वभावसन्मुख हो। —इसके सिवा अन्य कोई हितका मार्ग नही है। छुटकारेका मार्ग तुझमेही विद्यमान है, अन्तरके ज्ञायकस्वरूपको पकडकर उसमे एकता करेगा तो छुटकारेका मार्ग तेरे हाथमे ही है, इसके सिवा वाह्यमे लाखो उपाय करनेमे भी छुटकारा (मुक्तिका मार्ग) हाथ नही आ सकता।

(१८०) हे जीव ! ज्ञायकरूप ही रह !

आत्मा ज्ञायक है; जड-चेतनके क्रमबद्धपरिणाम होते रहते हैं, वहाँ उनका ज्ञायक न रहकर परमें कर्तृत्व मानता है वह जीव अज्ञानी है। यहाँ आचार्यदेव समझाते है कि—तुझे परके साथ कर्ताकर्मपना नहीं है; तू अजीवका कर्ता, अजीव तेरा कार्य—ऐसा नही है। जीव और अजीव क्रमबद्धपर्यायरूपसे उत्पन्न होते हैं, जिस समय जो पर्याय होना है उस समय वही होगी, वह आगे-पीछे या कम-अधिक नही हो सकती; द्रव्य स्वयं अपनी क्रमबद्धपर्यायरूपसे उत्पन्न होता है, तो दूसरा उसमें क्या करे ? उसमें दूसरेकी अपेक्षा क्या है ? इसलिये हे जीव ! तू ज्ञायकरूप ही रह। तू ज्ञायक है, परका अकर्ता है, तू अपने ज्ञातास्वभावमें अभेद होकर निर्विकल्प प्रतीति कर। स्व-सन्मुख होकर ज्ञाताभावरूप ही परिणमन कर; किन्तु मै निमित्त होकर परका काम कर दूँ—ऐसी दृष्टि छोड दे।

(१८१) भाई, तू ज्ञायक पर दृष्टि कर, निमित्तकी दृष्टि छोड़ !

कुछ लोग ऐसा मानते है कि "निमित्त होकर हम दूसरेका कार्य कर दें"—यह भी विपरीतदृष्टि है। भाई, वस्तुकी क्रमबद्धपर्याय जब स्वयं उससे होती है तब सामने दूसरी वस्तु निमित्तरूपसे होती है—इसका नाम निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध है; किन्तु अवस्था न होना हो और निमित्त आकर कर दे—ऐसा कोई निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध नहीं है। जड और चेतन समस्त द्रव्य स्वयं ही अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप-से उत्पन्न होते है, इसलिये निमित्तसे कुछ होता है—यह बात ही उड़ जाती है। आत्मा अजीवका कर्ता नही है;—इसे समझनेका फल तो यह है कि तू परके ऊपरसे दृष्टि उठाकर, अपने अभेद ज्ञायकआत्मा पर दृष्टि रख; स्वसन्मुख होकर आत्माकी निर्विकल्प प्रतीति कर। "मैं कर्ता नही हूँ किन्तु निमित्त बनकर परका कार्य करूँ"-यह बात भी इसमे नही रहती, क्योकि ज्ञायकोन्मुख जीव परकी ओर नही देखता,—ज्ञायककी दृष्टिमे परके साथके निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्धः

का भी लक्ष छूट गया है; उसमें तो अकेले ज्ञायकभावका ही परिणमन है। अज्ञानी तो निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्धके बहाने कर्ता-कर्मपना मान लेते है, उसकी बात तो दूर रही, किन्तु यहां तो कहते हैं कि एकवार परके साथके निमित्त-नैमित्तिक सम्वन्धको भी दृष्टिमेंसे छोडकर अकेले ज्ञायकस्वभावको ही दृष्टिमें ले, दृष्टिको अन्तरोन्मुख करके ज्ञायकमे एकाग्र कर तो सम्यग्दर्शन हो। ऐसी अन्तरकी सूक्ष्म बात है, उसमें "निमित्त आये तो होता है और निमित्त न आये तो नहीं होता"—ऐसी स्थूल बात तो कही दूर रह गई!—उसे अभी निमित्त-को ढूँढना है, किन्तु ज्ञायकको नही ढूँढना है, अन्तरमे ज्ञायकोन्मुख नहीं होना है। जिसे अपने ज्ञायकपनेकी प्रतीति नही है वह जीव निमित्त बनकर परको बदलना चाहता है। भाई! परद्रव्य उनकी अपनी क्रमवद्धपर्यायरूपसे उत्पन्न होते हैं और तू अपनी क्रमबद्धपर्यायसे उत्पन्न होता है;—फिर उसमें कोई किसीका निमित्त होकर उसके क्रममें कुछ फेरफार कर दे—यह बात कहां रही! क्रमवद्धपर्यायसे रहित ऐसा कौन-सा समय है कि दूसरा कोई आकर कुछ फेरफार करे? द्रव्यमें अपनी क्रमबद्धपर्यायसे रहित कोई समय नहीं है। इसलिये ज्ञायकोन्मुख होकर तू ज्ञाता रह जा। ज्ञायकस्वभाव-का निर्णय करे तो सर्व विपरीत मान्यताओंका नाश हो जाये।

(१८२) क्रमबद्ध परिणमित होनेवाले द्रव्योंका अकार्य-कारणपना

प्रत्येक आत्मा और प्रत्येक जड अपने-अपने क्रमबद्धपरिणाम-रूपसे उत्पन्न होते है; इसप्रकार उत्पन्न होते हुए वे द्रव्य अपने परिणाम-के साथ तद्रूप है, किन्तु अन्यके साथ उन्हे कारणकार्यपना नही है। इसलिये जीव कर्ता होकर अजीवका कार्य करे—ऐसा नही होता, इसलिये जीव अकर्ता है। प्रत्येक द्रव्य अपनी उस-उस समयकी क्रमवद्धपर्यायके साथ अनन्य है; यदि दूसरा कोई आकर उसकी पर्याय-में हाथ डाले तो उसे परके साथ अनन्यपना हो जाये, इसलिये भेदज्ञान न रहकर दो द्रव्योंकी एकत्वबुद्धि हो जाये। भाई, क्रमवद्धपर्यायरूप-से द्रव्य स्वयं उत्पन्न होता है, तो दूसरा उसमे क्या करेगा?—

ऐसी समझ वह भेदज्ञानका कारण है । वस्तुस्वभाव ही ऐसा है, उसमे दूसरा कुछ हो सके ऐसा नही है, दूसरे प्रकारसे माने तो मिथ्याज्ञान होता है ।

(१८३) भेदज्ञानके विना निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्धका ज्ञान नहीं होता ।

देखो, यह इस शरीरकी उँगली ऊँची-नीची होती है वह अजीव परमाणुओकी क्रमबद्धपर्याय है, और उस पर्यायमे तन्मयरूपसे अजीव उत्पन्न हुआ है, जीव उस पर्यायरूपसे उत्पन्न नही हुआ है, इसलिये आत्माने उँगलीकी पर्यायमे कुछ किया—यह बात झूठ है। और इसप्रकार छहो द्रव्य अपने-अपने स्वभावसे ही अपनी क्रमबद्ध-पर्यायरूपसे परिणमित होते है,—ऐसी स्वतन्त्रता जानकर भेदज्ञान करे तभी निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्धका यथार्थ ज्ञान होता है । दूसरी वस्तु आये तो कार्य होता है और न आये तो नही होता—ऐसा माने तो वहाँ निमित्त-नैमित्तकसम्बन्ध सिद्ध नही होता, किन्तु कर्ताकर्मपनेकी मिथ्यामान्यता हो जाती है । दूसरी वस्तु आये तो कार्य होता है —अर्थात् निमित्तसे कार्य होता है—ऐसा माननेवाले है वह जीवद्रव्यके क्रमवद्ध स्वतन्त्रपरिणमनको न जाननेवाले, ज्ञानस्वभावको न माननेवाले, और परमें कर्तृत्व माननेवाले मूढ है ।

(१८४)—किन्तु व्यवहारसे तो कर्ता है न....!"

"व्यवहारसे तो निमित्त कर्ता है न ?" ऐसा अज्ञानी कहते हैं; किन्तु भाई ! "व्यवहारसे तो कर्तापना है"—ऐसा जोर देकर तू क्या सिद्ध करना चाहता है ? व्यवहारके नामसे तुझे अपनी एकता-वुद्धि ही दृढ़ करना है ? "किन्तु व्यवहारसे कर्ता" यानी वास्तवमे अकर्ता—ऐसा तू समझ । एक वस्तुकी क्रमवद्धपर्यायके समय दूसरी वस्तु भी क्रमवद्धपर्यायरूपसे उत्पन्न होती हुई निमित्तरूपसे भले हो, यहा जो पर्याय है, और उसी समय सामने जो निमित्त है, वे दोनो सुनिश्चित ही हैं ।—ऐसा व्यवस्थितपना जो जानता है उसे "निमित्त

आये तो होता है, और न आये तो नही होता"—यह प्रश्न ही नही उठता ।

(१८५) सम्यग्दर्शनकी सूक्ष्म बात

दूसरे-यहां तो इससे भी सूक्ष्म वात यह है कि, ज्ञायक पर दृष्टि करनेसे निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्धकी दृष्टि भी छूट जाती है । निमित्त-नैमित्तिकसम्वन्ध पर ही जिसकी दृष्टि है उसकी दृष्टि परके ऊपर है; और जवतक परके ऊपर दृष्टि है तवतक निर्विकल्प प्रतीतिरूप सम्यक्त्व नही होता । अकेले ज्ञायकस्वभावको दृष्टिमे लेकर एकाग्र हो तभी सम्यग्दर्शन होता है और निर्विकल्प आनन्दका वेदन होता है ।—ऐसी दशा विना धर्मका प्रारम्भ नही होता ।

(१८६) जिसे आत्महित करना है उसे बदलना ही पड़ेगा !

अहो, आत्माके हितकी ऐसी श्रेष्ठ बात ! ! ऐसी बातको एकान्तवाद कहना या गृहीतमिथ्यादृष्टिके नियतवादके साथ इसकी तुलना करना वह तो जनशासनका ही विरोध करने जैसा महान गजब है ! "स्याद्वाद नही है, एकान्त है, नियत है, छूतकी बीमारी है"—इत्यादि कहकर विरोध करने वाले सभीको बदलना पडेगा, यह वात तोनकालमे नही बदल सकती । इससे विरुद्ध कहनेवाले भले ही चाहे जैसे महान त्यागी या विद्वान माने जाते हो तथापि उन सबको बदलना पड़ेगा—अगर उन्हे आत्माका हित करना है तो ।

(१८७) गम्भीर रहस्यका दोहन

आचार्य भगवानने इन चार गाथाओमें (३०८ से ३११ मे) पदार्थस्वभावका अलौकिक नियम रख दिया है, और श्री अमृतचन्द्राचार्यदेवने टीका भी ऐसी ही अद्भुत की है । कुन्दकुन्दाचार्यदेवने सक्षेपमे द्रव्यानुयोगको गभीरता पूर्वक समा दिया है, और अमृतचन्द्राचार्यदेवने टीकामे उसका रहस्य खोल दिया है । जिसप्रकार भैसके पेटमे जो दूध भरा हो वही दुहनेसे बाहर आता है, उसीप्रकार सूत्र-

में और टीकामें जो रहस्य भरा है उसीका यह दोहन हो रहा है, जो मूलमें है उसीका यह विस्तार है।

(१८८) संपूर्ण द्रव्यको साथ रखकर अपूर्व बात !

जीव अपने क्रमबद्ध परिणामोसे उत्पन्न होता है, तथापि अजीवके साथ उसे कारण-कार्यपना नही है। यहाँ तो आचार्यदेव कहते है कि "दविय ज उप्पज्जई"....अर्थात् प्रतिसमय अपने नये-नये परिणामरूपसे द्रव्य ही स्वय उत्पन्न होता है। पहले समयमें कारण-कार्यरूपसे जो द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव है, वे चारो दूसरे समयमे कुलांट मारकर दूसरे समयके कारण-कार्यरूपसे परिणमित हो जाते है; अकेले परिणाम ही पलटते है और द्रव्य नही पलटता—ऐसा नही है; क्योकि परिणामरूपसे द्रव्य स्वय ही उत्पन्न होता है। चक्कीके दो पाटोंकी भाति द्रव्य और पर्यायमे भिन्नत्व नही है; इसलिये जिस प्रकार चक्कीमे ऊपरका पाट घूमता है और नीचेका बिलकुल स्थिर रहता है—ऐसा नही है। पर्यायरूपसे कौन परिणमित हुआ ? तो कहते है वस्तु स्वयं। आत्मा और उसके अनन्त गुण, प्रतिसमय नई-नई पर्यायरूपसे उत्पन्न होते है, उस पर्यायमे वे तद्रूप है। इसलिये पर्याय अपेक्षासे देखने पर द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव—चारो दूसरे समय पलट गये है। द्रव्य और गुणोकी अपेक्षासे सदृशता ही है, तथापि पहले समयके जो द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव है वे पहले समयकी उस पर्यायरूपसे उत्पन्न (परिणमित) हुए है, और दूसरे समयमें वे द्रव्य-क्षैत्र-भाव तीनो पलटकर दूसरे समयकी उस पर्यायरूपसे उत्पन्न होते है। इस प्रकार क्रमबद्धपर्यायरूपसे द्रव्य स्वयं ही परिणमित होता है। दूसरे समयकी पर्याय "ज्योकी त्यो" भले हो, किन्तु द्रव्यकी पहले समय जो तद्रूपता थी वह बदलकर दूसरे समयमे दूसरी पर्यायके साथ तद्रूपता हुई है। अहो, पर्याय-पर्यायमें सारे द्रव्यको साथ ही साथ लक्षमें रखा है। द्रव्यका यह स्वरूप समझे तो पर्याय-पर्यायमे द्रव्यका

अवलम्बन वर्तता ही रहे इसलिये द्रव्यकी दृष्टिमें निर्मल-निर्मल पर्यायोंकी धारा वहती रहे....ऐसी अपूर्व यह वात है ।

(१८९) मुक्तिका मार्ग

पर्यायरूपसे उत्पन्न कौन हुआ ? तो कहते हैं द्रव्य । इसलिये अपनेको अपने ज्ञायकद्रव्यके सन्मुख ही देखना रहता है; दूसरा आकर इसका कुछ कर दे, अथवा यह किसी दूसरेका कुछ करने जाये यह वात कहा रहती है ? भाई ! यह वात समझकर तू स्वसन्मुख हो....अपने ज्ञायकस्वभावकी ओर देख ।—इसके सिवा अन्य कोई हितका मार्ग नही है । छुटकारेका मार्ग तुझीमे विद्यमान है; अंतरके ज्ञायकस्वरूपको पकड़कर उसमे एकता कर तो छुटकारेका मार्ग तेरे हाथमे ही है, इसके सिवा वाह्यमे लाखो प्रयत्न करनेसे भी छुटकारा (मुक्तिका मार्ग) हाथ नही आ सकता ।

(१९०) "ज्ञायक" ही ज्ञेयोंका ज्ञाता है

अपने क्रमबद्धपरिणामोमें तद्रूप वर्तता हुआ द्रव्य प्रवाहक्रममे दौड़ता ही जाता है; आयतसामान्य अर्थात् दौड़ता-प्रवाह, उसमें तद्रूपतासे द्रव्य उत्पन्न होता है । द्रव्यके प्रदेश सव एकसाथ (विस्तारसामान्य समुदायरूपसे) विद्यमान है, और पर्याय एकके वाद एक क्रमवद्धप्रवाहरूपसे वर्तती है । द्रव्यके क्रमवद्धपरिणमनकी धाराको रोकने, तोड़ने या बदलनेमे कोई समर्थ नही है । मै ज्ञायक जगतके द्रव्य-गुण-पर्यायोको—जिस प्रकार वे सत् है उसी प्रकार-जाननेवाला हूँ;—इसप्रकार अपने ज्ञायकस्वभावका निर्णय करनेकी यह वात है । जो ज्ञायकका निर्णय करे वही ज्ञेयोको यथार्थरूपसे जानता है ।

(१९१) यह है, ज्ञायकस्वभावका अकर्तृत्व

द्रव्य-क्षेत्र और भाव, पहले समयकी उस पर्यायमे तद्रूप है; वह पर्याय वदलकर दूसरी हुई, तव दूसरे समयकी उस पर्यायमें तद्रप है ।—इस प्रकार वस्तुके द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव चारो

प्रति समय पलटकर नई-नई अवस्थारूपसे उत्पन्न होते है, इसलिये उसी पर्यायके साथ उन्हें कारण-कार्यपना है, किन्तु दूसरीके साथ कारण-कार्यपना नही है । देखो, यह ज्ञायकस्वभावका अकर्तृत्व !

(१) ज्ञायकभाव परसे तो भिन्न,
(२) रागादिक भावोसे भी भिन्न,
(३) एक पर्याय, आगे-पीछेकी दूसरी अनत पर्यायोंसे भिन्न
(४) एक गुण दूसरे अनन्त गुणोंसे भिन्न, और
(५) द्रव्य-गुणकी पहले समयमें जिस पर्यायके साथ तद्रूपता थी वह तद्रूपता दूसरे समय नही रही, किन्तु दूसरे समय दूसरी पर्यायके साथ तद्रूपता हुई है ।

—देखो यह सत्यका श्रद्धान होनेकी रीति ! यह बात लक्षमें लेनेसे सम्पूर्ण ज्ञायकद्रव्य दृष्टिके समक्ष आ जाता है।

(१९२) "जीवंत वस्तुव्यवस्था और ज्ञायकका जीवन"—उसे जो नहीं जानता वह मूढ़ "मरे हुएको जीवित, और जीवितको मरा हुआ मानता है ।"

जिस प्रकार कोई अज्ञानी प्राणी मुर्देको जीवित मानकर उसे जिलाना चाहे—खिलाना-पिलाना चाहे, तो कोई मुर्दा जीवित नही हो सकता और उसका दुःख दूर नही हो सकता; (यहां रामचन्द्रजीका उदाहरण नही देते, क्योकि रामचन्द्रजी तो ज्ञानी सम्यक्त्वी थे) किन्तु मुर्देको मुर्दारूपसे जाने तो उसकी भ्रमणाका दुःख दूर हो । उसी प्रकार परवस्तुके साथ कर्ता-कर्मपनेका अत्यन्त अभाव ही है, (मुर्देकी भाँति), तथापि जो ऐसा मानता है कि—परका भी करता हूँ; वह अभावको अभावरूप न मानकर, परका अपनेमे सद्भाव मानता है; उस विपरीत मान्यतासे वह दुःखी ही है ।

अथवा, जिस प्रकार कोई जीवितको मरा हुआ माने तो वह

मूढ है; उसी प्रकार आत्मा ज्ञायकस्वभावसे जीवित है, ज्ञायकपना ही उसका जीवन है; उसके बदले जो उसे परका कर्ता मानता है वह ज्ञायकजीवनका घात करता है इसलिये वह महान हिंसक है। और, परवस्तु भी जीवित (स्वयं परिणमित) है; उसके बदले मैं उसे परिणमित करता हूँ—ऐसा जिसने माना उसने परवस्तुको जीवित नही माना, किन्तु मरा हुआ अर्थात् परिणमनरहित माना है। स्वतन्त्र परिणमित वस्तुका जो परके साथ कर्ता-कर्मपना मानता है वह जीवत वस्तुव्यवस्थाको नही जानता । समयसार गाथा ३५६ से ३६५ की टीकामे भी कहा है कि-"जिसका जो हो वह वही होता है; जैसे कि—ज्ञान आत्माका होनेसे ज्ञान आत्मा ही है"-ऐसा तात्त्विकसम्बन्ध जीवत है ।" देखो, यह जीवंत सम्बन्ध ! आत्माका अपने ज्ञानादिके साथ एकताका सम्बन्ध जीवत है, किन्तु परके साथ कर्ताकर्मपनेका सम्बंध किंचित् भी जीवंत नही है। यदि परद्रव्य आत्माका कार्य हो अर्थात् आत्मा परका कार्य करे, तो वह परद्रव्य आत्मा ही हो जाये; क्योकि जो जिसका कार्य हो वह उससे पृथक् नही होता। कितु ज्ञायक आत्माका परके साथ ऐसा कोई सम्बध नही है। तथापि जो परके साथ कर्ताकर्मका सम्बध मानता है वह ज्ञायकजीवनका घात कर देता है और मुर्देको जीवित करना चाहता है, वह मूढ-मिथ्यादृष्टि है। सभी द्रव्य स्वय परिणमित होकर अपनी क्रमसर पर्यायोमें तद्रूपतापूर्वक वर्तते है—ऐसी जीवत वस्तुव्यवस्था है; उसके बदले दूसरेके द्वारा उसमे कुछ फेरफार होना माने, तो उससे कही वस्तुव्यवस्था तो नही बदल जायेगी कितु वैसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि होगा।

चारों ओरसे एक ही धाराकी बात है; कितु जो पात्र होकर समझना चाहे उसकी समझमें आती है। द्रव्यके क्रमबद्ध-प्रवाहको कोई दूसरा बीचमे आकर बदल दे-ऐसा जीवत वस्तुमें नही है, इसलिये स्वभावसन्मुख होकर ज्ञायकभावरूप परिणमित हुआ, उसे ज्ञायकभावकी परिणमनधारामे बीचमे रागका कर्तृत्व आ

जाये—ऐसा ज्ञायकके जीवनमें नहीं है; तथापि ज्ञायकको रागका कर्ता माने तो वह जीवंत वस्तुको नही जानता—ज्ञायकके जीवनको नही जानता।

ज्ञायक जीवको अपने निर्मल ज्ञानपरिणामका कर्तापना हो—ऐसा सम्वन्ध जीवित है, किन्तु ज्ञायक जीवको अजीवका कर्तृत्व हो—ऐसा सम्बन्ध जीवित नही है। ज्ञानीको ज्ञायकभावके साथका सम्वन्ध जीवित है और मोहके साथका सम्बन्ध मर गया है;—ऐसा ज्ञाताका जीवन है!

(१९६) कर्ताकर्मपना अन्यसे निरपेक्ष है, इसलिये जीव अकर्ता है, ज्ञायक है

आचार्यदेव कहते है कि जीव कर्ता और अजीव उसका कर्म—ऐसा किसी प्रकार सिद्ध नही होता, क्योकि कर्ता-कर्मकी अन्यसे निरपेक्षतया सिद्धि है; एक वस्तुके कर्ता-कर्ममें वीचमें दूसरेकी अपेक्षा नही है। क्रमवद्धअवस्थारूपसे उत्पन्न होनेवाला द्रव्य ही कर्ता होकर अपने पर्यायरूप कर्मको करता है; वहाँ "यह हो तो ऐसा हो"—इस प्रकार अन्य द्रव्यकी अपेक्षा नही है। परकी अपेक्षाके बिना अकेले स्वद्रव्यमें ही कर्ता-कर्मकी सिद्धि हो जाती है यह निश्चय है।—ऐसी निश्चय वस्तुस्थितिका ज्ञान हो गया, तब दूसरे निमित्तको जानना वह व्यवहार है। वहाँ भी, इस वस्तुका कार्य तो उस निमित्तसे निरपेक्ष ही है—निमित्तके कारण इस कार्यमे कुछ हुआ—ऐसा नही है। व्यवहारसे निमित्तको कर्ता कहा जाता है, किन्तु उसका अर्थ यह नही है कि उसने कार्यमे कुछ भी कर दिया! "व्यवहार-कर्ता"का अर्थ ही "वास्तवके अकर्ता" है। कर्ता-कर्म अन्यसे निरपेक्ष है, इसलिये निमित्तसे भी निरपेक्ष है; अन्य किसीकी अपेक्षा बिना ही पदार्थको अपनी पर्यायके साथ कर्ता-कर्मपना है। प्रत्येक द्रव्यके छहों कारक (कर्ता-कर्म-करणादि) अन्य द्रव्यों-

से निरपेक्ष हैं, और अपने स्वद्रव्यमें ही उनकी सिद्धि होती है। कर्ता–कर्म–करण–संप्रदान–अपादान और अधिकरण,—यह छहों कारक जीवके जीवमें हैं और अजीवके अजीवमे है।—ऐसा होनेसे जीव और अजीवका कर्तापना किसी प्रकार सिद्ध नही होता, किन्तु जीव अकर्ता ही है—ज्ञायक ही है—ऐसा वारवार सिद्ध होता है। इस प्रकार आचार्यदेवने जीवका अकर्तृत्व सिद्ध किया है।

(१९४) यह "क्रमबद्धपर्यायके पारायणका सप्ताह" आज पूरा होता है....

(१९५) यह समझ ले उसे क्या करना चाहिये ? –सारे उपदेशका निचोड़ !

प्रश्नः—लेकिन यह बात समझनेके बाद क्या ?

उत्तरः—भीतर ज्ञायकमें स्थिर होना इसके सिवा और क्या करना है ? क्या तुझे बाह्यमें उछल–कूद करना है ? या परका कुछ कर देना है ? यह ज्ञायकस्वरूप समझनेसे स्वयं ज्ञायकसन्मुख होकर ज्ञातारूपसे रहा, और रागके कर्तारूप नही हुआ—यही इस समझका फल है। "मै ज्ञायक हूँ" ऐसा समझा, वहां ज्ञायक क्या करेगा ? ज्ञायक तो ज्ञाताद्दष्टापनेका ही कार्य करता है। ज्ञायक को परका या रागका काम करनेका जो मानता है वह ज्ञायकस्वभावको समझा ही नही है और न क्रमबद्धपर्यायको समझा है। भाई ! ज्ञायकस्वभावोन्मुख होकर उसमें एकाग्र होनेसे सम्यग्दर्शनसे लेकर केवलज्ञान तककी क्रमवद्धपर्याय विकसित होती जाती है,—और यही सभी उपदेशका निचोड है। सर्वविशुद्धज्ञान–अधिकारकी इन चारों गाथाओमें आचार्यदेवने सारा निचोड भर दिया है। "सर्वविशुद्धज्ञान" अर्थात् ज्ञायकमात्र शुद्ध आत्मा ! उसकी प्रतीति कर, और क्रमवद्धपर्यायको यथावत् जान ।

(१९६) ज्ञायक भगवान जागृत हुआ....वह क्या करता है ?

इस ज्ञायककी प्रतीति की वहा उस ज्ञायकभूमिमें ही पर्याय उछलती है,—ज्ञायकका ही आश्रय करके निर्मलरूपसे उत्पन्न होती है, किंतु रागादिका आश्रय करके उत्पन्न नही होती । ज्ञायकस्वभावकी सन्मुखता हुई वहा पर्याय उछलती है—अर्थात् निर्मल-निर्मलरूपसे वढती ही जाती है । अथवा द्रव्य उछलकर अपनी निर्मल क्रमवद्धपर्यायमें कूदता है,—उस पर्यायरूपसे स्वय उत्पन्न होता है, किन्तु कही बाह्यमे नही कूदता । पहले ज्ञायकके भान बिना मिथ्यात्वदशामे सोता था, उसके बदले अब स्वसन्मुख होकर ज्ञायकभगवान जागृत हुआ वहां वह अपनी निर्मल पर्यायमे उछलने लगा; अब बढ़ती हुई निर्मल पर्यायमें कूदते-कूदते वह केवलज्ञान प्राप्त करेगा ।

(१९७) "क्रमबद्ध" के ज्ञाताको मिथ्यात्वका क्रम नहीं होता

प्रश्नः—क्रमवद्धपर्याय अज्ञानीको भी है न ?

उत्तरः—भाई, इस प्रश्नका उत्तर यह कि ज्ञायकस्वभावकी दृष्टिसे क्रमबद्धपर्यायका स्वरूप जो समझे उसे अपनेमें अज्ञान रहता ही नही । वह ऐसा जानता है कि ज्ञानीको, अज्ञानीको या जड़को,—सभीको क्रमबद्धपर्याय है; किन्तु उसमेः—

—ज्ञानीको अपने ज्ञायकस्वभावकी दृष्टिसे निर्मल-निर्मल क्रमवद्धपर्याय होती है,

—अज्ञानीको विपरीत दृष्टिमे मलिन क्रमबद्धपर्याय होती है, और

—जड़की क्रमबद्धपर्याय जड़रूप होती है ।

—ऐसा जाननेवाले ज्ञानीको अपनेमे तो मिथ्यात्वादि मलिन पर्यायका क्रम रहता ही नही है, क्योकि उसका पुरुपार्थ तो अपने ज्ञायकस्वभावकी ओर ढल गया है, इसलिये उसे तो सम्यग्दर्शनादि

निर्मल पर्यायका क्रम प्रारम्भ हो गया है। यदि ऐसी दशा न हो तो वह वास्तवमे क्रमबद्धपर्यायका रहस्य नहीं समझा है—मात्र बाते करता है।

(१९८) "चैतन्यचमत्कारी हीरा"

यहा आचार्यभगवानने जीवको उसका ज्ञायकपना समझाया है—भाई ! तेरा आत्मा ज्ञायक है...."चैतन्यचमत्कारी हीरा" है; तेरा आत्मा प्रतिसमय ज्ञाता–दृष्टापनेकी क्रमबद्धपर्यायरूपसे उत्पन्न होकर जाने—ऐसा ही तेरा स्वभाव है। किन्ही पर पदार्थोकी अवस्थाको बदलनेका स्वभाव नही है; इसलिये परकी कर्ताबुद्धि छोड़ और अपने ज्ञायकस्वभावसन्मुख होकर ज्ञायकरूप ही रह।

(१९९) चैतन्यराजाको ज्ञायकभावकी राजगद्दी पर बिठाकर सम्यक्त्वका तिलक होता है वहां विरोध करके परको बदलना चाहता है, उसके दिन फिरे हैं !

अहो, ऐसी परम सत्य बात समझाकर आचार्यदेव आत्माको उसके ज्ञायकस्वभावकी राजगद्दी पर बिठाते है....आत्मामे सम्यक्त्वका तिलक करते है....किन्तु विपरीतदृष्टिवाले मूढ़ जीव ऐसी सत्य बातका विरोध करते है; उन्हे ज्ञायकरूपसे नही रहना है किन्तु परके कर्तृत्वका अभिमान करके अभी संसारमें भटकना है। राजा नवघणको एकबार एक सुन्दर चारण युवती तिलक करने आई। उस समय उस सुन्दरीका रूप देखकर राजाकी दृष्टि बिगड़ी; इसलिये जब वह युवती तिलक करने लगी कि राजाने अपना मुँह दूसरी दिशामे फेर लिया। युवती दूसरी दिशामें गई तो राजाने तीसरी दिशामे मुँह कर लिया। अन्तमें उस युवतीने अपनी सास से कहा कि—माताजी, "राय तो फिरते है।" उसकी सास राजाका हृदय समझ गई, इसलिये उसने उत्तर दिया कि—"बेटा ! राय नही फिरते....रायके दिन फिरते है।"

उसीप्रकार यहाँ श्रीगुरु जीवको उसके ज्ञायकस्वभावके सिंहासन पर बिठाकर, तीनलोकके ज्ञानसाम्राज्यका राजतिलक करते हैं...."अरे जीव ! अतरमे ज्ञायकभगवानकी प्रतीति करके राजगद्दी पर बैठनेका (उत्कृष्ट स्वभावमे एकाग्र होनेका) अवसर आया है; सम्यग्दर्शनरूपी राजतिलक करनेका सुअवसर आया है....अरे चैतन्य-राजा ! बैठ अपने ज्ञायक स्वभावकी गद्दी पर....यह तुझे राजतिलक होता है।"

वहाँ जिन्हे विकारकी रुचि है—ऐसे विपरीत दृष्टिवाले मूढ़ जीव (राज नवघणकी भाति मुँह फेरकर) कहते है कि—अरे ! ऐसा नही....ऐसा नही....हम तो परको बदल देगे...." यानी उन्हे ज्ञायकरूपसे नही रहना है किन्तु विकारीदृष्टि रखकर परको बदलना है। किंतु अरे मूढ़ जीवो ! तुम किसीकी पर्याय नही बदल सकते, तुम ज्ञायकसन्मुख नही होते और परकी ओर मुंह फेरते हो इसलिये तुम्हारे दिन फिरे हैं—तुम्हारी दृष्टि विपरीत हुई है। ज्ञायकस्वभाव-की राजगद्दी पर बैठकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी तिलक करनेका अवसर आया, उस समय ज्ञायकस्वभावकी प्रतीति करके स्वसन्मुख होनेके बदले अज्ञानी जीव उसे विपरीत मानते है और "एकांत है रे ! एकान्त है..." ऐसा कहकर विरोध करते है। अरे ! उनके दिन फिरे है; ज्ञायकोन्मुख होकर निर्मल परिणामरूप होना चाहिये उसके बदले वे मिथ्यात्वका पोषण करते है इसलिये उनके दिन फिरे है।

(२००) "केवलीके नन्दन" बतलाते हैं—केवलज्ञानका पन्थ

भगवान ! तेरा आत्मा तो ज्ञायकस्वरूप है; वह ज्ञायक रागादि भावोका अकर्ता है। ज्ञायकोन्मुख होनेसे जो ज्ञानभाव प्रगट हुआ तथा अतीन्द्रिय आनन्दका वेदन प्रगट हुआ उसका कर्ता-भोक्ता आत्मा है, किंतु रागादि या कर्मका कर्ता-भोक्तापना उसमे नही है। ऐसे चैतन्यमूर्ति ज्ञायकस्वभावका निर्णय करके ज्ञाताद्रष्टारूप रहना और उसमे स्थिर होना—यही करना है। ज्ञायकस्वभावकी दृष्टिसे

ज्ञाता होकर अपनेमें स्थिर हुआ वहा जीव रागादिका अकर्ता ही है और कर्मका भी अकर्ता है, वह कर्मबधनका निमित्तकर्ता भी नही है इसलिये उसे बधन होता ही नही;—अब ज्ञायकस्वभावसन्मुख रहकर ज्ञाता–दृष्टापनेके निर्मल–निर्मल परिणामोरूप परिणमित होने- से उसके रागादि सर्वथा दूर हो जायेगे और केवलज्ञान प्रगट हो जायेगा ।—यही केवलज्ञानका पथ है ।

जय हो

ज्ञायकस्वभावके सन्मुख ले जाकर 'सर्वज्ञशक्ति' की....और 'क्रमबद्धपर्याय' की प्रतीति करानेवाले केवलीप्रभुके लघुनन्दन श्री कहानगुरुदेवकी

जय हो........

ज्ञायकमूर्तिकी जय हो....

ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव

(भाग दूसरा)

समयसार गाथा ३०८ से ३११ तथा उनकी टीका पर

पूज्य गुरुदेवके प्रवचन

卐

आत्मा ज्ञायक है

क्रमबद्धपर्यायका विस्तारसे स्पष्टीकरण

—और—

अनेकप्रकारकी विपरीत कल्पनाओंका निराकरण

आत्माके अतीन्द्रिय सुखका स्पर्श करके बाहर निकलनेवाली, भेदज्ञानकी झनझनाहट करती हुई और मुमुक्षुओंके हृदयको हिलाती हुई पूज्य गुरुदेवकी पावनकारी वाणीमे, "ज्ञायकसन्मुख ले जानेवाले क्रमबद्धपर्यायके प्रवचनो"की जो अद्भुत अमृतधारा एक सप्ताह तक प्रवाहित हुई थी वह प्रथम भागमे प्रकाशित कर चुके है। तत्पश्चात् मुमुक्षुओंके विशेष सद्भाग्यसे दूसरी वार आश्विन शुक्ला सप्तमीसे एकादशी तक ऐसी ही अमृतधारा पाच दिन तक पुनः प्रवाहित हुई। नित्य नवीनताको धारण करती हुई वह अमृतधारा यहा दी जाती है।

"मैं ज्ञाता हूँ"—इसप्रकार ज्ञानसन्मुख होकर परिणमन न करके, रागादिका कर्ता होकर परिणमित होता है वह जीव क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता नही है। क्रमबद्धपर्यायका ज्ञाता तो ज्ञायकसन्मुख रहकर रागादिको भी जानता ही है। उसे स्वभावसन्मुख परिणमनमें शुद्धपर्याय ही होती जाती है।

आत्माका ज्ञानस्वभाव है, उसे लक्षमे लेकर तू विचार कर-कि—इस ओर मै ज्ञायक हूँ, मेरा सर्वज्ञस्वभाव है,—तो सामने ज्ञेयवस्तुकी पर्याय क्रमबद्ध ही होगी या अक्रमबद्ध? अपने ज्ञानस्वभावको सामने रखकर विचार करे तो यह क्रमबद्धपर्यायकी वात एकदम जम जाये ऐसी है, किन्तु ज्ञायकस्वभावको भूलकर विचार करे तो एक भी वस्तुका निर्णय नही हो सकता।

* प्रवचन पहला *

[आश्विन शुक्ला ७, वीर सं० २४८०]

(१) अलौकिक अधिकारकी पुनः वचनिका

यह अलौकिक अचित्य अधिकार है, इसलिये पुनः वचनिका होती है। यह मोक्षअधिकारकी चूलिका है। समयसारमें नवतत्त्वोंका वर्णन करनेके पश्चात् आचार्यदेवने यह "सर्वविशुद्धज्ञान" का वर्णन किया है। "सर्वविशुद्धज्ञान" अर्थात् आत्माका ज्ञायकस्वभाव; उस स्वभावमें ढलकर अभेद हुआ ज्ञान रागादिका भी अकर्ता ही है।

यहाँ सिद्ध करना है जीवका अकर्तृत्व ! किन्तु उसमें क्रमवद्ध पर्यायकी वात करके अचार्यदेवने अलौकिक रीतिसे अकर्तृत्व सिद्ध किया है।

(२) ज्ञायकस्वभावकी दृष्टि करानेका प्रयोजन है

"प्रथम तो जीव क्रमवद्ध ऐसे अपने परिणामोसे उत्पन्न होता हुआ जीव ही है।" एकसाथ ज्ञान, आनन्द, श्रद्धादि अनन्त गुणोंकी क्रमवद्धपर्यायरूपसे जीव द्रव्य उत्पन्न होता है। "जीव" किसे कहा जाये उसका वर्णन पहले (गाथा २, आदिमे) करते आये हैं। वहां कहा था कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी अपनी निर्मल पर्यायमें स्थित होकर जो उत्पन्न होता है वही वास्तवमें जीव है; जो रागादि भावोंमें स्थित है वह वास्तवमे जीव नही है। जीव ज्ञायकस्वभाव है, वह ज्ञायकस्वभाव वास्तवमे रागरूपसे उत्पन्न नही होता—इसलिये ज्ञायकसन्मुख हुआ जीव रागका कर्ता नही होता, ज्ञायककी दृष्टिमें उसे रागकी अधिकता नही होती, इसलिये वह रागादिका अकर्ता ही है। ऐसा ज्ञायकस्वभावका अकर्तृत्व वतलाकर यहाँ उस ज्ञायकस्वभाव-की दृष्टि करानेका प्रयोजन है।

(३) ज्ञायकस्वभावी जीव रागका भी अकर्ता है

आत्मा ज्ञायक है; अनादिसे उसके ज्ञायकभावका स्व-पर-प्रकाशक स्वभाव है; ज्ञान तो स्व-परको जाननेका ही काम करता है; किन्तु ऐसे ज्ञायकभावकी प्रतीति न करके अज्ञानी जीव रागके कर्तारूपसे परिणमित होता है अर्थात् मिथ्यात्वरूपसे उत्पन्न होता है। यहाँ आचार्यदेव उस अज्ञानीको उसका ज्ञायकस्वभाव समझाते है—आत्मा तो स्व-परप्रकाशक ज्ञायकस्वभावी है, उसका ज्ञायकभाव उत्पन्न होकर रागको उत्पन्न करे या मिथ्यात्वादि कर्मोंके बन्धमें निमित्त हो—ऐसा नही है; और उन कर्मोको निमित्त बनाकर उनके आश्रयसे स्वय विकाररूप उत्पन्न हो—ऐसा भी उसका स्वभाव नही है; किन्तु ज्ञायकके अवलम्बनसे क्रमबद्ध ज्ञायकभावरूप ही उत्पन्न हो —ऐसा आत्माका स्वभाव है। स्वय निमित्तरूप होकर दूसरेको न उत्पन्न करता हुआ, तथा दूसरेके निमित्तसे स्वयं न उत्पन्न होता हुआ ऐसा ज्ञायकस्वभाव वह जीव है। स्वसन्मुख रहकर स्वय स्व-परप्रकाशक ज्ञानरूप क्रमबद्ध उत्पन्न होता हुआ रागको भी ज्ञेय बनाता है। अज्ञानी रागको ज्ञेय न बनाकर, उस रागके साथ ही ज्ञानकी एकता मानकर मिथ्यादृष्टि होता है, और ज्ञानी तो ज्ञानस्वभावमे ही ज्ञानकी एकता रखकर रागको पृथक्‌रूपसे ज्ञेय बनाता है, इसलिये ज्ञानी तो ज्ञायक ही है, वह रागका भी कर्ता नही है।

(४) ज्ञानीकी बात अज्ञानीको समझाते हैं

—यह बात किसे समझाते है ?

यह बात है ज्ञानीकी, किन्तु समझाते है अज्ञानीको। अन्तरमे जिसे ज्ञानस्वभाव और रागकी भिन्नताका भान नही है ऐसे अज्ञानीको समझाते है कि—तू ज्ञायक है; ज्ञायकभाव स्व-परका प्रकाशक है किन्तु रागादिका उत्पादक नही है। भाई ! ज्ञायकभाव कर्ता होकर ज्ञानको उत्पन्न करेगा या रागको ? ज्ञायकभाव तो ज्ञान-

को ही उत्पन्न करता है। इसलिये, ज्ञायकभाव रागका कर्ता नहीं है—ऐसा तू समझ और ज्ञायकसन्मुख हो।

(५) किस दृष्टिसे क्रमबद्धपर्यायका निर्णय होता है ?

यहा क्रमबद्धपर्याय बतलाकर ज्ञायकस्वभाव पर जोर देना है; क्रमबद्धके वर्णनमें ज्ञायककी ही मुख्यता है, रागादिकी मुख्यता नही है। जीव अपनी क्रमबद्धपर्यायपरूपसे उत्पन्न होता है, उसमें ज्ञान, श्रद्धा आदि समस्त गुणोका परिणमन साथ ही है। उस परिणामरूपसे कौन उत्पन्न होता है ?—जीव उत्पन्न होता है। वह जीव कैसा ?—ज्ञायकस्वभावी। ऐसा निर्णय करनेवाला अपने ज्ञायकस्वभावके अवलम्बनसे ज्ञानभावरूप ही (श्रद्धा. ज्ञान, आनन्दादि गुणोके निर्मल अंशरूप ही) उत्पन्न होता है; रागरूप उत्पन्न नही होता। श्रद्धा, ज्ञान, आनन्दादिकी क्रमवद्धपर्यायिरूपसे "राग" उत्पन्न नही होता किन्तु ज्ञायकस्वभावी "जीव" उत्पन्न होता है। इसलिये ज्ञायकस्वभाव पर जिसकी दृष्टि है उसको क्रमबद्धपर्यायका सच्चा निर्णय है, और उसकी क्रमबद्धपर्याये होती जाती है।

(६) "स्वसमय" अर्थात् रागादिका अकर्ता

समयसारकी पहली गाथा "वदित्तु सव्व सिद्धे...." में सर्व सिद्धभगवन्तोंको नमस्कार करके, दूसरी गाथामें जीवके स्वरूपका वर्णन करते हुए आचार्यदेवने कहा है कि:—

"जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिउ तं हि ससमयं जाण।
पुग्गलकम्मपदेसट्ठियं च त जाण परसमयं ॥"

अर्थात् स्वसन्मुख होकर अपने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मल पर्यायमे जो आत्मा स्थित है उसे स्वसमय जान। वह तो जीवका स्वरूप है, किन्तु निमित्तमे और रागमे एकत्वबुद्धि करके उसीमें जो स्थित है वह परसमय है; वह वास्तवमे जीवका स्वरूप नही है। वहां जिसे "स्वसमय" कहा उसीको यहा "अकर्ता" कहकर वर्णन किया है। ज्ञायकस्वभावसन्मुख होकर अपने सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान और

वीतरागभावकी पर्यायरूपसे जो उत्पन्न हुआ वह "स्वसमय" है और वह रागादिका "अकर्ता" है।

(७) "निमित्तका प्रभाव" माननेवाले बाह्यदृष्टिमें अटके हैं

आजकल तो इस मूलभूत अन्तरकी बातको भूलकर अनेक लोग निमित्त और व्यवहारके झगड़ेमे फँसे है। निमित्तोका आत्मा पर प्रभाव पड़ता है—ऐसा मानकर जो निमित्ताधीन दृष्टिमे ही अटक गये है उन्हे तो ज्ञायकस्वभावोन्मुख होनेका अवकाश नही है। निमित्तका प्रभाव पड़ता है—यानी कुम्हारका घडे पर, कर्मका आत्मा पर प्रभाव पड़ता है.—ऐसा जो मानते है उन्हे तो अभी मिथ्यात्वरूपी मदिराका प्रभाव लेकर मिथ्यादृष्टि ही रहना है। ज्ञायकस्वभावोन्मुख होनेसे मेरी पर्यायमें ज्ञायकभावका प्रभाव पडता है—ऐसा न मानकर, निमित्तका प्रभाव मानता है तो हे भाई! निमित्तोन्मुखताको छोडकर तू स्वभावकी ओर कब ढलेगा? निमित्तकी ओर ही न देखकर ज्ञायकस्वभावोन्मुख हो तो कर्मका निमित्तपना नही रहता। अज्ञानीको उसके अपने गुणोकी विपरीततामे कर्मका निमित्त भले हो, किन्तु वह तो परज्ञेयमे जाता है; यहाँ तो ज्ञानीकी बात है कि—ज्ञानी स्वय ज्ञायककी ओर ढला है इसलिये वह ज्ञातारूप ही उत्पन्न हुआ है—रागरूप, आस्रव या बन्धरूप वह उत्पन्न नही होता, इसलिये उसे कर्मका निमित्तपना भी नही है। इसप्रकार, क्रमबद्धपर्यायकी प्रतीति करके ज्ञायकोन्मुख जीव, क्रमबद्धपर्यायमे रागरूपसे उत्पन्न नही होता किन्तु ज्ञानरूपसे ही उत्पन्न होता है और यही क्रमबद्धकी यथार्थ प्रतीतिका फल है।

(८) ज्ञाताके क्रममें ज्ञानकी वृद्धि और रागकी हानि

प्रश्न:—यदि पर्याय क्रमबद्ध है—हीनाधिक नही होती, तो फिर अल्प ज्ञानको बढाया नही जा सकता और रागको कम नहीं किया जा सकता?

उत्तर:—अरे भाई! अभी तू यह बात नही समझा; तेरा झुकाव ज्ञायककी ओर नही हुआ। भाई, ज्ञानको बढ़ाने और राग-को कम करनेका उपाय कहीं बाह्यमे है या अतरंग ज्ञानस्वभावके अवलम्बनमे? "मै ज्ञायक हूँ और मेरे ज्ञायककी पर्याय तो क्रमबद्ध स्व-परप्रकाशक ही होती है"—ऐसा निर्णय करके ज्ञायकका अवलम्बन लिया है, वहां पर्याय-पर्यायमे ज्ञानकी विशुद्धता बढ़ती ही जाती है और राग कम होता जाता है। मै ज्ञानको बढाऊँ और रागको कम करूँ—इस प्रकार पर्यायकी ओर ही लक्ष रखे, किन्तु अतरमे ज्ञायकस्वभावका अवलम्बन न ले तो उसे ज्ञान बढ़ाने और राग कम करनेके सच्चे उपायकी खबर नही है। साधकको जो राग होता है वह तो स्व-परप्रकाशक ज्ञानके ज्ञेयरूप है, किन्तु ज्ञानके कार्यरूप नही है, इसलिये ज्ञानी उसका ज्ञाता ही है, किन्तु वह राग-का कर्ता या उसे बदलनेवाला नही है। रागके समय भी ज्ञानी तो उस रागके ज्ञानरूप ही उत्पन्न हुआ है। यदि रागको इधर-उधर बदलनेकी बुद्धि करे तो रागका कर्तृत्व हो जाता है इसलिये ज्ञातापने-का क्रम न रहकर मिथ्यात्व हो जाता है। सामने जिस समय रागका काल है उसी समय ज्ञानीको अपनेमे तो ज्ञातापनेका ही काल है, ज्ञायकोन्मुख होकर वह तो ज्ञानरूप ही उत्पन्न होता है—रागरूप उत्पन्न नही होता।

(९) अन्तर्मुख ज्ञानके साथ आनन्द, श्रद्धा आदिका परिणमन और वही धर्म

जीवको ऐसा स्व-परप्रकाशक ज्ञान विकसित होने पर वह अपने आनन्दादि गुणोकी निर्मलताको भी जानता है। ज्ञानके साथ आनन्द, श्रद्धादि अन्य अनत गुण भी उसी समय अपनी-अपनी क्रमबद्धपर्यायरूपसे उत्पन्न होते है और ज्ञान उन्हे जानता है। ज्ञानमें ऐसी ही स्व-परप्रकाशकपनेकी शक्ति विकसित हुई है और उससमय अन्यमे नही किन्तु उन गुणोमे ही ऐसा क्रम है। यहां ज्ञानमे

स्वसन्मुख होनेसे निर्मल स्व–परप्रकाशकशक्ति विकसित हुई और उसी समय श्रद्धा, आनन्दादि दूसरे गुणोंमें निर्मल परिणमन न हो—ऐसा कभी नहीं होता। शुद्ध द्रव्यकी दृष्टिमें द्रव्यके ज्ञान–आनन्दादि गुणोंमें एकसाथ निर्मल परिणमनका प्रवाह प्रारम्भ हो जाता है। सम्यक्‌श्रद्धाके साथ सम्यक्‌चारित्र, आनन्दादिका अंश भी साथ ही है। देखो, इसका नाम धर्म है। अन्तरमें ऐसा परिणमन हो वह धर्म है, इसके सिवा बाहरके किसी स्थानमें या शरीरादिकी क्रियामें धर्म नहीं है; पापके या पुण्यके भावमें धर्म नहीं है। अकेले शास्त्रोंके शब्दोंको जान लेनेमें भी धर्म नहीं है। अन्तर्मुख होकर ज्ञायकस्वभावका अवलम्बन लेनेसे, श्रद्धा–ज्ञानादि गुणोंका निर्मल परिणमन प्रारम्भ हो जाये उसका नाम धर्म है। इसप्रकार ज्ञायकमूर्ति आत्माके अवलम्बनमें धर्म है। ज्ञायकका अवलम्बन लेकर ज्ञानभावरूपसे उत्पन्न हुआ वही ज्ञानीका धर्म है।

(१०) जैसा वस्तुस्वरूप वैसा ही ज्ञान, और वैसी ही वाणी

"जीवस्साजीवस्स दु जे परिणामा दु देसिया सुत्ते।
तं जीवमजीवं वा तेहिमणण्ण वियाणाहि ॥" ३०९ ॥

अर्थात् सूत्रमें जीव या अजीवके जो परिणाम दर्शाये हैं, उनके साथ उस जीव या अजीवको अनन्य–एकमेक जान। प्रत्येक द्रव्यकी अपने परिणामोंके साथ अभेदता है, किन्तु परसे भिन्नता है....

—ऐसा सर्वज्ञदेव और सन्तोंने जाना है;
—सर्वज्ञके आगममें—सूत्रमें भी ऐसा कहा है;
—और वस्तुस्वरूप भी ऐसा ही है;

इसप्रकार ज्ञान, शब्द और अर्थ—इन तीनोंकी संधि है। प्रतिसमय क्रमबद्ध उत्पन्न होनेवाले अपने परिणामोंके साथ द्रव्य तन्मय है—ऐसा वस्तुका स्वरूप है; ऐसा ही सर्वज्ञ और सन्तोंका ज्ञान जानता है और ऐसा ही सूत्र बतलाता है। इससे विपरीत बतलाये, अर्थात् एक द्रव्यके परिणामका कर्ता दूसरा द्रव्य है ऐसा बतलाये, तो

वे देव, गुरु या शास्त्र सच्चे नही है और वस्तुका स्वरूप भी ऐसा नही है ।

(११) ज्ञायकस्वभावकी दृष्टि ही मूल तात्पर्य

यहाँ क्रमवद्धपर्यायमें द्रव्यकी अनन्यता वतलाकर द्रव्यदृष्टि करानेका ही तात्पर्य है ।

(१) "णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणओ दु जो भावो ।
एव भणंति सुद्ध णाओ जो सो उ सो चेव ॥"

—ऐसा कहकर वहां छठवी गाथामे पर्यायके भेदोंका अवलम्बन छुड़ाकर एकरूप ज्ञायकभावकी दृष्टि कराई है ।

तत्पश्चात्—

(२) "ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो ॥"

—भूतार्थस्वभावके आश्रयसे ही सम्यग्दर्शन होता है, ऐसा कहकर वहाँ ग्यारहवी गाथामें भी एकरूप ज्ञायकस्वभावका ही अनुभव कराया है ।

(३) और, सवर अधिकारमें "उवओगे उवओगो....उपयोग-मे उपयोग है"—ऐसा कहकर, संवरकी जो निर्मल दशा प्रगट हुई उसके साथ आत्माकी अभेदता वतलाई, अर्थात् ज्ञायकस्वभावमें अभेदतासे ही सवर दशा प्रगट होती है—ऐसा वतलाया है ।

इसप्रकार आचार्य भगवान पहलेसे ही ज्ञायकस्वभावके अवलम्वनकी बात कहते है । यहाँ भी क्रमवद्धपर्यायमे द्रव्यकी अनन्यता वतलाकर, दूसरे ढंगसे ज्ञायकस्वभावकी ही दृष्टि कराई है । "दविय जं उप्पज्जइ गुणेंहि त तेहि 'जाणसु अणण्ण"—ऐसा कहकर, पर्याय-पर्यायमे (-प्रत्येक समयकी पर्यायमे) अभेदरूपसे तेरा ज्ञायकभाव ही परिणमित हो रहा है—ऐसा वतलाया है । (इस संवंधी विस्तारके लिये प्रथम भागमें प्रवचन आठवाँ देखे ।)

(१२) अन्तरमें परिणमित करने जैसी मुख्य बात

देखो ऐसा "ज्ञा....य....क...भा....व" जीवका सिर है;—वह मुख्य बात है इसलिये उसे सिर कहा है। यह बात मुख्य प्रयोजनभूत होनेसे बारम्बार रटने जैसी है, अन्तरमें निर्णय करके परिणमित करने जैसी है।

(१३) जीवतत्त्व

सात तत्त्वोंमेंसे जीवतत्त्व कैसा है उसकी यह बात है। जीवतत्त्वका ज्ञायकस्वभाव है; उसके सन्मुख होकर ज्ञायकभावरूपसे उत्पन्न हुआ और उस परिणाममे अभेद हुआ वही वास्तवमें जीव है; रागमें अभेद होकर उत्पन्न हुआ वह वास्तवमें जीवतत्त्व नही है, वह तो आस्रवतत्त्व है। ज्ञानीके परिणमनमे रागकी मुख्यता नही है, उनके तो एक ज्ञायककी ही मुख्यता है, रागके वे ज्ञाता हैं। ज्ञायकोन्मुख होकर उसे "निश्चयज्ञेय" बनाया वहाँ अस्थिरताका अल्पराग "व्यवहारज्ञेय" हो जाता है।

(१४) जीवनका सच्चा कर्तव्य

जीवनमें यह मुख्य करने जैसा है,—इस समझसे ही जीवनकी सफलता है....अरे! जीवनमें ऐसी अपूर्व समझ बिना जीवनकी घडिया व्यर्थ जाती है—ऐसी जिसे चिन्ता भी न हो—समझनेकी दरकार भी न हो, वह जीव समझनेका प्रयत्न कहासे करेगा? सच्ची समझका मूल्य भासित होना चाहिए कि जीवनमे सत्समागमसे सच्ची समझ करना ही एक करनेयोग्य सच्चा कार्य है। इस समझके विना "जगतमे वाह्य कार्य मैने किये"—ऐसा मानकर जो व्यर्थ ही परका अभिमान करता है, वह तो सॉडकी भाति घूरे तितर-बितर करता है (जैसे कूडे-कचरेके ढेरको साड ऊँचा-नीचा करता है, वैसे व्यर्थ अहकारमे समय गँवाता है) उसमे आत्माका किंचित् हित नही है।

(१५) प्रभु ! अपने ज्ञायकको लक्षमें ले

भगवान ! तेरा आत्मा अनादि-अनन्त चैतन्यपिण्ड विद्यमान है, उसे तो एक बार लक्षमें ले ! अनादिसे बाहर देखा है, किन्तु भीतर मैं कौन हूँ—यह कभी नही देखा.......सिद्धपरमात्मा जैसा अपना आत्मा है उसे कभी लक्षमें नही लिया । तेरा आत्मा ज्ञायक है । प्रभु ! ज्ञायक उत्पन्न होकर ज्ञायकभावकी रचना करेगा या राग-की ? सुवर्ण उत्पन्न होकर सुवर्ण अवस्थाकी रचना करेगा, कहीं लोहेकी दशा नही रचेगा । उसी प्रकार आत्माका ज्ञायकस्वभाव है वह तो ज्ञायकभावका ही रचयिता है—ज्ञायकके अवलम्बनसे ज्ञायकभावकी ही रचना (-उत्पत्ति) होती है, किन्तु अज्ञानी अपने ज्ञायकस्वभावको भूलकर रागकी रचना करता है—रागादिका कर्ता बनता है । यहां ज्ञायकस्वभाव बतलाकर आचार्यदेव उस रागका कर्तृत्व छुडाते हैं ।

(१६) निर्मल पर्यायको ज्ञायकस्वभावका ही अवलम्बन

ज्ञानी अपने ज्ञायकस्वभावमें एकाग्रतासे ज्ञायकभावरूप ही क्रमबद्ध उत्पन्न होता है; अपने ज्ञायकपरिणामके साथ अभेद होकर उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नहीं है । वह किसी अन्यके अवलम्बन द्वारा, निमित्तके कारण, रागके कारण या पूर्व पर्याय-के कारण उत्पन्न नही होता, तथा भविष्यकी पर्यायमें केवलज्ञान होना है उसके कारण इस समय सम्यग्दर्शनादि पर्याय होती है—ऐसा भी नही है; वर्तमानमे जीव स्वय ज्ञायकस्वभावोन्मुख होकर ज्ञायक-भावरूप (सम्यग्दर्शनादिरूप) उत्पन्न हुआ है, स्वोन्मुख हुई वर्तमान पर्यायका क्रम ही ऐसा निर्मल है । इसप्रकार अन्तरोन्मुख होकर ज्ञायकस्वभावको पकडा वहाँ निर्मल पर्याय उत्पन्न हुई; वर्तमान स्वभावका अवलम्बन ही उसका कारण है, इसके सिवा पूर्व-पश्चात्-का कोई कारण नही है तथा निमित्त या व्यवहारका अवलम्बन नहीं है ।

(१७) "पुरुष प्रमाणे वचन प्रमाण" यह कब लागू होता है ?

प्रश्नः—ऐसा सूक्ष्म समझनेमे वडी मेहनत होती है इसकी अपेक्षा "पुरुपकी प्रमाणतासे वचन प्रमाण"—ऐसी धारणा करके यह बात मान लें तो ?

उत्तर.—भाई, यह तो अकेला पर-प्रकाशक हुआ, स्व-प्रकाशकके विना पर-प्रकाशकपना कहासे सच्चा होगा ? पुरुप प्रमाण है या नहीं, उसका निर्णय ज्ञानके विना कौन करेगा ? ज्ञानका निर्णय करके सम्यग्ज्ञान हुए विना पुरुपकी प्रमाणताकी परीक्षा कौन करेगा ? आप्तमीमासा (-देवागमस्तोत्र)मे स्वामी समन्तभद्राचार्य कहते है कि—हे नाथ ! हम तो परीक्षा द्वारा आपकी सर्वज्ञताका निर्णय करके आपको मानते है । प्रयोजनरूप मूलभूत तत्त्वोंकी तो परीक्षा करके अपने ज्ञानमे निर्णय करे, और फिर दूसरे अप्रयोजनरूप तत्त्वोंमे न पहुँच सके तो उसे "पुरुप प्रमाणे वचन प्रमाण" करके मान लेना ठीक है; किन्तु एकान्त "पुरुप प्रमाणे वचन प्रमाण" कहकर रुक जाये और अपने ज्ञानमें मूलभूत तत्त्वोके निर्णयका भी उद्यम न करे उसे सम्यग्ज्ञान नही होता । पुरुषकी प्रमाणताका (सर्वज्ञका) निर्णय करने जाये तो उसमे भी ज्ञानस्वभावका ही निर्णय करना आता है । पुरुपकी प्रमाणता तो उसमे है, किन्तु वह किस प्रकार है—यह तेरे ज्ञानमें तो भासित नही हुआ है; पुरुषकी प्रमाणताका निर्णय तेरे ज्ञानमे तो आया नही है, इसलिये "पुरुष प्रमाणे वचन प्रमाण"—यह बात तेरे लिये लागू नही होती ।

(१८) क्रमबद्धकी या केवलीकी बात कौन कह सकता है ?

इसीप्रकार अकेले परकी या रागकी ओट लेकर कोई अज्ञानी ऐसा कहे कि "विकार क्रमबद्धपर्यायमें होना था इसलिये हुआ, अथवा केवलीभगवानने वैसा देखा था इसलिये हुआ"—तो वह स्वच्छन्दी है; भाई रे ! अपने ज्ञानस्वभावकी प्रतीतिके बिना तू क्रमवद्धपर्यायकी या केवलीकी बात कहांसे लाया ? तू अकेले रागकी ओट लेकर

वात करता है किन्तु ज्ञानस्वभावकी प्रतीति नही करता, तो तूने वास्तवमें केवलीभगवानको या क्रमवद्धपर्यायको माना ही नही है। केवलीभगवानको या क्रमवद्धपर्यायको यथार्थरूपसे पहिचाननेवाले जीवकी दृष्टि तो अन्तरमें अपने ज्ञायकस्वभावकी ओर ढली होती है; उसके तो ज्ञानकी ही अधिकता होती है, रागकी अधिकता उसके होती ही नही। ज्ञानस्वभावकी ओर ढले बिना धर्ममें एक डग भी नही चल सकता।

(१९) ज्ञानके निर्णय विना सब मिथ्या है। ज्ञायकभावरूपी तलवारसे सम्यक्त्वीने संसारको छेद डाला है

प्रश्न:—तो क्या अभी तक हमारा किया हुआ सव झूठा है?

उत्तर:—हा, भाई! सव मिथ्या है। अन्तरमें "मै ज्ञान हूँ" ऐसा लक्ष और प्रतीति न करे तवतक शास्त्रोंकी पढ़ाई या त्यागादि सव झूठे है, उनसे संसारका नाश नही होता। आत्माका ज्ञान-स्वभाव सर्वज्ञता और पदार्थोंकी क्रमवद्धपर्याय—इन सवका निर्णय करके जहां ज्ञायककी ओर ढला, वहां ज्ञायकभावरूपी ऐसी तलवार हाथमें ली है जो एक क्षणमे ससारकी जड़को छेद डाले!

(२०) सम्यग्दृष्टि मुक्त; मिथ्यादृष्टिको ही संसार

अव अगली गाथाओमें कहेगे कि—ज्ञायकस्वभावकी दृष्टिमे सम्यक्त्वीको ससार ही नही है; जिसकी दृष्टि कर्म पर है ऐसे मिथ्यादृष्टिको ही ससार है। सम्यक्त्वी तो ज्ञानानन्दस्वभावकी दृष्टि-से अपने शुद्ध स्वभावमे निश्चल होनेसे वास्तवमे मुक्त ही है;—"शुद्धस्वभावनियतः स हि मुक्त एव।" (देखो, कलश १९८)

ज्ञायकस्वभावकी दृष्टिवाले ज्ञानीका अकर्तृत्व सिद्ध करके, अव (३१२–३१३) दो गाथाओमे आचार्यदेव कहेगे कि जिसे ज्ञायकस्वभावकी दृष्टि नही है ऐसे मिथ्यादृष्टिको ही निमित्त-नैमित्तिकभावसे संसार है।

कर्मके निमित्तका जीव पर प्रभाव पड़ता है, अथवा जैसा

निमित्त आये वैसा कार्य होता है, कर्मके उदयानुसार विकार होता है—ऐसी अज्ञानीकी मान्यता तो दूर रही, किन्तु जीव स्वयं मिथ्यात्वादि करे तब कर्मको निमित्त कहा जाता है, और जीव निमित्त होकर मिथ्यात्वादि कर्मोंका बन्ध करता है—यह बात भी मिथ्यादृष्टिको लागू होती है। कर्मका निमित्तकर्ता मिथ्यादृष्टि है, ज्ञानी तो अकर्ता ही है; ज्ञानीको कर्मके साथ निमित्त-नैमित्तिकपना नहीं है, उसे ज्ञायकके साथ संधि हुई है और कर्मके साथकी संधि टूट गई है।

(२१) सम्यग्दर्शनके विषयरूप जीवतत्त्व कैसा है ?

ज्ञानी अपने ज्ञायकस्वभावके अवलम्बनसे क्रमबद्ध ज्ञाताभावरूप ही उत्पन्न होता है, किन्तु रागके कर्तारूपसे उत्पन्न नहीं होता। "रागका कर्ता जीव" सम्यग्दर्शनका विषय नहीं है, किन्तु "ज्ञायकभावरूपसे उत्पन्न होनेवाला जीव" सम्यग्दर्शनका विषय है। ऐसे जीवतत्त्वकी प्रतीति करना सो सम्यग्दर्शन है।

(१) "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।

(२) तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। और

(३) जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्।

—ऐसा मोक्षशास्त्रमें उमास्वामी महाराजने कहा है; वहाँ ऐसे ज्ञायकभावरूपसे उत्पन्न होनेवाले जीवद्रव्यको पहिचाने तो जीवतत्त्वकी सच्ची प्रतीति है। ऐसे जीवतत्त्वकी प्रतीतिके बिना तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन या मोक्षमार्गका प्रारम्भ नहीं होता।

(२२) निमित्त अकिंचित्कर है, तथापि सत्‌में सत् निमित्त ही होता है

अभी तो सात तत्त्वोंमेंसे जीवतत्त्व कैसा है उसकी यह बात है। ऐसे जीवको पहिचाने तो सच्ची श्रद्धा होती है और पश्चात् ही श्रावकत्व या मुनित्व होता है। वस्तुका स्वरूप तो ऐसा है; उसमें दूसरा कुछ नहीं हो सकता। स्वयं अन्तरमें पात्र होकर समझे तो पकड़में आ सकता है; दूसरा कोई दे जाये या समझा दे—ऐसा

नहीं है । यदि कोई दूसरा दे दे, तो कोई तीसरा आकर लूट भी ले ! किन्तु ऐसा नही होता । ऐसा होने पर भी—अर्थात् निमित्त अकिंचित्कर है फिर भी, सम्यग्ज्ञान प्राप्त करनेवालेको निमित्त कैसा होता है वह जानना चाहिये । आत्माका अपूर्व ज्ञान प्राप्त करनेवाले जीवको सामने निमित्तरूपसे भी ज्ञानी ही होते है । वहां, सम्यग्ज्ञानरूप परिणमित सामनेवाले ज्ञानीका आत्मा "अन्तरग निमित्त" है और उन ज्ञानीकी वाणी वाह्यनिमित्त है । इस प्रकार सम्यग्ज्ञान प्राप्त करनेमे ज्ञानी ही निमित्त होते है, अज्ञानी निमित्त नही होते; और अकेली जड़ वाणी भी निमित्त नही होती ।—यह वात नियमसारकी ५३वी गाथाके व्याख्यानमें अत्यंत स्पष्टरूपसे कही जा चुकी है । (देखो, आत्मधर्म हिन्दी वर्ष ७ वां, अङ्क–९वा) सत् समझनेमे कैसा निमित्त होता है वह न पहचाने तो अज्ञानी–मूढ़ है; और निमित्त कुछ कर दे ऐसा माने तो वह भी मूढ–मिथ्यादृष्टि है ।

(२३) आत्महितके लिए भेदज्ञानकी सीधी–सादी बात

देखो, यह तो सीधी–सादी वात है कि प्रत्येक द्रव्य स्वय ही अपनी क्रमवद्धपर्यायरूपसे परिणमित होता है, तो दूसरा उसमे क्या करे ? तदुपरान्त यहां तो समझना है कि भगवान आत्मा ज्ञायक है, वह क्रमवद्ध अपने ज्ञायकभावरूपसे उत्पन्न होता हुआ ज्ञायकभाव-की ही रचना करता है; रागरूपसे उत्पन्न हो या रागकी रचना करे—ऐसा जीवतत्त्वका सच्चा स्वरूप नही है, वह तो आस्रव और वंधतत्त्वमे जाता है । अन्तरमे राग और जीवका भी भेदज्ञान करने-की यह वात है । निमित्त कुछ करता है—ऐसा माननेवालेको तो अभी वाहरका भेदज्ञान भी नही है—परसे भिन्नताका ज्ञान भी नही है; तव फिर "ज्ञायकभाव रागका कर्ता नही है"—ऐसा अन्तरका (ज्ञान और रागके वीचका) भेदज्ञान तो उसे कहांसे होगा ? किन्तु जिसे धर्म करना हो—आत्माका कुछ भी हित करना हो उसे दूसरा सब एक ओर रखकर यह वात समझना पड़ेगी । भाई ! तेरे चैतन्यका

प्रकाशक स्वभाव है; वह नई-नई क्रमबद्धपर्यायरूपसे उत्पन्न होता हुआ, ज्ञायकस्वभावके भानपूर्वक रागादिको या निमित्तोंको भी ज्ञातारूपसे जानता ही है; ज्ञातारूपसे उत्पन्न होता है किन्तु रागके कर्तारूपसे उत्पन्न नही होता।

जीव रागके कर्तारूपसे उत्पन्न नही होता, तो क्या वह कूटस्थ है?—नही; वह अपने ज्ञातारूपसे उत्पन्न होता है इसलिये कूटस्थ नही है। यहां तो कहा है कि "जीव उत्पन्न होता है"—अर्थात् द्रव्य स्वय परिणमित होता हुआ अपनी पर्यायको द्रवित करता है, द्रव्य स्वयं अपनी क्रमबद्धपर्यायरूपसे परिणमित होता है; वह कूटस्थ नही है, तथा दूसरा उसका परिणमन करानेवाला नही है।

(२४) हे ज्ञायक चिदानन्दप्रभु! अपने ज्ञायकतत्त्वको लक्षमें ले!

सर्वज्ञदेव, कुन्दकुन्दाचार्य—अमृतचन्द्राचार्य आदि संत और शास्त्र ऐसा कहते है कि ज्ञायकस्वरूपी जीव रागादिका अकर्ता है। अरे भाई! तू ऐसे जीवतत्त्वको मानता है या नही?—या फिर निमित्तको और रागको ही मानता है? निमित्तको और रागको पृथक् रखकर ज्ञायकतत्त्वको लक्षमें ले, निमित्तको उत्पन्न करनेवाला या रागरूप उत्पन्न होनेवाला मै नही हूँ, मै तो ज्ञायकरूपसे ही उत्पन्न होता हूँ इसलिये मै ज्ञायक ही हूँ—ऐसा अनुभव कर, तो तुझे सात तत्त्वोंमेसे जीवतत्त्वकी सच्ची प्रतीति हुई कहलाये, और तभी तूने देव-गुरु-शास्त्रको वास्तवमे माना कहा जाये।

हे ज्ञायक चिदान्दप्रभु! स्व-सन्मुख होकर प्रतिसमय ज्ञाताभावरूपसे उत्पन्न होना वह तेरा स्वरूप है; ऐसा अपने ज्ञायकतत्त्वको लक्षमे ले।

(२५) अरे! एकान्तकी बात एक ओर रखकर यह समझ!

यह बात सुनते ही, "अरे! एकान्त हो जाता है.......रे.... एकान्त हो जाता है!"—ऐसा कई अज्ञानी पुकारते है। किन्तु अरे तेरी वह बात एक और रखकर यह समझ! यह समझनेसे, राग और

ज्ञान एकमेक है ऐसा तेरा अनादिकालीन मिथ्याएकांत दूर हो जायेगा और ज्ञायकके साथ ज्ञानकी एकतारूप सम्यक्‌एकांत होगा; उस ज्ञानके साथ सम्यक्श्रद्धा, आनन्द पुरुषार्थ आदि अनन्त गुणोंका परिणमन भी साथ ही है, इसलिये अनेकात है।

(२६) सम्यक्त्वीके राग है या नहीं ?

अंतर्स्वभावके अवलम्बनसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान हुए उसके साथ चारित्रका अंश भी विकसित हुआ है—स्वरूपाचरण-चारित्र प्रगट हो गया है। किसीको ऐसी शंका हो कि "सम्यग्दर्शन होने पर उसके साथ पूर्ण चारित्र क्यो न हुआ ?"—तो उसे ज्ञान, चारित्र आदिके भिन्न-भिन्न क्रमबद्धपरिणमनकी खबर नहीं है। क्रमबद्धपरिणमनमें कही ऐसा नियम नही है कि सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान होने पर उसी क्षण पूर्ण चारित्र भी प्रगट हो ही जाये। अरे, क्षायिक-सम्यग्दर्शन होनेके पश्चात् लाखो-करोडो वर्षो तक श्रावकत्व या मुनित्व (पाचवां या छठवा-सातवा गुणस्थान) नही आता, और किसीको सम्यग्दर्शन होने पर अन्तर्मुहूर्तमें ही मुनिदशा—क्षपकश्रेणी और केवलज्ञान हो जाता है। तथापि, सम्यक्त्वी चौथे गुणस्थानमें भी रागके ज्ञाता ही है; यहा अपने स्व-परप्रकाशक ज्ञानका वैसा ही सामर्थ्य है;—इस प्रकार ज्ञानसामर्थ्यकी प्रतीतिके बलसे ज्ञानी उस-उस समयके रागको भी ज्ञेय बना देते है। ज्ञायकस्वभावकी अधिकता उनकी दृष्टिमेसे एक क्षण भी नही हटती; ज्ञायककी दृष्टिमे वे ज्ञाताभावरूप ही उत्पन्न होते है; रागमें तन्मयरूपसे उत्पन्न नही होते।—इस प्रकार क्रमबद्धपर्यायमें ज्ञानीको रागकी प्रधानता नही है—ज्ञातृत्वकी ही प्रधानता है। रागके समय, "मै इस रागरूप उत्पन्न होता हूँ"—ऐसी जिसकी दृष्टि है और ज्ञायककी दृष्टि नहीं है वह वास्तवमे क्रमबद्धपर्यायका सच्चा स्वरूप समझा ही नही है।

(२७) क्रमबद्धपर्यायका सच्चा निर्णय कब होता है ?

"क्रमबद्धपर्यायमें मुझे मिथ्यात्व आना होगा तो ?"—ऐसी

शंका करनेवालेका सच्चा निर्णय हुआ ही नही है । सुन रे सुन मूढ ! तूने क्रमबद्धपर्याय किसके सन्मुख देखकर मानी ? अपने ज्ञायकद्रव्यकी ओर देखकर मानी है या पर की ओर देखकर ? जिसने ज्ञायकद्रव्यसन्मुख होकर क्रमबद्धकी प्रतीति की, उसके तो मिथ्यात्व होता ही नही । और यदि अकेले परकी ओर देखकर तू क्रमबद्धकी बात करता हो तो तेरा क्रमबद्धका निर्णय ही मिथ्या है । तेरी क्रमबद्धपर्यायरूपसे कौन उत्पन्न होता है ?—जीव; जीव कैसा ?–ज्ञायकस्वभावी; तो ऐसे जीवतत्त्वको तूने लक्षमें लिया है ? यदि ऐसे ज्ञायकस्वभावी जीवतत्त्वको जानकर क्रमबद्धपर्याय माने तब तो ज्ञातापनेकी ही क्रमबद्धपर्याय हो और मिथ्यात्व होता ही नहीं; मिथ्यात्वरूपसे उत्पन्न हो ऐसा ज्ञायकका स्वभाव नही है ।

(२८) ज्ञानी रागके अकर्ता हैं; "जिसकी मुख्यता उसीका कर्ता"

प्रश्न:—ज्ञायकस्वभावकी दृष्टि होनेके पश्चात् भी ज्ञानीको राग तो होता है ?

उत्तर—वह राग ज्ञाताका कार्य नही है, किन्तु ज्ञाताका ज्ञेय है । ज्ञायकस्वभाव परमार्थज्ञेय है और राग व्यवहारज्ञेय । ज्ञाताके परिणाममें तो ज्ञानकी ही मुख्यता है, रागकी मुख्यता नही है । और जिसकी मुख्यता है उसीका कर्ता-भोक्ता है । पुनश्च, "व्यवहार है इसलिये परमार्थ है"—ऐसा भी नही है, राग है इसलिये उसका ज्ञान होता है—ऐसा नही है । ज्ञायकके अवलम्बनसे ही ऐसे स्व-परप्रकाशक ज्ञानका परिणमन हुआ है; राग कही ज्ञायकके अवलम्बनमेसे नही हुआ है, इसलिये ज्ञानी उसका अकर्ता है ।

(२९) क्रमबद्धपर्याय समझने जितनी पात्रता कब....?

प्रश्न:—आप कहते है ऐसे ज्ञायकस्वरूप जीवको तथा क्रमबद्धपर्यायको हम माने, और साथ ही साथ कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्रको भी माने, तो क्या हर्ज ?

उत्तरः—अरे ! कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्रके पास इस वातकी गंध भी नही है, तो उनके पास जो नही है वह बात तुझमें कहासे आई ? किसीके पाससे धारणा करके—चोरी करके—इस वातके नामसे तुझे अपने मानकी पुष्टि करना है, यह बड़ा स्वच्छन्द है ! जिसको ज्ञायकस्वभाव और क्रमबद्धपर्याय समझने जितनी पात्रता हुई हो उस जीवको कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्रका सेवन होता ही नही। किसीके शब्द लेकर रट ले, तो ऐसा नही चल सकता। सर्व प्रकारकी पात्रता हो तो यह वात समझमें आ सकती है।

(३०) भगवान ! तू कौन और तेरे परिणाम कौन ?

ज्ञानी अपनी ज्ञायकभावकी क्रमवद्धपर्यायरूपसे उत्पन्न होता हुआ जीव ही है; अजीव नही है। ज्ञायकभावके सिवा राग भी वास्तवमे जीव नही है; ज्ञानी उस रागरूपसे उत्पन्न नही होता। कर्म जीव नही है शरीर जीव नही है; इसलिये ज्ञायकरूपसे उत्पन्न होनेवाला जीव कर्म, शरीरादिका निमित्तकर्ता भी नही है; ज्ञायक तो ज्ञायक ही है; ज्ञायकभावरूप ही वह उत्पन्न होता है।—ऐसा जीवका स्वरूप है।

- भगवान ! तू कौन और तेरे परिणाम कौन ? उन्हें पहिचान।
- तू जीव ! ज्ञायक ! और ज्ञायकके आश्रयसे दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी जो निर्मल पर्याय उत्पन्न हुई वे तेरे परिणाम !

—ऐसे निर्मल क्रमबद्धपरिणामरूपसे उत्पन्न होनेका तेरा स्वभाव है; किन्तु विकारका कर्ता होकर परको उत्पन्न करे या परनिमित्तसे स्वयं उत्पन्न हो—ऐसा तेरा स्वभाव नही है। एक बार अपनी पर्यायको अन्तरोन्मुख कर, तो ज्ञायकके आश्रयसे तेरी क्रमवद्धपर्यायमे निर्मल परिणमन हो।

(३१) ज्ञानीकी दशा

ज्ञायकस्वभावसन्मुख होकर जो क्रमबद्धपर्यायका ज्ञाता हुआ है—ऐसे ज्ञानीको प्रमाद भी नही होता और आकुलता भी नही

होती; क्योंकि (१) ज्ञायकस्वभावकी सन्मुखता किसी भी समय दूर नही होती इसलिये प्रमाद नही होता; दृष्टिके बलसे स्वभावके अवलम्बनका प्रयत्न चालू ही है, और (२) क्रम बदलनेकी बुद्धि नही है इसलिये उतावली भी नही है—पर्यायबुद्धिकी आकुलता नही है, किन्तु धैर्य है। ज्ञायकस्वभावका ही अवलम्बन करके परिणमित होते है, उसमें प्रमाद भी कैसा और आकुलता भी कैसी ?

(३२) "अकिंचित्कर हो तो, निमित्तकी उपयोगिता क्या ?"

अज्ञानीका प्रश्न

जिसे ज्ञायककी दृष्टि नही है और क्रम बदलनेकी बुद्धि है वह भी मिथ्यादृष्टि है; तो फिर निमित्त आकर पर्याय बदल दे—यह मान्यता तो कहां रही ?

प्रश्नः—यदि निमित्त कुछ न करता हो, तो उसकी उपयोगिता क्या है ?

उत्तरः—भाई ! आत्मामे परकी उपयोगिता है ही कहां ? उपयोगिता तो उपयोगस्वरूप आत्माकी ही है। निमित्तकी उपयोगिता निमित्तमे है, किन्तु आत्मामें उसकी उपयोगिता नही है। "आत्मामें निमित्तकी उपयोगिता नही है"—ऐसा माननेसे कही जगतमेंसे निमित्तके अस्तित्वका लोप नही हो जाता; वह ज्ञानका ज्ञेय है। जगतमें ज्ञेयरूपसे तो तीनों काल तीनो लोक है, उससे कही आत्मामे उनकी उपयोगिता हो गई ? अज्ञानी ऐसा कहते है कि—"निमित्तकी उपयोगिता मानो, अर्थात् निमित्त कुछ कर देता है ऐसा मानो तो तुमने निमित्तको माना ऐसा कहा जायेगा।" किन्तु भाई ! निमित्तको निमित्तमे ही रख; आत्मामे निमित्तकी उपयोगिता नही है—ऐसा माननेमे ही निमित्तका निमित्तपना रहता है। किन्तु निमित्त उपयोगी होकर आत्मामे कुछ कर देता है—ऐसा माननेसे निमित्त निमित्तरूपसे नही रहता, किन्तु उपादान-निमित्तकी एकता हो जाती है अर्थात् मिथ्यात्व हो जाता है। इसलिये निमित्तका अस्तित्व जैसा है वैसा

जानना चाहिये। किन्तु, जिन्हे शुद्ध उपादानरूप ज्ञायकस्वभावकी दृष्टि नही है और अकेले निमित्तको जानने जाते है उन्हे निमित्तका यथार्थ ज्ञान नही होता, क्योकि स्व-परप्रकाशक सम्यक्‌ज्ञान ही उनके विकसित नही हुआ है।

* प्रवचन दूसरा *

[आश्विन शुक्ला ८, वीर सं० २४८०]

(३३) "जीव" अजीवका कर्ता नहीं है—क्यों नहीं है ?

इस सर्वविशुद्धज्ञान अधिकारमे क्रमबद्धपर्यायका वर्णन करके आचार्यदेवने आत्माका अकर्तृत्व बतलाया है। प्रत्येक द्रव्य अपनी क्रमबद्धपर्यायरूपसे उत्पन्न होता है और उसीमें तन्मय है, किन्तु दूसरे द्रव्यकी पर्यायरूपसे कोई उत्पन्न नहीं होता, अर्थात् कोई द्रव्य दूसरे द्रव्यका, दूसरे द्रव्यकी अवस्थाका कर्ता नही है। तदुपरान्त, ज्ञायकस्वभावकी दृष्टिमें क्रमबद्ध उत्पन्न होनेवाला जीव रागका या कर्मका कर्ता निमित्तरूपसे भी नही है—यह बात यहाँ बतलाई है।

जीव अजीवका कर्ता नही है;—क्यों नही है ? —कहते है कि अजीव भी अपने क्रमबद्धपरिणामरूपसे उत्पन्न होता हुआ उसमें तद्रूप है, और जीव अपने ज्ञायकस्वभावकी क्रमबद्धपर्यायरूपसे उत्पन्न होता हुआ ज्ञायक ही है; इसलिये वह रागादिका कर्ता नही है तथा अजीव कर्मोका भी कर्ता नही है।

यहां जीवको समझाना है कि जीव ! तू ज्ञायक है; तेरी क्रमबद्धपर्याय ज्ञाता-दृष्टारूप ही होना चाहिए; उसके बदले तू रागके कर्तारूप परिणमित होता है वह तेरा अज्ञान है।

(३४) कर्मके साथका निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध तोड़ दिया उसने संसार तोड़ दिया

जीव दूसरेको परिणमित करता है और दूसरा निमित्त होकर जीवको परिणमित करता है—ऐसा अज्ञानी मानते हैं। और

कोई भाषा बदलकर ऐसा कहते है कि–"दूसरा इस जीवको परिणमित तो नही करता, किन्तु जैसा निमित्त आये वैसे निमित्तका अनुसरण करके जीव स्वतः परिणमित हो जाता है; नही तो निमित्त–नैमित्तिक-सम्बन्ध उड़ जाता है !"—ऐसा माननेवाले भी अज्ञानी है, उन्हे; अभी निमित्तका अनुसरण करना है और उसके साथ सम्बन्ध रखना है, किन्तु ज्ञायकस्वभावका अनुसरण नही करना है।—ऐसे जीवोके लिये आचार्यदेव अगली गाथाओमें कहेगे कि—अज्ञानीको कर्मके साथ निमित्त–नैमित्तिकभावके कारण ही ससार है। ज्ञानी तो ज्ञायकस्वभाव-की दृष्टिमे निमित्तका अनुसरण ही नही करते, ज्ञायकका ही अनुसरण करते है; ज्ञायकस्वभावमे एकता करके निमित्तके साथका सम्बन्ध उन्होंने तोड़ डाला है, इसलिये दृष्टि अपेक्षासे उनके ससार है ही नही।

(३५) "ईश्वर जगत्कर्ता," और "आत्मा परका कर्ता" —ऐसी मान्यतावाले दोनों समान हैं

निमित्त पाकर जीवकी पर्याय होती है अथवा तो जीव निमित्त होकर दूसरे जीवको बचा देता है—ऐसा कर्तृत्व माननेवाले भले ही जैन नाम धारण किए हो तथापि, ईश्वरको जगत्कर्ता मानने-वाले लौकिकजनोकी भाँति, वे मिथ्यादृष्टि ही है।—यह बात भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेवने ३२१–२२–२३ वी गाथामे कही है।

(३६) ज्ञानीकी दृष्टि और ज्ञान

अपनी क्रमबद्धपर्यायरूपसे द्रव्य स्वयं ही प्रतिसमय उत्पन्न होता है, उसमें अन्य कर्ताकी अपेक्षा नही है; दूसरेसे निरपेक्षरूपसे द्रव्यमें कर्ता–कर्मपना है। द्रव्य अपनी पर्यायको करे, वहा भूमिका-नुसार निमित्त–नैमित्तिकसम्बन्धका मेल सहज ही भले हो, किन्तु ज्ञानीकी दृष्टि तो ज्ञायकस्वभाव पर ही है, निमित्तसन्मुख ज्ञानीकी दृष्टि नही है। ज्ञानीके जो स्व–परप्रकाशक ज्ञान विकसित हुआ है उसमे निमित्तका भी ज्ञान आ जाता है।

(३७) द्रव्यको लक्षमें रखकर क्रमबद्धपर्यायकी बात

द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप वस्तु स्वयं परिणमित होकर प्रतिसमय नई-नई क्रमबद्ध अवस्थारूपसे उत्पन्न होती है; वस्तुमें प्रतिसमय आन्दोलन हो रहा है; पहले समयके द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव दूसरे समय सर्वथा ज्योंके त्यों नही रहते, किन्तु दूसरे समयमें पलटकर दूसरी अवस्थारूपसे उत्पन्न होते हैं। इसलिये पर्यायके बदलनेसे द्रव्य भी परिणमित होकर उस-उस समयकी पर्यायके साथ तन्मयरूपसे वर्तता है।—इसप्रकार द्रव्यको लक्षमे रखकर क्रमबद्धपर्यायकी वात है। पहली वारके आठ प्रवचनोंमे यह बात अच्छी तरह विस्तारपूर्वक आ गई है।

(—देखो प्रथम भाग, प्रवचन ८ वाँ, पेरा नं० १८८)

(३८) परमार्थतः सभी जीव ज्ञायकस्वभावी हैं;—किन्तु ऐसा कौन जानता है?

सभी जीव अनादि-अनन्त स्व-परप्रकाशक ज्ञायकस्वभावरूप ही है। जीवके एकेन्द्रियसे लेकर पचेन्द्रियादि जो भेद हैं वे तो पर्याय-अपेक्षासे तथा शरीरादि निमित्तोकी अपेक्षासे है; किन्तु स्वभावसे तो सव जीव ज्ञायक ही है।—ऐसा कौन जानता है?—जिसने अपनेमें ज्ञायकस्वभावकी दृष्टि की हो वह दूसरे जीवोंको भी वैसे स्वभाववाला जानता है। व्यवहारसे जीवके अनेक भेद हैं, किन्तु परमार्थसे सभी जीवोका ज्ञायकस्वभाव है,—ऐसा जो जान ले उसको व्यवहारके भेदोका ज्ञान सच्चा होता है। अज्ञानी तो व्यवहारको जानते हुए उसीको जीवका स्वरूप मान लेता है, इसलिये उस पर्यायवुद्धिसे अनन्तानुवन्धी राग-द्वेष होता है, धर्मीको ऐसा राग-द्वेष नही होता।

(३९) "क्रमवद्धपर्याय" और उसके चार दृष्टान्त

यहा आचार्यभगवान कहते है कि जीवकी क्रमवद्धपर्यायरूपसे जीव स्वयं उत्पन्न होता है और अजीवकी क्रमवद्धपर्यायरूपसे अजीव स्वयं उत्पन्न होता है, कोई किसीका कर्ता या वदलनेवाला नही

है । पर्यायका लक्षण क्रमवर्तीपना है । क्रमवर्ती कहो या क्रमबद्ध कहो, या नियमबद्ध कहो; प्रत्येक द्रव्य अपनी व्यवस्थित क्रमबद्धपर्यायरूप-से उत्पन्न होता है; आत्मा अपने ज्ञायकप्रवाहके क्रमसे रहकर उसका ज्ञाता ही है ।

(१) पर्याय क्रमवर्ती है, उस क्रमवर्तीपनेका अर्थ "पादविक्षेप" करते हुए पंचाध्यायीकी १६७ वी गाथामें कहते है कि—

"अस्त्यत्र य. प्रसिद्ध· क्रम इति धातुश्च पादविक्षेपे ।
क्रमति क्रम इति रूपस्तस्य स्वार्थानतिक्रमादेष: ।।"

'क्रम' धातु है वह 'पादविक्षेप' ऐसे अर्थमें प्रसिद्ध है, और अपने अर्थ अनुसार 'क्रमति इति क्रम·'—ऐसा उसका रूप है ।

'पादविक्षेप' अर्थात्—जब मनुष्य चलता है तब उसका दायाँ और बाँया पैर एकके बाद एक क्रमश उठता है; दायेके बाद बायाँ और बायेके बाद दायाँ,—ऐसा जो चलनेका पादक्रम है वह उलटा-सीधा नहीं होता; उसीप्रकार जीव-अजीव द्रव्योंका परिणमन भी क्रमबद्ध होता है; उनकी पर्यायोंका क्रम उलटा-सीधा नही होता । इसप्रकार "क्रमबद्धपर्याय" के लिये एक दृष्टान्त तो 'पादविक्षेप' का अर्थात् चलनेके प्राकृतिक क्रमका है ।

(२) दूसरा दृष्टान्त नक्षत्रोका है, वह प्रकृतिका है । प्रमेयकमलमार्तण्ड (३-१८) में 'क्रमभाव' के लिये नक्षत्रोका दृष्टान्त दिया है । जिसप्रकार कृतिका, रोहिणी, मृगशीर्ष ...आदि सभी नक्षत्र क्रमबद्ध ही है, वर्तमानमे 'रोहिणी' नक्षत्र उदयरूप हो तो, उसके पहले 'कृतिका' नक्षत्र ही था. और अब "मृगशीर्ष" नक्षत्र ही आयेगा, –ऐसा निर्णय हो सकता है । यदि नक्षत्र निश्चित्—क्रमबद्ध ही न हो तो, पहले कौन-सा नक्षत्र था और अब कौन-सा नक्षत्र आयेगा उसका निर्णय हो ही नही सकता । उसीप्रकार प्रत्येक द्रव्यसे उसकी तीनोकाल-की पर्याये निश्चित् क्रमबद्ध ही है; यदि द्रव्यकी क्रमबद्धपर्याये निश्चित्

न हों तो ज्ञान तीनकालका किस प्रकार जानेगा ? आत्माका ज्ञानस्वभाव है, और ज्ञानमे सर्वज्ञताकी शक्ति है—ऐसा निर्णय करे तो उसमे क्रमवद्धपर्यायकी स्वीकृति आ ही जाती है। जो क्रमवद्धपर्यायको स्वीकार नही करता उसे ज्ञानस्वभावका या सर्वज्ञका यथार्थ निर्णय नही हुआ।

(३) क्रमवद्धपर्यायके लिये तीसरा दृष्टान्त नक्षत्रोंकी भाँति 'सात वारो' का है। जिस प्रकार सात वारोमे रविके वाद सोम, और उसके वाद मंगल ..वुध....गुरु...शुक्र....शनि—इसप्रकार क्रमानुसार ही आते है रविके वाद सीधा वुध और वुधके वाद शनि कभी नहीं आता। भिन्न-भिन्न देशो या भिन्न-भिन्न भाषाओंमें सात वारोके नाम भले ही अलग-अलग वोले जाते हों, किन्तु सात वारोका जो क्रम है वह तो सर्वत्र एक-सा ही है; सब देशोंमे रविके वाद सोमवार ही आता है. और सोमवारके पश्चात् मंगलवार ही आता है। रविवारके वाद वीचमे सोमवार आये विना सीधा मंगलवार आ जाये—ऐसा कभी किसी देशमें नही होता। उसीप्रकार द्रव्यकी जो क्रमवद्धपर्याय है वह कभी किसी द्रव्यमे उलटी-सीधी नही होती। सात वारोमें जिस वारके पश्चात् जिस वारका क्रम होता है वही वार आता है; उसीप्रकार द्रव्यमें जिस पर्यायके पश्चात् जिस पर्यायका क्रम (स्वकाल) होता है वही पर्याय होती है। यह ज्ञायकजीव अपने ज्ञायकपनेको भूलकर उसमें फेरफार करना चाहे तो मिथ्यादृष्टि है; क्योंकि वह परमें कर्तृत्व मानकर उसे वदलना चाहता है। मै ज्ञाता हूँ—इसप्रकार ज्ञायकसन्मुख परिणमित न होकर रागादिका कर्ता होकर परिणमित होता है; वह जीव क्रमवद्धपर्यायका ज्ञाता नही है। क्रमवद्धपर्यायका ज्ञाता तो ज्ञायकसन्मुख रहकर रागादिको भी जानता ही है। उसे स्वभावसन्मुख परिणमनमे शुद्ध पर्याय ही होती जाती है।

(४) "क्रमवद्धपर्याय" का चौथा दृष्टान्त है—मालाके मोती-का। जिसप्रकार १०८ मोतियोकी मालामे प्रत्येक मोतीका क्रम नियमित है; किसी मोतीका क्रम इधर-उधर नहीं होता; उसीप्रकार

द्रव्यकी अनादि-अनन्त पर्यायमाला—पर्यायोंकी पंक्ति—है, उसमें प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध है; कोई पर्याय इधर-उधर नही होती। (देखो, प्रवचनसार गाथा ९९ टीका)

देखो, यह वस्तुस्वरूप !

(४०) हे जीव ! तू ज्ञायकको लक्षमें लेकर विचार कर

भाई, यह समझनेके लिये कही बडे-बडे न्यायशास्त्रोंका अध्ययन करना पड़े ऐसा नही है। आत्माका ज्ञानस्वभाव है उसे लक्ष-मे लेकर तू विचार कर कि इस ओर मै ज्ञायक हूँ—मेरा सर्वज्ञस्वभाव है,—तो सामने ज्ञेयवस्तुकी पर्याय क्रमबद्ध ही होगी या अक्रमबद्ध ? अपने ज्ञानस्वभावको सामने रखकर विचार करे तो यह क्रमबद्धपर्याय-की बात सीधी जम जाये ऐसी है; किन्तु ज्ञायकस्वभावको भूलकर विचार करे तो एक भी वस्तुका निर्णय नही हो सकता। निर्णय करनेवाला तो ज्ञायक है, उस ज्ञायकके ही निर्णय बिना परका या क्रमबद्धपर्यायका निर्णय करेगा कौन ? "मै ज्ञायक हूँ"—इसप्रकार स्वभावमें एकता करके साधकजीव ज्ञायकस्वभावरूप ही उत्पन्न होता है। जिसकी मुख्यता है उसीका कर्ता-भोक्ता है। ज्ञानीको रागकी मुख्यता नही है इसलिये उसका कर्ता-भोक्ता नही है। रागको गौण करके, व्यवहार मानकर अभूतार्थ कहा इसलिये ज्ञानी रागरूपसे उत्पन्न होता ही नही। इसप्रकार अभेदकी बात है;—ज्ञायकमें अभेद हुआ वह ज्ञान-आनन्द-श्रद्धादिरूप ही उत्पन्न होता है, रागमे अभेद नही है इसलिये वह रागरूपसे उत्पन्न ही नही होता। श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र-आनन्दादिके निर्मल क्रमबद्धपरिणामरूप ही ज्ञानी उत्पन्न होता है।

(४१) क्रमबद्धपना किस प्रकार है ?

यहा "क्रमबद्धपरिणाम" कहा जाता है, उसका क्या अर्थ ? पहले एक गुण परिणमित होता है, फिर दूसरा और उसके बाद तीसरा,—ऐसा क्रमबद्धपरिणामका अर्थ नही है। अनन्त गुण है वे कही एक-के बाद एक परिणमित नही होते। गुण तो सब एकसाथ ही परिणमित

होते है इसलिये अनन्त गुणोंके अनन्त परिणाम एकसाथ है; किन्तु यहां तो गुणोके परिणाम एकके बाद एक (ऊर्ध्वक्रमसे) उत्पन्न होते है उसकी बात है । गुण सहभावरूप—एकसाथ—हैं; किन्तु पर्यायें क्रमभावरूप—एकके बाद एक—है । एकके बाद एक होनेके उपरांत वह प्रत्येक पर्याय स्वकालमें नियमित—व्यवस्थित है । —यह बात लोगोको जमती नही है और फेरफार करना–परका कर्तृत्व–मानते हैं। आचार्यप्रभु समझाते हैं कि भाई ! ज्ञायकस्वभाव तो सबको जानता है या किसीको बदल देता है ? अपने ज्ञानस्वभावकी प्रतीति करके तू स्वोन्मुख हो जा और परको बदलनेकी मिथ्याबुद्धि छोड़ दे ।

(४२) * ज्ञान और ज्ञेयकी परिणमनधारा;

* केवली भगवानके दृष्टान्तसे साधकदशाकी समझ

केवलज्ञानी भगवानको परिपूर्ण स्व–परप्रकाशकभाव परिणमित हो रहा है और सामने सम्पूर्ण ज्ञेय ज्ञात हो गया है। सारे ज्ञेय क्रमबद्ध परिणमित हो रहे है और यहाँ पूर्ण ज्ञान तथा उसके साथ पूर्ण आनन्द, वीर्यादि क्रमबद्ध परिणमित हो रहे है । ज्ञान और ज्ञेय दोनों व्यवस्थित—क्रमबद्ध परिणमित हो रहे है । तथापि कोई किसीको बदलता नही है, किसीके कारण कोई नही है ।

ज्ञेयोमें पहले समय जो वर्तमानरूप है वह दूसरे समय भूतरूप हो जाता है, और भविष्य उस वर्तमानरूप हो जाता है, इसप्रकार ज्ञानकी पर्यायें भी बदलती है; परन्तु ज्ञान तो भूत भविष्य और वर्तमान तीनोको एकसाथ जानता है, वह कही क्रमसे नहीं जानता । यहाँ पूरा ज्ञायकभाव और सामने सब ज्ञेय—इसप्रकार ज्ञान और ज्ञेय-की परिणमनधारा चली जाती है, उसमे बीचमें भगवानको रागादि नही आते । यहाँ केवलीभगवानका उदाहरण देकर ऐसा समझाना है कि—जिसप्रकार भगवान अकेले ज्ञायकभावरूप ही परिणमित होते है उसीप्रकार साधक ज्ञानी भी अपने ज्ञायकस्वभावके अवलम्बनसे ज्ञायकभावरूप ही परिणमित होते है; उनका ज्ञान रागको ज्ञेयरूप

से जानता है किन्तु रागके अवलम्बनसे प्रवर्तित नहीं होता। "भगवान-का केवलज्ञान लोकालोकका अवलम्वन लेकर प्रवर्तित होता है"—ऐसा कहा जाता है, किन्तु वह तो ज्ञानके परिपूर्ण सामर्थ्यकी विशालता वतलानेके लिये कहा है; केवलज्ञानमे कही परका अवलम्वन नही है। उसी प्रकार साधकके ज्ञानमे अपने ज्ञायकस्वभाव-के सिवा अन्य किसीका अवलम्बन नही है।

केवलीभगवानको रागादिरूप व्यवहार रहा ही नही है; साधकको भूमिकानुसार अल्प रागादि है वे व्यवहारज्ञेयरूपसे है; इसलिये कहा है कि "व्यवहार जाना हुआ उस कालमे प्रयोजनवान है" किन्तु साधकको उस व्यवहारका अवलम्वन नही है, अवलम्बन तो अन्तरके परमार्थभूत ज्ञायकस्वभावका ही है। स्व-परप्रकाशक ज्ञानसामर्थ्यमें उस-उस कालका व्यवहार और निमित्त ज्ञेयरूपसे है।

(४३) "जीव" कैसा ? और जीवकी प्रभुता काहेमें ?

यहां स्वभावके साथ अभेद होकर जो परिणाम उत्पन्न हुए उन्हीको जीव कहा है, रागादिमे अभेद होकर वास्तवमे ज्ञानी जीव उत्पन्न नही होता। ज्ञायकस्वभावके अवलम्वनसे जो निर्मल परिणाम उत्पन्न हुए वे जीवके साथ अभेद है, इसलिये वे जीव है, उनमे राग-का या अजीवका अवलम्बन नही है इसलिये वे अजीव नही है।

देखो, यह जीवकी प्रभुता! प्रभो! अपनी प्रभुतामे तू है,—रागमें या अजीवमे तू नही है। तेरी प्रभुता तेरे ज्ञायकस्वभावके अवलम्वनमे है, अजीवके अवलम्बनमें तेरी प्रभुता नही है; अपने ज्ञायकभावके परिणमनमे तेरी प्रभुता है, रागके परिणमनमे तेरी प्रभुता नही है। कोई भगवान जगतके नियामक है—यह वात तो झूठ है, किन्तु तेरा ज्ञानस्वभाव स्व-परका निश्चायक है-निश्चय करनेवाला है—ज्ञाता है। ज्ञेयकी क्रमबद्ध अवस्थाके कारण यहाँ वैसा परिणमन होता है-ऐसा भी नही है। और ज्ञानके कारण ज्ञेयोका क्रमवद्ध परिणमन होता है—ऐसा नही है।

(४४) "पर्याय-पर्यायमें ज्ञायकपनेका ही काम"

देखो, ग्रामका स्टेशन बाजारसे बिलकुल निकट है। दो मिनटमें स्टेशन पहुंचा जा सके—इतने निकट है। कभी गाडीमे जाना हो, और घर भोजन करने बैठे हों वहा गाडीकी सीटी सुनाई दे। पहले धीरे-धीरे भोजन कर रहे हो और गाडी आनेकी सूचना मिलते ही जल्दी खानेकी इच्छा हो जाये तथा और भी जल्दीसे उठने लगे; तथापि सब क्रमबद्ध अपने-अपने कारण ही है।

—गाडी आई इसलिये ज्ञान हुआ—ऐसा नही है, और
—ज्ञानके कारण गाड़ी नही आई है।
—गाड़ी आनेका ज्ञान हुआ इसलिये उस ज्ञानके कारण जल्दी खानेकी इच्छा हुई ऐसा भी नही है;
—ज्ञानके कारण या इच्छाके कारण खानेकी क्रियामें शीघ्रता आई—ऐसा भी नही है।

—प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्ररूपसे अपनी-अपनी क्रमबद्ध योग्यतानुसार परिणमित होता है,—ऐसा समझे तो ज्ञायकत्व हुए बिना न रहे।

इसी प्रकार, कोई मनुष्य घूमने जाये और धीरे-धीरे चल रहा हो, किन्तु जहां पानी बरसना प्रारम्भ हो कि एकदम तेजीसे पैर उठने लगते है;—इसमें भी उपरोक्त दृष्टान्तकी भांति जीव-अजीवके परिणमनकी स्वतंत्रता समझ लेना चाहिये और इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये। लोकमें कहावत है कि—'दाने-दाने पर खानेवाले का नाम;" उसीप्रकार यहां "पर्याय-पर्यायमे स्वकालका नाम" है; और आत्मामें "पर्याय-पर्यायमें ज्ञायकपनेका ही काम" हो रहा है। किन्तु मूढ़ जीव विपरीतदृष्टिसे परका कर्तृत्व मानता है।

(४५) मूढ़ जीव मुँह आये वैसा बकता है

शरीरकी बात आये वहां अज्ञानी कहता है कि—"जीवके बिना कहीं शरीरकी क्रिया हो सकती है? जीव हो तभी शरीरकी क्रिया होती है।" इसका अर्थ यह हुआ कि जीव हो तो अजीवकी

परिणाम होते हैं, यानी अजीवमें तो मानों कुछ शक्ति ही न हो !—ऐसा मूढ़ मानता है ।

और जहाँ कर्मकी बात आये वहां वह अज्ञानी ऐसा कहता है कि—"भाई ! कर्मका जोर है, कर्म जीवको विकार कराते है और कर्म ही उसको भटकाते है !"—अरे भाई ! अजीवमे वल तो नही था, फिर कहासे आ गया ? कर्म जीवको बलात् परिणमित कराते है;—यानी जीवमे स्वाधीन परिणमन करनेकी तो मानो कोई शक्ति ही न हो—ऐसा वह मूढ मानता है । जीव-अजीवकी स्वतत्रताके भान विना अज्ञानी क्षणमे इधर और क्षणमे उधर, जैसा मुँह आये वैसा वकते है ।

(४६) अज्ञानीकी बिल्कुल विपरीत बात; ज्ञानीकी अपूर्वदृष्टि

पुनश्च, थर्मामीटरका दृष्टान्त देकर कोई ऐसा कहते हैं कि—जितना वुखार हो उतना ही थर्मामीटरमें आता है; उसीप्रकार जितना उदय हो तदनुसार ही विकार होता है ।—यह बात भी झूठी है । भाई, तेरी दृष्टि विपरीत है और तेरा दृष्टान्त भी उलटा है । किसी समय १०५ डिग्री बुखार हो, तथापि थर्मामीटरमे उतना नही आता । उसी प्रकार उदयानुसार ही जीवको विकार हो—ऐसा कभी होता ही नही ।

"उदयानुसार ही विकार होता है"—यह बात तो महान स्थूल-विपरीत है । किन्तु, जीव स्वयं विकार करके उदयको निमित्त बनाये—यह बात भी यहां नही है । जो अज्ञानी जीव विकारका कर्ता होता है उसीको कर्मके साथ सम्बन्ध है, किन्तु ज्ञानी तो ज्ञायकभावरूप ही परिणमित होते है, ज्ञायकभावमे कर्मके साथ सम्बन्ध ही नहीं है—ऐसी ज्ञायकस्वभावकी दृष्टि करके स्वसन्मुख ज्ञातारूपसे परिणमित होना ही अपूर्व धर्म है, और वह जीव वास्तवमे अकर्ता है । अकर्तापनेरूप अपना जो ज्ञायकभाव है उसका वह कर्ता है, किन्तु रागका या कर्मका कर्ता नहीं है ।

(४७) "मूर्ख...."

देखो, शास्त्रमे ऐसा आता है कि—"कत्थवि वलिओ जीवो, कत्थवि कम्माइ हुति वलियाइ........अर्थात् कभी जीव बलवान होता है और कभी कर्म बलवान हो जाते है";—किन्तु अज्ञानी उसका आशय नही समझते और विपरीत मानते है। जीवने पुरुषार्थ नही किया तव निमित्तसे कर्मको बलवान कहा। परन्तु कर्मका उदय ही जीवको जबरन् राग-द्वेषरूप परिणमित करता है—ऐसा जो मानता है उसे तो पं० बनारसीदासजी नाटक समयसारमे 'मूर्ख' कहते है—

कोऊ मूरख यों कहै, राग दोष परिनाम।
पुग्गलकी जोरावरी बरतै आतमराम ॥ ६२ ॥

(४८) विपरीत मान्यताका जोर! (उसके चार उदाहरण)

(१) विपरीत दृष्टि ही जीवको सीधा नही समझने देती। देखो, "उदयानुसार विकार होता है"—ऐसा माननेवालेको भी उदयानुसार तो विकार होता ही नही; उसके शास्त्रस्वाध्यायादिमें (भले ही विपरीत दृष्टिपूर्वक) मदराग तो वर्तता है; ज्ञानमे भी इसी प्रकार आता है; कर्मके उदयानुसार विकार होता है—ऐसा कही उसके ज्ञानमे तो ज्ञात नही होता, तथापि उसकी विपरीत दृष्टिका बल उसे ऐसा मनाता हे कि "उदयानुसार विकार होता है।" उसकी विपरीत मान्यतामे मिथ्यात्वका इतना जोर पड़ा है कि अनन्ता उदय आये तो मुझे वैसा होना पड़ेगा—ऐसा उसका अभिप्राय वर्तता है; इसलिये उसमें तीव्र मिथ्यात्व सहित निगोददशाकी ही आराधनाका जोर पड़ा है।

(२) इसी प्रकार, विपरीत दृष्टिका दूसरा उदाहरण:—स्थानकवासीके तेरापन्थी लोग असयमीके प्रति दया-दानादि भावोंको भी पाप मानते है। किसी जीवके बचानेका या दानादिका भाव हो तव उसे अपनेको कोमल परिणामरूप शुभभाव है; उस समय उसके ज्ञानमे भी ऐसा ही ख्याल आता है कि यह कुछ शुभपरिणाम

है; उस समय ज्ञानमें कही ऐसा ख्याल नहीं आता कि "यह पाप-परिणाम है," किन्तु विपरीत श्रद्धाका जोर ऐसा है कि अपनेको शुभभाव होने पर भी उसे पाप मनाती है। दया-दानको पाप माननेवाले तेरापंथीको भी दया-दानके समय कही पापभाव नही है; तथापि विपरीत दृष्टिके कारण वह उसे पाप मानता है।

(३) इसी प्रकार तीसरा उदाहरण—जिन-प्रतिमाके दर्शन-पूजन-भक्ति आदिमे शुभभाव है; तथापि स्थानकवासी उसे पाप मानते है; जिन-प्रतिमाके दर्शनादिमें शुभभाव होते है तथापि, और ज्ञान-में भी उस समय "यह शुभ है"—ऐसा आने पर भी, विपरीत मान्यता-का जोर उस शुभको भी पाप मनाता है।

(४) एक चौथा उदाहरण यह है कि-दया, पूजा या व्रतादिका भाव शुभराग है, वह कही धर्म नही है; तथापि मिथ्यादृष्टिकी विपरीत मान्यता उसे धर्म मानती है। उस शुभरागके समय अज्ञानीको भी ज्ञानमे तो ऐसा आया है कि—"यह राग हुआ," किन्तु धर्म हुआ—ऐसा कही ज्ञानमें नही आया है; अर्थात् रागके समय उस रागका ही ज्ञान हुआ है; तथापि विपरीत दृष्टिके कारण वह रागको धर्म मानता है। रागसे धर्म माननेवालेको स्वय भी रागसे कही धर्म नही हो जाता तथापि विपरीत मान्यताका जोर उसे इस प्रकार मनाता है।

—वह विपरीत मान्यता कैसे दूर हो ?—यह बात आचार्य-देव समझाते है।

(४९) ज्ञायक सन्मुख हो !—यही जैनमार्ग है

हे भाई ! एक बार तू स्वसन्मुख हो और ज्ञायकस्वभावको प्रतीतिमे लेकर श्रद्धा-ज्ञानको सच्चा बना, तो तुझे सब सीधा-सच्चा भासित होगा और तेरी विपरीत मान्यता दूर हो जायगी। उपयोग-को अन्तरोन्मुख करके "मै ज्ञायक हूँ" ऐसा जब तक वेदन न हो तब तक सम्यग्दर्शन नही होता और विपरीत मान्यता भी नही टलती। बस ! ज्ञानको अन्तरोन्मुख करके आत्मामे एकाग्र किया उसमें सम्पूर्ण मार्गका समावेश हो गया, सारा जैनशासन उसमे आ गया।

* प्रवचन तीसरा *

[आश्विन शुक्ला ९, वीर सं० २४८०]

(५०) सम्यग्दृष्टि–ज्ञाता क्या करता है ?

"सर्वविशुद्धज्ञान" कहो या अभेदरूपसे ज्ञानात्मक शुद्ध द्रव्य कहो—उसका यह अधिकार है। शुद्ध ज्ञायकद्रव्यकी दृष्टिसे सम्यग्ज्ञानीको ज्ञानमे क्या क्या होता है उसका यह वर्णन है। सम्यग्दर्शन अर्थात् शुद्ध आत्माका ज्ञान होने पर जीव क्या करता है ?—अथवा सम्यग्दृष्टि ज्ञानीका क्या कार्य है ? वह यहां समझाते है।

तत्त्वार्थश्रद्धान वह सम्यग्दर्शन है; सात तत्त्वोंमें जीवतत्त्व ज्ञायकस्वरूप है। मैं ज्ञायकस्वरूप जीव हूँ—ऐसा जाननेवाला सम्यक्त्वी पर्याय-पर्यायमें ज्ञाताभावरूप ही उत्पन्न होता है इसलिये ज्ञातृत्वका ही कार्य करता है। ज्ञाता स्वयं प्रतिक्षण अपनेको जानता हुआ उत्पन्न होता है। ज्ञायकस्वभावकी दृष्टिसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञायक ज्ञाता–दृष्टापनेका ही कार्य करता है; उस क्षण वर्तते हुए रागका वह ज्ञायक है किन्तु उसका कर्ता नहीं है। ज्ञाता उस काल वर्तते हुए रागादिको–व्यवहारको जानता है, वह रागके कारण नही किन्तु उस समयके अपने ज्ञानके कारण वह रागको भी जानता है। इसप्रकार ज्ञानी जीव अपने क्रमबद्ध ज्ञानपरिणामरूपसे उत्पन्न होता है।

(५१) निमित्तका अस्तित्व कार्यकी पराधीनता सूचित नहीं करता

अजीव भी अपनी क्रमबद्धपर्यायसे स्वयं उत्पन्न होता है; कोई दूसरा उसका उत्पन्न करनेवाला नही है। देखो, घडा होता है, वहां मिट्टीके परमाणु स्वय उस पर्यायरूपसे उत्पन्न होते है; कुम्हार उन्हें उत्पन्न नही करता। कुम्हारने घड़ा बनाया—ऐसा कहना तो मात्र निमित्तके सयोगका कथन है। "निमित्त" कही नैमित्तिककार्यकी पराधीनता नही बतलाता। एक वस्तुके कार्यके समय निमित्तरूप

से दूसरी वस्तुका अस्तित्व हो, वह कहीं कार्यकी पराधीनता नहीं बतलाता, किन्तु ज्ञानका स्व–परप्रकाशक सामर्थ्य बतलाता है ।

(५२) श्री रामचन्द्रजीके दृष्टान्त द्वारा धर्मात्माके कार्यकी समझ

जिस समय श्री राम–लक्ष्मण–सीता वनमें थे तब वे हाथसे मिट्टीके बर्तन बनाकर उनमें भोजन बनाते थे । रामचन्द्रजी बलदेव थे और लक्ष्मण वासुदेव । वे महान चतुर, बहत्तर कलाके ज्ञाता श्लाका पुरुष थे । जंगलमें हाथसे मिट्टीके बर्तन वनाकर उनमें भोजन बनाते थे । "रामने बर्तन वनाये"—ऐसा कहा जाता है, किन्तु वास्तवमे तो मिट्टीके परमाणु स्वयं उन बर्तनोकी अवस्थारूपसे उत्पन्न हुए है । रामचन्द्रजी तो आत्मज्ञानी थे, और उस समय भी वे अपने ज्ञायकस्वभावकी दृष्टिसे ज्ञाताभावरूप ही उत्पन्न होते थे; मिट्टीकी पर्यायको मैं उत्पन्न करता हूँ—ऐसा वे नही मानते थे; स्व–परप्रकाशक ज्ञानरूपसे क्रमबद्ध उत्पन्न होते हुए उस समयके विकल्पको और बर्तन वननेको क्रियाको जानते थे । ज्ञातारूपसे ही उत्पन्न होते थे किन्तु रागके या जडकी क्रियाके कर्तारूपसे उत्पन्न नही होते थे । देखो, यह धर्मीका कार्य ! ऐसी धर्मीकी दशा है; इससे विपरीत माने तो वह अज्ञानी है, उसे धर्मके स्वरूपकी खबर नहीं है ।

(५३) आहारदान प्रसंगके दृष्टान्तसे ज्ञानीके कार्यकी समझ

सुगुप्ति और गुप्ति नामके मुनिओंका ऐसा अभिग्रह था कि राजकुमार हो, वनमे हो और अपने ही हाथसे बनाये हुए बर्तनमें विधिपूर्वक आहार दे तो वे आहार लेगे । ठीक उसी समय राम-लक्ष्मण-सीता वनमे थे; हाथसे बनाये हुए वर्तनमे आहार वनाया था और ऐसी भावना कर रहे थे कि कोई मुनिराज पधारे तो उन्हे आहार दें; वही संयोगवशात् वे मुनिवर पधारे और उन्हे विधिपूर्वक पडगाहन करके नवधाभक्तिपूर्वक आहारदान दिया । इसप्रकार मुनिओके अभिग्रहका प्राकृतिक संयोग मिल गया । ऐसा सयोग अपने आप हो जाता है ।

किन्तु ज्ञानी जानते हैं कि मैं तो ज्ञायक हूँ; यह आहार देने–लेनेकी क्रिया हुई वह मेरा कार्य नही है; मुनिवरोंके प्रति भक्तिका शुभभाव हुआ वह भी वास्तवमे ज्ञाताका कार्य नही है। रामचन्द्रजी ज्ञानी थे उन्हे इस सबकी खबर थी। आहारदानकी बाह्यक्रियाके या उस ओर-के विकल्पके, परमार्थसे ज्ञानी कर्ता नही है; उस समय अन्तरमे ज्ञायकस्वभावके अवलम्बनसे प्रतिक्षण ज्ञान–श्रद्धा–आनन्दादिकी पर्यायका स्वय अपनेको दान देता है; उस दानमें स्वयं ही दान देनेवाला है और स्वय ही लेनेवाला। निर्मल पर्यायरूपसे उत्पन्न हुआ उसका कर्ता भी स्वय, और सम्प्रदान भी स्वयं। ज्ञान–आनन्दकी पक्तिके सिवा रागादिका या परकी पर्यायका आत्मा ज्ञाता है किन्तु कर्ता नही है; अपनी निर्मल ज्ञान–आनन्ददशाका ही ज्ञानी कर्ता है।

छठवे–सातवे गुणस्थानमे झूलते हुए सन्त—मुनिवरोको देखकर ज्ञानी कहे कि—"हे नाथ ! पधारो....पधारो !! मनशुद्धि–वचनशुद्धि–कायशुद्धि–आहारशुद्धि . हे प्रभो ! हमारे आंगनको पावन कीजिये ! हमारे आँगनमे आज कल्पवृक्ष फले, हमे जंगलमें मंगल हुआ।"—तथापि उससमय ज्ञानी उस भाषाके और रागके कर्तारूपसे परिणमित नही होते किन्तु ज्ञायकपनेकी ही क्रमवद्धपर्यायके कर्ता–रूपसे परिणमित होते हैं। अज्ञानियोंको यह वात बैठना कठिन होता है।

(५४) रामचन्द्रजीके वनवासके दृष्टान्त द्वारा ज्ञानीके कार्यकी समझ

राजगद्दीके वदले रामचन्द्रजीको वनवास हुआ,—तो क्या वह अक्रमवद्ध हुआ ? अथवा राजगद्दीका क्रम था, किन्तु कैकेयी माताके कारण वह वदल गया—ऐसा है ?—नही; माता–पिताके या किसी औरके कारण वनवासकी अवस्था हुई ऐसा नही है; तथा अवस्थाका क्रम वदल गया ऐसा भी नही है। रामचन्द्रजी जानते थे कि मैं तो ज्ञान हूँ; इस समय ऐसा ही क्षेत्र मेरे ज्ञानके ज्ञेयरूपसे

होगा;—ऐसी ही स्वपरप्रकाशकशक्तिरूपसे मेरी ज्ञानपर्याय उत्पन्न हुई है। राजभवनमे होऊँ या वनमे होऊँ किन्तु मै तो स्व-परप्रकाशक ज्ञायकरूपसे ही उत्पन्न होता हूँ। राजमहल भी ज्ञेय है और यह वन भी मेरे ज्ञानका ज्ञेय है; इस समय इस वनको जाने ऐसी ही मेरे ज्ञानकी स्व-परप्रकाशकशक्ति विकसित हुई है। इस प्रकार ज्ञानीको ज्ञायकदृष्टि नही छूटती; ज्ञायकदृष्टिमे वे निर्मल ज्ञानपर्यायरूप ही उत्पन्न होते है।

(५५) ज्ञानी ज्ञाता रहता है; अज्ञानी रागका कर्ता होता है और परको बदलना चाहता है

मै ज्ञायक हूँ—ऐसी दृष्टि करके ज्ञातारूपसे न रहकर अज्ञानी रागादिका कर्ता होकर परके क्रमको बदलने जाता है। उसे अभी राग करना है और परको बदलना है, किन्तु ज्ञातारूपसे नही रहना है; उसे ज्ञातृत्व नही जमता इसलिये उसे ज्ञानके प्रति क्रोध है; तथा परके क्रमबद्धपरिणमन पर (वस्तुके स्वभाव पर) द्वेष है इसलिये उसके क्रमको बदलना चाहता है,—इसप्रकार यह मिथ्यादृष्टिके अनन्त राग-द्वेष है। अमुक समय अमुक प्रकारका राग बदलकर उसके बदले ऐसा ही राग करूँ— इस प्रकार जो हठ करके रागको बदलना चाहता है उसे भी रागके साथ एकत्वबुद्धिसे मिथ्यात्व होता है। भूमिका अनुसार जो राग होता है उसे साधक जानते है; उस रागको ज्ञानका ज्ञेय बना देते है, किन्तु उसे ज्ञानका कार्य नही बनाते और राग होने पर ज्ञानमे शका भी नही पडती। हठपूर्वक रागको बदलने जाये तो उसे उस समयके (रागको भी जाननेवाले) स्व-परप्रकाशक ज्ञानकी प्रतीति नही है इसलिये ज्ञान पर ही द्वेप है। ज्ञानी तो ज्ञायकदृष्टिके बलमे ज्ञातारूपसे ही उत्पन्न होते है, रागरूपसे उत्पन्न नही होते; रागके भी ज्ञातारूपसे उत्पन्न होते है किन्तु उसके कर्तारूपसे उत्पन्न नही होते। सम्यग्दृष्टिका ऐसा कार्य है। अज्ञानी तो ज्ञायकस्वभावकी

प्रतीति न रखकर, पर्यायमूढ़ होकर पर्यायको बदलना चाहता है; अथवा पर ज्ञेयोके कारण ज्ञान मानता है; इसलिये वह ज्ञेयोको जानते हुए उन्हीमे राग-द्वेष करके अटक जाता है, किन्तु इधर ज्ञायकस्वभावकी ओर नही ढलता ।

(५६) जैनके वेषमें बौद्ध

* बौद्धमती ऐसा कहते है कि—"ज्ञेयोके कारण ज्ञान होता है; सामने घडा हो तो यहाँ घड़ेका ही ज्ञान होता है । घड़ेके समय घड़ेका ही ज्ञान होता है किन्तु "यह हाथी है"—ऐसा ज्ञान नही होता, इसलिये ज्ञेयके कारण ही ज्ञान होता है ।" किन्तु उनकी यह बात मिथ्या है । ज्ञेयोके कारण ज्ञान नही होता किन्तु सामान्य-ज्ञान स्वयं ही विशेष ज्ञानरूप परिणमित होकर जानता है इसलिये ज्ञानकी अपनी ही वैसी योग्यतासे घड़े आदिका ज्ञान होता है; उस ज्ञानके समय घडा आदि ज्ञेय तो मात्र निमित्त है ।—ऐसा युक्तिपूर्वक सिद्ध करके, अकलकदेव आचार्यादि महान संतोने, 'ज्ञेयोके कारण ज्ञान होता है"—यह बात उड़ा दी है । उसके बदले आज जैन नाम धारण करनेवाले कुछ विद्वान भी ऐसा मानते है कि "निमित्तके कारण ज्ञान होता है, निमित्तके कारण कार्य होता है"—तो वे भी बौद्धमती जैसे मिथ्यादृष्टि सिद्ध हुए; बौद्धके और उनके अभिप्रायमे कोई अन्तर न रहा ।

* पुनश्च, जिस प्रकार ज्ञेयके कारण ज्ञान नही है, उसी प्रकार ज्ञानके कारण ज्ञेयकी अवस्था हो—ऐसा भी नही है, जिस प्रकार ज्ञेयके कारण ज्ञान होना बौद्ध कहते है, उसी प्रकार जैनमें भी यदि कोई ऐसा माने कि—"ज्ञानके कारण ज्ञेयकी अवस्था होती है,—जीव है इसलिये घड़ा होता है, जीव है इसलिये शरीर चलता है, जीव है इसलिये भाषा बोली जाती है"—तो यह मान्यता भी मिथ्या है । ज्ञान और ज्ञेय दोनोकी अवस्था क्रमबद्ध स्वतंत्ररूपसे अपने-अपने कारण ही हो रही है ।

* और, राग भी व्यवहारसे ज्ञाताका ज्ञेय है। जिस प्रकार ज्ञेयके कारण ज्ञान, या ज्ञानके कारण ज्ञेय नही है, उसी प्रकार रागके कारण ज्ञान या ज्ञानके कारण राग भी नही है। राग हो वहा ज्ञानमे भी राग ही ज्ञात होता है, वहा अज्ञानीको ऐसा भ्रम हो जाता है कि यह राग है इसलिये उसके कारण रागका ज्ञान होता है; इसलिये रागसे पृथक्—रागके अवलम्बनसे रहित—ऐसा ज्ञान उसे भासित नही होता। मै ज्ञायक हूँ और मेरे ज्ञायकस्वभावमे यह ज्ञानका प्रवाह आता है—ऐसी प्रतीतिमे ज्ञानी रागका भी ज्ञाता ही रहता है।

(५७) सच्चा समझनेवाले जीवका विवेक कैसा होता है ?

प्रश्न:—प्रत्येक वस्तुकी क्रमबद्धपर्याय स्वयं अपनेसे ही होती है—ऐसी क्रमबद्धपर्यायकी बात सुनेगे तो लोग देव-गुरु-शास्त्रका बहुमान छोड़ देगे, और जिन-मन्दिरादि नही बनवायेगे ?

उत्तर:—अरे भाई ! जो यह बात समझेगा उसीको समझानेवालेका सच्चा बहुमान आयेगा। निश्चयसे अपने ज्ञायकस्वभावको जाना तब क्रमबद्धपर्यायका ज्ञान सच्चा हुआ। ज्ञायकस्वभावके सन्मुख होकर क्रमबद्धपर्यायकी अपूर्व बात जो समझा, उसे वह बात समझानेवाले वीतरागी देव-गुरु-शास्त्रके प्रति भक्तिका भाव आये बिना नही रहेगा। "मै ज्ञायक हूँ"—इस प्रकार ज्ञायककी श्रद्धा करके जो क्रमबद्धपर्यायको जानेगा वह अपनी भूमिकाके रागको भी जानेगा। किस भूमिकामे कैसा राग होता है और कैसे निमित्त होते है उनका भी वह विवेक करेगा। यह बात तो जागृतमार्ग है यह कही अधमार्ग नही है। साधकदशामे राग होता है, किन्तु उस रागकी वृत्ति कुदेवादिके प्रति नही जाती, किन्तु सच्चे देव-गुरुके बहुमानकी ओर वृत्ति जाती है। जो सच्चा समझे वह स्वच्छन्दी हो ही नही सकता, सच्ची समझका फल तो वीतरागता है। वीतरागी देव-गुरुका बहुमान आनेसे बाह्यमें जिनमन्दिर बनवाने आदिके भाव

आते हैं; किन्तु वाह्यमे तो उसके अपने कालमें जैसा होने योग्य हो वैसा होता है। इसी प्रकार अष्ट द्रव्योसे भगवानकी पूजादिमें भी समझ लेना चाहिये। उस काल वैसा राग होता है और उस समय ज्ञान भी वैसा ही जानता है; तथापि उस ज्ञानके या रागके कारण वाह्यक्रिया नही होती। उस समय भी ज्ञानी जीव तो अपने ज्ञानभाव-का ही कर्ता है।

ज्ञानभाव जीवतत्त्व है;
राग आस्रवतत्त्व है; और
वाह्य शरीरादिकी क्रिया अजीवतत्त्व है।

उसमे किसीके कारण कोई नही है। इस प्रकार प्रत्येक तत्त्वका भिन्न-भिन्न स्वरूप पहिचानना चाहिये, तभी सच्ची तत्त्वार्थ-श्रद्धा होती है।

(५८) अपनी पर्यायमें ही अपना प्र–भाव है

कोई कहता है कि—आपके प्रभावसे यह सब रचना हुई!–यह सब तो विनयकी भाषा है। वास्तवमे "प्रभाव" किसीका किसी पर नही है। सबकी पर्यायमे अपना–अपना ही प्र–भाव (विशेष प्रकारसे भवन) है। आत्मा अपने ज्ञानरूप विशेषभावसे परिण-मित हो उसीमे उसका प्रभाव है; स्वयं अपने जिस निर्मल भावरूप-से परिणमित हो उसीमे अपना प्रभाव है। किन्तु जीवका प्रभाव अजीव पर या अजीवका प्रभाव जीव पर नही है; प्रत्येक तत्त्व भिन्न–भिन्न है; एकका दूसरेमें अभाव है; इसलिये किसीका प्रभाव दूसरे पर नही पडता। एक पर दूसरेका प्रभाव कहना, मात्र निमित्तका कथन है। (विशेषके लिये देखो, प्रथम भाग, प्रवचन चौथा नं० १०८)

(५९) क्रमबद्धके नाम पर मूढ़ जीवकी गड़बड़ी

कुछ मूढ़ लोग ऐसी गडबडी करते है कि—"पर्याय क्रमबद्ध जब होना हो तब हो जाती है, इसलिये चाहे जिस वेषमें और चाहे जिस दशामे मुनिपना आ जाता है।" किन्तु चाहे जैसे मिथ्या सम्प्रदाय

को मानता हो और चाहे जैसे निमित्तमें विद्यमान हो, तथापि क्रमबद्धमें मुनिपना या सम्यग्दर्शन आ जाये—ऐसा कभी होता ही नहीं। अरे भाई ! क्रमबद्धपर्याय क्या वस्तु है उसकी तुझे खबर नहीं है; सम्यग्दर्शन और मुनिपनेकी दशा कैसी होती है उसकी भी तुझे खबर नहीं है। अन्तरंग ज्ञायकभावमें लीन होकर मुनिदशा हुई वहां निमित्तरूपसे जड शरीरकी दशा नग्न ही होती है। अब यह बात प्रसिद्धिमें आनेसे कुछ स्वच्छन्दी लोग क्रमबद्धके शब्द पकड़कर बात करना सीखे हैं। किन्तु यदि क्रमबद्धपर्यायको यथार्थ समझें तब तो निमित्त आदि चारों पक्षोंका मेल बराबर मिलना चाहिये।

(६०) ज्ञायक और क्रमबद्धका निर्णय करके स्वाश्रयका परिणमन हुआ, उसमें व्रत-प्रतिक्रमण आदि सारा जैनशासन आ जाता है

प्रश्न:—इस क्रमबद्धपर्यायमें व्रत-समिति-गुप्ति-प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान-प्रायश्चित आदि कहाँ आये ?

उत्तर:—जिसका ज्ञान परसे हटकर ज्ञायकमें एकाग्र हुआ है, उसीको क्रमबद्धपर्यायका निर्णय है, और ज्ञायकमें एकाग्र होकर परिणमित हुआ उसमें व्रत-समिति आदि सब कुछ आ जाता है। ज्ञायकस्वभावमें ज्ञानकी एकाग्रता—वह ध्यान है और उस ध्यानमें निश्चय व्रत-तप-प्रत्याख्यानादि सबका समावेश हो जाता है। नियमसारकी ११९ वीं गाथामें कहा है कि—

आत्मस्वरूपालम्बनभावेन तु सर्वभाव परिहारम्।
शक्नोति कर्तुं जीवस्तस्माद् ध्यानं भवेत् सर्वम् ॥ ११९ ॥

निज आत्माका आश्रय करके ज्ञान एकाग्र हुआ वह निश्चय धर्मध्यान है, और वह निश्चय धर्मध्यान ही सर्व परभावोंका अभाव करनेमें समर्थ है; "तम्हा झाण हवे सव्वं"—इसलिये ध्यान सर्वस्व है; शुद्ध आत्माके ध्यानमें सर्व निश्चय आचारों (पंचाचार) का समावेश हो जाता है।

जो आत्माके ज्ञायकस्वभावका और क्रमबद्धपर्यायका निर्णय नहीं करता, उसे कभी धर्मध्यान नहीं होता। ध्यान अर्थात् ज्ञानकी एकाग्रता। ज्ञायककी ओर ढले क्रमबद्धपर्यायको न जाने और परमें फेरफार करना माने—ऐसे जीवका ज्ञान परसन्मुखतासे हटकर स्वमें एकाग्र होता ही नहीं, इसलिये उसे धर्मध्यान होता ही नहीं; परमें एकाग्रता द्वारा उसे तो विपरीत ध्यान होता है। ज्ञानी तो ज्ञायकका और क्रमबद्धपर्यायका निर्णय करके ज्ञायकमें ही एकाग्रदृष्टिसे क्रमबद्ध ज्ञातारूपसे ही परिणमित होता है। ज्ञायक-में एकाग्रताका जो क्रमबद्धपरिणमन हुआ उसमें निश्चय प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान-सामायिक-व्रत-तपादि सब आ गया। ज्ञाता तो क्रमबद्ध अपने ज्ञायकभावरूप ही परिणमित होता है—ज्ञायकके अवलम्बनसे ही परिणमित होता है, वहाँ निर्मल पर्यायें होती जाती है, बीच-में जो व्यवहार परिणति होती है उसे ज्ञान जानता है किन्तु उसमें एकाग्र होकर प्रवर्तित नहीं होता; स्वभावमें एकाग्ररूपसे ही वर्तता है और उसमें जैनशासन आ जाता है।

(६१) "अभाव, अतिभाव (—विभाव), और समभाव"

ज्ञायकस्वभावके अवलम्बनसे ही सच्चा समभाव होता है; उसके बदले जो संयोगके आश्रयसे समभाव होना मनाये, उसे वस्तु-स्वरूपकी खबर नहीं है;—जैनशासनकी खबर नहीं। कोई अज्ञानी ऐसा कहते है कि—"गरीबोंके पास धनादिका "अ-भाव" है और धनवानोंके पास उसका "अति-भाव" है; इसलिये जगत-में प्रतिद्वन्दता और क्लेश होता है; यदि अतिभाववाले अतिरिक्तका त्याग करके अभाववालोंको दे दे तो "समभाव" हो जाये और सबको शांति हो; इसलिये हम अणुव्रतका प्रचार करते हैं।"—यह सब अज्ञानीकी संयोगदृष्टिकी बातें है। क्लेश या समभाव क्या संयोगके कारण होता है?—यह बात झूठी है। ज्ञायकस्वभाव-से सभी जीव समान है; इसलिये ज्ञायकस्वभावकी दृष्टिमें ही सच्चा "समभाव है; परका आत्मामे "अभाव" है; और जो "विभाव"

है वह उपाधिभाव होनेसे त्यागने योग्य है। इसके सिवा बाह्यमें "अभाव, अतिभाव और समभाव" की बात तो संयोगदृष्टिकी बात है, वह कही सच्चा मार्ग नहीं है।

इसी प्रकार "वैभव कम हो तो खर्च घटे और खर्च घटे तो पाप कम हो"—यह भी बाह्यदृष्टिकी बात है। निगोदिया जीवों-के पास एक पाईका भी वैभव या खर्च नही है; तथापि वे जीव अनंतपापसे महा दुःखी हो रहे है। कोई सम्यक्त्वी जीव चक्रवर्ती हो, छह खण्डका राज्यवैभव हो और प्रतिदिन करोडो-अरबोंका खर्च होता हो, तथापि उसके पाप अत्यल्प है; और वास्तवमे तो अखण्ड चैतन्यवैभवकी दृष्टिमें उसे पाप नही है, वह ज्ञायकभावरूप ही उत्पन्न होता है; अल्प रागादि है वे तो ज्ञेयमे जाते है, उनमे एकतारूपसे ज्ञानी उत्पन्न नही होते।

(६२) अज्ञानी विरोधकी पुकार करते हैं तो भले करें; उससे उनकी मान्यता मिथ्या होगी, किन्तु वस्तुस्वरूप नहीं बदल सकता!

आत्मा अपनी क्रमबद्धपर्यायरूपसे उत्पन्न होता हुआ अपनी पर्यायके साथ अनन्य है और परके साथ अनन्य नही है—ऐसा अने-कान्त है; जीव अपनी पर्यायमें तन्मय है इसलिये उसका कर्ता है, और परकी पर्यायमे तन्मय नही है इसलिये उसका कर्ता नही है—ऐसा अनेकान्तस्वरूप है। आत्मा अपना करे और परका भी करे—ऐसा अज्ञानी मानता है किन्तु वस्तुस्वरूप ऐसा नही है। वस्तुका अने-कान्तस्वरूप ही ऐसी पुकार कर रहा है कि आत्मा अपना ही करता है, परका तीन कालमे नही करता। अज्ञानी विरोधकी पुकार करते है तो भले करे, किन्तु उससे कही वस्तुस्वरूप नही बदल सकता। "आप्तमीमासा" गाथा ११० की टीकामे कहते है कि—"वस्तु ही अपना स्वरूप अनेकान्तात्मक आप दिखावै है तो हम कहा करै? वादी पुकारै है "विरुद्ध है रे विरुद्ध है." तो पुकारो किछु निरर्थक पुकारनेमे साध्य है नही।"—वस्तु ही स्वय अपना

स्वरूप अनेकान्तात्मक दिखलाती है तो हम क्या करे? वादी–अज्ञानी पुकारते है कि "विरुद्ध है रे... विरुद्ध है"—तो भले पुकारो; उनकी निरर्थक पुकारसे कुछ साध्य नही है। अज्ञानी विरोधकी पुकार करे तो उससे कही वस्तुस्वरूप बदल नही जायेगा। प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य–क्षेत्र–काल–भावरूप स्वचतुष्टयरूप है और परके चतुष्टय-रूप वह नही है;—ऐसा ही उसका अनेकान्तस्वरूप है। परके चतुष्टय-रूपसे आत्मा अभावरूप है, तो परमे वह क्या करेगा? अज्ञानी चिल्ल-पो मचाते है तो भले मचाये; किन्तु वस्तुस्वरूप तो ऐसा ही है। उसी प्रकार इस क्रमबद्धपर्यायके सम्बन्धमे भी अज्ञानी अनेक प्रकार-से विरुद्ध मानते है; वे विरुद्ध मानते है तो भले माने; उससे उनकी मान्यता मिथ्या होगी, किन्तु वस्तुस्वरूप तो जो है वही रहेगा; वह नही बदल सकता। ज्ञायक आत्मा एक साथ तीनकाल–तीनलोकको सम्पूर्णतया जानता है और जगतके समस्त पदार्थ क्रमबद्धपर्यायरूप-से परिणमित होते है—ऐसा जो वस्तुस्वरूप है वह किसीसे नही बदला जा सकता। ज्ञानी ऐसा वस्तुस्वरूप जानकर, ज्ञायकसन्मुख ज्ञानभावरूपसे उत्पन्न होते है, अज्ञानी विपरीत मानकर मिथ्यादृष्टि होता है।

❁ प्रवचन : चौथा ❁

[आश्विन शुक्ला १०, वीर सं २४८०]

(६३) क्रमबद्धपर्यायमें ज्ञायकसन्मुख निर्मल परिणमनकी धारा प्रवाहित हो—उसीकी मुख्य बात है

इस सर्वविशुद्धज्ञान अधिकारमे मुख्य बात यह है कि—अपने ज्ञायकस्वभावसन्मुख होकर जो विशुद्ध परिणाम उत्पन्न हुए उन्हीकी इसमें मुख्यता है; क्रमबद्धपरिणाममे ज्ञानीको निर्मल परिणाम ही होते है। ज्ञानी स्वसन्मुख होकर श्रद्धा–ज्ञान–आनन्दादिके निर्मल

परिणमनकी नियत धारामें परिणमित होता है, उसको क्रमबद्धपर्यायमे शुद्धताका प्रवाह चलता रहता है।

समस्त पदार्थोमे मुख्य तो आत्माका ज्ञानस्वभाव है; क्योकि ज्ञान ही स्व-परको जानता है। ज्ञानस्वभाव न हो तो स्व-परको जानेगा कौन? इसलिये ज्ञानस्वभाव ही मुख्य है। ज्ञानस्वभावके निर्णयमे सात तत्त्वोंका तथा देव-गुरु-शास्त्रका और क्रमबद्धपर्यायका निर्णय समा जाता है। यहां लोकालोकको जाननेके सामर्थ्यरूपसे ज्ञान परिणमित होता है और सामने लोकालोक ज्ञेयरूपसे क्रमबद्ध परिणमित होते है; ऐसा ज्ञेय-ज्ञायकका मेल है, किन्तु किसीके कारण कोई नही है। सब अपने-अपने क्रमबद्धप्रवाहमे स्वयं परिणमित हो रहे है।

(६४) ज्ञायकभावके क्रमबद्धपरिणमनमें सात तत्त्वोंकी प्रतीति

अपने क्रमवद्ध होनेवाले परिणामोके साथ तन्मय होकर प्रत्येक द्रव्य प्रतिसमय परिणमित हो रहा है; द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव चारो प्रतिसमय नई-नई पर्यायरूपसे परिणमित हो रहे है। स्व-स्वभावसन्मुख परिणमित आत्मा अपने ज्ञाताभावके साथ अभेद है और रागसे पृथक् है।—ऐसे आत्माकी प्रतीति जीवतत्त्वकी सच्ची प्रतीति है।

मेरा ज्ञायकआत्मा ज्ञायकभावरूपसे क्रमवद्ध उत्पन्न होता हुआ उसीमे तन्मय है, और अजीवमे तन्मय नही है—रागमे तन्मय नही है;—ऐसी स्वसन्मुख प्रतीतिमे साततत्त्वोकी श्रद्धारूप सम्यग्दर्शन आ जाता है।

(१) ज्ञायकभावके साथ जीवकी अभेदता है—ऐसी श्रद्धा हुई उसमे ज्ञायकस्वभावी जीवकी प्रतीति आ गई।

(२) अपने ज्ञायकभावकी क्रमबद्धपर्यायरूपसे उत्पन्न होनेवाले जीवका अजीवके साथ एकत्व नही है, तथा अपनी क्रमवद्धपर्यायरूपसे उत्पन्न होनेवाले अजीवका जीवके साथ एकत्व नही है;—इस प्रकार अजीवतत्त्वकी श्रद्धा भी आ गई।

(३–४) अब ज्ञायकभावरूपसे परिणमित होनेवाला साधकजीव उस–उस कालके रागादिको भी जानता है;—किन्तु उन रागादिको अपने शुद्ध जीवके साथ तन्मय नही जानता, उन्हें आस्रव–बंधके साथ तन्मय जानता है;—इस प्रकार आस्रव और बंध तत्त्वोकी श्रद्धा भी आ गई।

(५–६) ज्ञायकस्वभावके आश्रयसे अपनेको श्रद्धा-ज्ञान-आनन्द आदिके निर्मल परिणाम होते है, वह संवर–निर्जरा है, उसे भी ज्ञानी जानते है, और इसलिये संवर–निर्जराकी प्रतीति भी आ गई।

(७) सवर–निर्जरारूप अशमे शुद्धपर्यायरूपसे तो स्वय परिणमित होता ही है, और पूर्ण शुद्धतारूप मोक्षदशा कैसी होती है—वह भी प्रतीतिमे आ गया है, इसलिये मोक्षतत्त्वकी श्रद्धा भी आ गई।

—इस प्रकार ज्ञायकभावकी क्रमबद्धपर्यायरूपसे परिणमित जीवको सातो तत्त्वोकी प्रतीति आ गई है। ("क्रमबद्धपर्यायके निर्णयमे सातो तत्त्वोकी श्रद्धा और जैनशासन"—इसके लिये देखिये आत्मधर्म अक ११९–२० प्रवचन चौथा, न० ९३—९५)

(६५) अज्ञानीके सात तत्त्वोंमें भूल

(१–२) अज्ञानीको अपने ज्ञायकभावकी खबर नही है और शरीरादि अजीवकी क्रमबद्धपर्यायोको मै बदल सकता हूँ—ऐसा वह मानता है, यानी अजीवके साथ अपनी एकता मानता है, इसलिये उसकी जीव–अजीवतत्त्वकी श्रद्धामे भूल है।

(३–४) और जो शुभरागादि पुण्यभाव होते हैं वे आस्रवके साथ तन्मय हैं, उसके बदले उन्हे धर्म मानता है, यानी शुद्ध जीवके साथ एकमेक मानता है इसलिये उसकी आस्रव–बंध तत्त्वोकी श्रद्धामें भूल है।

(५-६) आत्माकी शुद्ध वीतरागीदशा संवर-निर्जरा है, उसके बदले पंचमहाव्रतादिके शुभरागको संवर-निर्जरा मानता है, इसलिये संवर-निर्जरा तत्त्वकी श्रद्धामें भूल है।

(७) और मोक्षका कारण भी उसने विपरीत माना इसलिये मोक्षकी श्रद्धामें उसकी भूल है।

—इस प्रकार अज्ञानीकी सातों तत्त्वोंकी श्रद्धामें भूल है।

(६६) भेदज्ञानका अधिकार

जीव-अजीवकी क्रमबद्धपर्यायको पहिचाने तो उसमें भेदज्ञान और सातों तत्त्वोंकी यथार्थ श्रद्धा आ जाती है। इस प्रकार यह भेदज्ञानका अधिकार है।

(६७) "क्रमबद्धपर्याय" की उत्पत्ति अपनी अंतरंग योग्यताके सिवा अन्य किसी बाह्यकारणसे नहीं होती

क्रमबद्धपर्याय कहो या "योग्यता" कहो, तदनुसार ही कार्य होता है। पर्यायकी योग्यता स्वयं ही अन्तरंग कारण है, दूसरा निमित्त तो बाह्य कारण है। अन्तरंग कारणके अनुसार ही प्रत्येक कार्य होता है; बाह्यकारणसे कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती। श्री षट्खण्डागमकी धवल-टीकामें वीरसेनाचार्यदेव ने इस सम्बन्धमें अति अलौकिक स्पष्टीकरण किया है।

मोहनीय कर्मके परमाणु उत्कृष्ट ७० कोड़ाकोड़ी सागरोपम तक रहते हैं, जब कि आयुकर्मके परमाणुओंकी स्थिति उत्कृष्ट ३३ सागरोपमकी होती है:—ऐसी ही उस-उस कर्मप्रकृतिकी स्थिति है। कोई पूछे कि मोहकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति ७० कोड़ाकोडी सागरकी और आयु कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति मात्र ३३ सागरकी ही:—ऐसा क्यों? तो षट्खण्डागममें आचार्यदेव कहते हैं कि प्रकृतिविशेष होनेसे उस प्रकारका स्थितिबन्ध होता है, अर्थात् उन-उन विशेषप्रकृतियोंकी वैसी अन्तरंग योग्यता है, और उनकी योग्यतारूप अन्तरंग-

कारणसे ही वैसा होता है ।—ऐसा कहकर यहाँ आचार्यदेवने महान सिद्धान्त वतलाया है कि—"सर्वत्र अन्तरंग कारणसे ही कार्यकी उत्पत्ति होती है—ऐसा निश्चय करना चाहिये ।"

दूसरा दृष्टान्त ले—दसवे गुणस्थानमें जीवको लोभका सूक्ष्म अंश और योगका कम्पन है, वहां उसे मोह और आयुको छोडकर शेष छह कर्मोका वन्ध होता है; उनमे ज्ञानावरणादिकी अन्तर्मुहूर्तकी स्थिति पडती है और सातावेदनीयकी स्थित १२ मूहूर्त की; तथा गोत्र और नामकर्मकी स्थिति आठ मुहूर्तकी वँधती है । छहो कर्मोका बन्ध एक साथ होने पर भी स्थितिमे इस प्रकार अन्तर होता है । स्थितिमे क्यो ऐसा अन्तर होता है ?—ऐसा प्रश्न उठने पर आचार्यदेव उत्तर देते है कि 'प्रकृतिविशेष होनेसे"—अर्थात् उस-उस मुख्य प्रकृतिका अन्तरग कारण ही वैसा है; और उस अन्तरंग कारणसे ही कार्यकी उत्पत्ति होती है ।

ऊपर भिन्न-भिन्न कर्मकी भिन्न-भिन्न स्थितिके सम्वन्धमे कहा, उसी प्रकार 'वेदनीय कर्ममे परमाणुओकी सख्या अधिक, और दूसरे कर्ममे थोड़ी—ऐसा क्यो ?"—ऐसा प्रश्न कोई करे तो उसका भी यही समाधान है कि उन-उन प्रकृतियोका वैसा स्वभाव है । पर्यायका स्वभाव कहो, योग्यता कहो, या अन्तरग कारण कहो—उसीसे कार्यकी उत्पत्ति होती है । इसके अतिरिक्त वाह्य कारणोसे कार्यकी उत्पत्ति नही होती । यदि कभी बाह्य कारणोसे कार्यकी उत्पत्ति होती तो चावलके बीजमेसे गेहूँकी उत्पत्ति होना चाहिए, किन्तु ऐसा कभी नही होता ।

निमित्त तो वाह्य कारण है। उस बाह्य कारणके कोई द्रव्य-क्षेत्र-काल या भाव ऐसे सामर्थ्यवान नही है कि जिनके बलसे नीमके वृक्षसे आमोकी पैदावार हो, या चावलके पौधेसे गेहूँकी उत्पत्ति हो अथवा जीवमेसे अजीव हो जाये । यदि वाह्य कारणानुसार कार्यको उत्पत्ति होती हो, तव तो अजीवके निमित्तसे जीव

भी अजीवरूप हो जायगा।—किन्तु ऐसा कभी नहीं होता; क्योंकि बाह्यकारणसे कार्यकी उत्पत्ति नही होती; अन्तरंग कारणसे ही कार्यकी उत्पत्ति होती है। (देखो, षट्खण्डागम पुस्तक ३–पृष्ठ १३४)

(६८) निमित्त और नैमित्तिककी स्वतंत्रता

द्रव्यमें किस समय परिणमन नही है?—और जगतमे किस समय निमित्त नहो है?—जगतके प्रत्येक द्रव्यसे प्रतिसमय परिणमन हो ही रहा है और निमित्त भी सदैव होता ही है;–तव फिर इस निमित्तके कारण यह हुआ–यह वात कहा रहती है? और निमित्त न हो ती नही हो सकता– यह प्रश्न भी कहाँ रहता है? यहाँ कार्य होनेमें और सामने निमित्त होनेमे कही समयभेद नही है। निमित्तका अस्तित्व कही नैमित्तिककार्यकी पराधीनता नही बतलाता; किन्तु निमित्त किसका? कहते है नैमित्तिककार्य हुआ उसका,—इस प्रकार वह नैमित्तिकको प्रगट करता है।—ऐसी निमित्त–नैमित्तिककी स्वतन्त्रता भी जो न जाने उसे स्व–परका भेदज्ञान नही है और अंतरमें ज्ञायकस्वभावकी दृष्टि तो उसे होती ही नही। यहाँ तो ज्ञायकस्वभावकी दृष्टि होनेसे निमित्तके साथका सम्वन्ध टूट जाता है—ऐसी सूक्ष्म बात है। ज्ञानीकी दृष्टिमे कर्मके साथका निमित्त–नैमित्तिकसम्वन्ध छूट गया है।

(६९) ज्ञायकदृष्टिमें ज्ञानीका अकर्तृत्व

ज्ञायकभावरूपसे उत्पन्न होनेवाले जीवको परके साथ कार्य-कारणपना नही है, अर्थात् वह नवीन कर्मवन्धनमे निमित्त नहीं होता और पुराने कर्मोको निमित्त नही वनाता। कोई पूछे कि राग-का तो कर्ता है न? तो कहते है कि नही; राग पर दृष्टि न होनेसे ज्ञानी रागके कर्ता नही है, ज्ञायकदृष्टिमे ज्ञायकभावरूप भी उत्पन्न हो—और रागरूप भी उत्पन्न हो ऐसा नही होता। ज्ञायक तो ज्ञायक-रूपसे ही उत्पन्न होता है—रागरूप से उत्पन्न नही होता, रागके ज्ञातारूपसे उत्पन्न होता है।

(७०) जीवके निमित्त बिना पुद्गलका परिणमन

प्रश्नः—पुद्गल तो अजीव है, कही जीवके निमित बिना उसकी अवस्था हो सकती है ?

उत्तर —भाई ! जगतमें अनन्तानन्त ऐसे सूक्ष्म परमाणु—पृथक् तथा स्कन्धरूप—है कि जिनको परिणमनमे कालद्रव्य ही निमित्त है; जीवका निमित्तपना नही है। जीवके साथ निमित्त–नैमित्तिकसम्बन्ध तो अमुक पुद्गलस्कन्धोंको ही है; किन्तु उसके अनंत-गुने परमाणु तो जीवके साथ निमित्त–नैमित्तिकसम्बन्ध बिना ही परिणमित हो रहे है । एक पृथक् परमाणु एक अंशमें से दो अंश रूखेपन या चिकनेपनरूप परिणमित हो, वहां कौन-सा जीव निमित्त है !—उसे मात्र कालद्रव्य ही निमित्त है । अज्ञानीको संयोगमेंसे ही देखनेकी दृष्टि है इसलिये वह वस्तुके स्वाधीन परिणमनको नही देखता । (निमित्त न हो तो ?....क्या निमित्तके बिना कार्य हो सकता है ?—इत्यादि प्रश्नोंके स्पष्टीकरणके लिये अङ्क नं० ११९–१२० में पहलीवारके प्रवचनोंमे न० १००–१०१, ११४ और १५० देखिये ।)

(७१) ज्ञायकस्वरूपसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञानी कर्मका निमित्तकर्ता भी नहीं है

यहाँ तो "सर्वविशुद्धज्ञान" की यानी जीवके स्वभावकी बात चल रही है । जीवका ज्ञानस्वभाव है वह परका अकर्ता है ।—निमित्तरूपसे भी वह परका अकर्ता है । परमें यहा मुख्यरूपसे मिथ्यात्वादि कर्मोकी बात है । ज्ञानस्वभावरूपसे उत्पन्न होनेवाले जीवको मिथ्यात्वादि कर्मोका निमित्तकर्तापना भी नही है । जीवको अजीवके साथ उत्पाद्य–उत्पादकभावका अभाव है; इसलिये जीव अपने ज्ञायकस्वभावरूपसे उत्पन्न होता हुआ, निमित्त होकर जड़ कर्मको उत्पन्न करे—ऐसा कभी नही होता ।

सर्व द्रव्योको दूसरे द्रव्योके साथ उत्पाद्य-उत्पादकभावका अभाव है । प्रत्येक द्रव्य अपने क्रमबद्धपरिणामका उत्पादक है किन्तु

दूसरेके परिणामका उत्पादक नही है। जैसे कि—कुम्हार अपने हाथकी हलन-चलनरूप अवस्थाका उत्पादक है, किन्तु मिट्टीमेसे जो घड़ारूप अवस्था हुई उसका वह उत्पादक नही है, उसका उत्पादक तो मिट्टी ही है;—मिट्टी स्वयं ही उस अवस्थामे तन्मय होकर घडारूपसे उत्पन्न हुई है—कुम्हार नही। उसी प्रकार जीव अपने क्रमबद्ध ज्ञानादि परिणामोका उत्पादक है, किन्तु अजीवका उत्पादक नही है। ज्ञानस्वभावमे तन्मय होकर ज्ञानभावरूपसे उत्पन्न होनेवाला जीव अपने ज्ञानपरिणामका उत्पादक है, किन्तु रागादिका उत्पादक नही है, क्योंकि वह रागादिके साथ तन्मय होकर उत्पन्न नही होता; और रागादिका उत्पादक न होनेसे कर्मबंधनमे वह निमित्त भी नही है, इस प्रकार वह जीव अकर्ता ही है। यह सारा विषय अन्तर्दृष्टिका है। अंतरकी ज्ञायकदृष्टिके बिना ऐसा अकर्तापना या क्रमबद्धपना समझमें नही आ सकता।

(७२) ज्ञानीको कैसा व्यवहार होता है, और कैसा नहीं होता?

देखो, तत्त्वार्थसूत्र (अध्याय ५, सूत्र २१) मे जीवके परस्पर उपकारकी बात की है। वहाँ उपकारका अर्थ "निमित्त" है। एक जीवने दूसरेका उपकार किया—ऐसा निमित्तसे कहा जाता है। किन्ही ज्ञानीगुरुके निमित्तसे अपूर्व आत्मज्ञानकी प्राप्ति हो, वहाँ ऐसा कहा जाता है कि—"अहो! इन गुरुदेवका मुझपर अनत उपकार हुआ...." यद्यपि गुरु कही शिष्यके ज्ञानके उत्पादक नही है, तथापि वहाँ तो विनयके लिये निमित्तसे गुरुका उपकार कहा जाता है, लेकिन उसी प्रकार यहाँ ज्ञानीको तो मिथ्यात्वादि कर्मोके साथ ऐसा निमित्त-नैमित्तिकभाव भी लागू नही होता। ज्ञानी निमित्त होकर मिथ्यात्वादि कर्मोकी उत्पत्ति करे—ऐसा नही होता। "अहो! गुरु ही मेरे ज्ञानके उत्पादक है, गुरुने ही मुझे ज्ञान दिया, गुरुने ही आत्मा दिया"—ऐसा गुरुके उपकारके निमित्तसे कहा जाता है—ऐसा व्यवहार तो ज्ञानीके होता है, किन्तु निमित्त होकर मिथ्यात्वादि कर्मके उत्पादक हो—ऐसा व्यवहार ज्ञानीको लागू नही

होता। ज्ञायकस्वभावकी दृष्टिसे निश्चय अकर्तृत्वको जान ले, तब भूमिकानुसार कैसा व्यवहार होता है उसकी खबर पड़े। ज्ञायकस्वभावकी दृष्टिके बिना जो अकेले व्यवहारको जानने जाये, वह अंधा है; स्व-परप्रकाशकज्ञान जागृत हुए बिना व्यवहारको जानेगा कौन? अज्ञानी तो व्यवहारको जानते हुए उसीको आत्माका परमार्थ स्वरूप मान लेता है, इसलिये उसे निश्चय या व्यवहारका सच्चा ज्ञान नहीं होता। ज्ञाता जागृत हुआ वही व्यवहारको यथावत् जानता है।

(७३) "मूलभूत ज्ञानकला" कैसे उत्पन्न होती है?

मूलभूत भेदज्ञान क्या वस्तु है, उसे लोग भूल गये है। पं० बनारसीदासजी कहते है कि.—

चेतनरूप अनूप अमूरति, सिद्धसमान सदा पद मेरो।
मोह महातम आतम अग, कियो परसंग महातम घेरो॥
ज्ञानकला उपजी अब मोहि, कहूँ गुन नाटक आगम केरो।
जासु प्रसाद सधे सिवमारग, वेगि मिटे भववास बसेरो॥११॥

—इसमे कहते है कि मेरे ज्ञानकला उत्पन्न हुई; किस प्रकार उत्पन्न हुई? क्या किसी बाह्यसाधनसे या व्यवहारके अवलम्बनसे ज्ञानकला उत्पन्न हुई? नही; अन्तरमें मेरा स्वरूप सिद्धसमान चैतन्यमूर्ति है—उसीके अवलम्बनसे भेदज्ञानरूपी अपूर्व ज्ञानकला उत्पन्न हुई; जैसे सिद्धभगवान ज्ञायकबिम्ब है, उसी प्रकार मेरा स्वभाव भी ज्ञायक ही है;—इसप्रकार ज्ञायकस्वभावकी दृष्टि और अनुभवसे ज्ञानकला उत्पन्न हुई। इसके सिवा अन्य रीति माने तो वह सिद्धभगवान या पंचपरमेष्ठीपदको नही मानना है।

(७४) "व्यवहारका लोप!!"- लेकिन किस व्यवहारका? और किसे?

अरे! इसमे तो व्यवहारका लोप हो जायेगा!!—ऐसा कोई पूछे तो उसका उत्तर.— 'भाई! कौनसे व्यवहारका लोप होगा? प्रथम तो बाह्यमे शरीरादि जड़की क्रिया तो आत्माकी कभी

है ही नही, इसलिये उसके लोप होने—न होनेका प्रश्न ही नहीं रहता। अज्ञानीको विपरीतदृष्टिमे कर्मके साथ निमित्त-नैमित्तिकपनेका व्यवहार रहता है; इस ज्ञायकदृष्टिमे मिथ्यात्वादि कर्मके कर्तृत्वरूप उस व्यवहारका लोप हो जाता है। अज्ञानीको व्यवहारका अभाव नही करना है, किन्तु अभी व्यवहार रखना है, इसलिये कर्मके साथ निमित्त-नैमित्तिकसंबंधका व्यवहारसबध रखकर उसे ससारमे भटकना है—ऐसा उसका अर्थ हुआ। ज्ञायकस्वभावकी दृष्टिसे कर्मके साथका निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध तोड डाला वहाँ दृष्टि-अपेक्षासे तो सम्यक्त्वी मुक्त ही है। इस प्रकार दृष्टिमे व्यवहारका निषेध करनेके पश्चात् साधकपनेमे जिस-जिस भूमिकामे जैसा-जैसा व्यवहार होता है उसे वह सम्यक्ज्ञान द्वारा जानता है। और पश्चात् भी, ज्ञायकस्वभावमें एकाग्रता द्वारा शुभराग व्यवहारका अभाव होगा तो वीतरागता होगी। किन्तु व्यवहारके अवलम्बनकी ही जिसे रुचि और उल्लास है उसे तो ज्ञायकस्वभावोन्मुख होकर सम्यग्दर्शन करनेका भी अवकाश नही है। अन्तरमे ज्ञायकस्वभावके अवलम्बन बिना अपनी क्रमबद्धपर्यायमे सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्याये नही होती। ज्ञानी तो अपने ज्ञायकस्वभावके अवलम्बनसे ही सम्यग्दर्शनादि निर्मल क्रमबद्धपर्यायरूप परिणमित होता है, उसका नाम धर्म और मुक्तिका मार्ग है।

❀ प्रवचन : पाँचवाँ ❀

[आश्विन शुक्ला ११, वीर सं० २४८०]

(७५) क्रमबद्धपर्याय कबकी है—और वह कब निर्मल होती है?

आत्मा ज्ञायकस्वभाव है, वह परका अकर्ता है, यह बतलानेके लिये क्रमबद्धपर्यायकी बात चल रही है।

प्रश्न:—यह क्रमबद्धपर्याय कबसे चल रही है?

उत्तर:—अनादिसे चल रही है। जिस प्रकार द्रव्य अनादि है, उसी प्रकार उसकी पर्यायका क्रम भी अनादिसे चल ही रहा है। जितने तीनकालके समय है उतनी ही प्रत्येक द्रव्यकी पर्याये हैं।

प्रश्न:—अनादिकालसे क्रमवद्धपर्याय हो रही है, तथापि अभी निर्मल पर्याय क्यो नही हुई?

उत्तर:—समस्त जीवोको अनादिसे क्रमवद्धपर्याय हो रही है, तथापि ज्ञायककी ओरके सच्चे पुरुपार्थ विना निर्मल पर्याय हो जाये—ऐसा कभी नही होता। विपरीत पुरुपार्थ हो वहाँ क्रमवद्धपर्याय भी विकारी ही होती है। अज्ञानीको ज्ञायकस्वभावके भान विना क्रमबद्धपर्यायकी सच्ची प्रतीति नही है, और ज्ञायकस्वभावके पुरुषार्थ विना निर्मल पर्याय नही होती। ज्ञानीको अपने ज्ञायकस्वभावकी प्रतीति होनेसे क्रमवद्धपर्यायकी भी सच्ची प्रतीति है, और ज्ञायक-स्वभावसन्मुखके पुरुषार्थ द्वारा उसे निर्मल क्रमवद्धपर्याय होती है। इस प्रकार ज्ञायकस्वभावसन्मुखका पुरुपार्थ करनेका यह उपदेश है—ऐसा समझे वही क्रमवद्धपर्यायको समझा है।

(७६) क्रमवद्धपर्यायके निर्णयका मूल

"क्रमबद्धपर्याय रूपसे उत्पन्न होता है...."

—कौन उत्पन्न होता है?

"द्रव्य उत्पन्न होता है...."

—कैसा द्रव्य ?

"ज्ञायकस्वभावी द्रव्य।"

जिसे ऐसे द्रव्यस्वभावकी सन्मुखता हो उसीको क्रमबद्धपर्याय यथार्थ समझमे आती है। इस प्रकार ज्ञायकस्वभावकी सन्मुखता ही क्रमबद्धपर्यायके निर्णयका मूल है।

(७७) इस समय पर्यायका परमें "अकर्तृत्व" सिद्ध करनेकी मुख्यता है, परंतु निरपेक्षता सिद्ध करनेकी मुख्यता नहीं है

यहाँ, पर्यायका परमे अकर्तृत्व बतलाना है, इसलिये "द्रव्य

उत्पन्न होता है"—यह बात की है। द्रव्य अपनी क्रमबद्धपर्यायरूपसे उत्पन्न होता है, और उत्पन्न होता हुआ उस पर्यायमे वह तन्मय है,—इस प्रकार द्रव्य-पर्याय दोनोंकी अभेदता बतलाकर परका अकर्तृत्व सिद्ध किया है।

जब सामान्यधर्म और विशेषधर्म—ऐसे दोनो धर्म ही सिद्ध करना हों तब तो ऐसा कहा जाता है कि पर्याय तो पर्यायधर्मसे ही है—द्रव्यके कारण नही है। क्योकि यदि सामान्य और विशेष (द्रव्य और पर्याय) दोनो धर्मोको निरपेक्ष न मानकर सामान्यके कारण विशेष माने तो विशेषधर्मकी हानि होती है, इसलिये पर्याय भी अपनेसे सत् है।—पर्यायधर्मको निरपेक्ष सिद्ध करना हो तब इस प्रकार कहा जाता है।

* श्री समन्तभद्रस्वामी "आप्तमीमासा" मे कहते है कि—

(श्लोक · ७३)—जो धर्म धर्मी आदिके एकान्त करि आपेक्षिक सिद्धि मानिए, तो धर्म धर्मी दोऊ ही न ठहरे। बहुरि अपेक्षा विना एकान्त करि सिद्धि मानिए तो सामान्य विशेषपणा न ठहरे।

(श्लोक · ७५) धर्म अर धर्मीके अविनाभाव है सो तो परस्पर अपेक्षा करि सिद्ध है; धर्म विना धर्मी नाही। बहुरि धर्म धर्मीका स्वरूप है सो परस्पर अपेक्षा करि सिद्ध नाही है, स्वरूप है सो स्वतः सिद्ध है।

* प्रवचनसारकी १७२ वी गाथामे "अलिगग्रहण" के अर्थमें कहा है कि—"××× इस प्रकार आत्मा द्रव्यसे न आलिगत ऐसा शुद्ध पर्याय है।"

* फिर १०१ वी गाथामे कहते है कि—अशी ऐसे द्रव्यके नष्ट होता हुआ भाव, उत्पन्न होता हुआ भाव और अवस्थित रहता हुआ भाव, इन स्वरूप तीन अश—भग—उत्पाद-ध्रौव्य-स्वरूप-निज-धर्मो द्वारा आलम्बित एक साथ ही भासित होते है।" व्यय नष्ट होते

हुए भावके आश्रित है; उत्पाद उत्पन्न होते हुए भावके आश्रित है और ध्रौव्य अवस्थित रहते हुए भावके आश्रित है।

* फिर श्री अमितगति आचार्यकृत योगसारमें कहते है कि:—

ज्ञानदृष्टि चारित्राणि ह्रियते नाक्षगोचरैः ।
क्रियन्ते न च गुर्वाद्यै सेव्यमानैरनारत ॥१८॥
उत्पद्यते विनश्यन्ति जीवस्य परिणामिनः ।
तत स्वय स दाता न परतो न कदाचन ॥१९॥

—इसमे कहते है कि आत्मामे ज्ञानादिककी हीनता या अधिकता अपनी पर्यायके कारण ही होती है। ज्ञान–दर्शन–चारित्र-का न तो इन्द्रियोके विपयसे हरण होता है, और न तो गुरुओकी निरन्तर सेवासे उनकी उत्पत्ति होती है; परन्तु जीव स्वयं परिणमन-शील होनेसे प्रतिसमय उसके गुणोकी पर्याय वदलती है;–मतिज्ञानादिक पर्यायोकी उत्पत्ति और विनाग होता रहता है; इसलिये मतिज्ञानादि-का उत्पाद या विनाश, परसे भी नही है और द्रव्य स्वयं भी उसका दाता नही है। प्रतिसमय पर्यायकी योग्यतासे पर्याय होती है; सामान्य द्रव्यको उसका दाता कहना वह सापेक्ष है; पर्यायको निरपेक्षरूप-से देखे तो वह पर्याय स्वय वेसी परिणमित हुई है। उस समयका पर्यायधर्म ही वैसा है। सामान्यद्रव्यको उसका दाता कहना वह सापेक्ष है; किन्तु द्रव्य–पर्यायकी निरपेक्षताके कथनमे यह बात नही आती। निरपेक्षताके विना एकान्त सापेक्षता ही माने तो सामान्य–विशेष दो धर्म ही सिद्ध नही हो सकते।

* प्रवचनसारकी १६ वी गाथामे आचार्यदेव कहते है कि—शुद्धोपयोगसे होनेवाली शुद्धस्वभावकी प्राप्ति अन्य कारकोसे निरपेक्ष होनेसे अत्यन्त आत्माधीन है। शुद्धोपयोगसे केवलज्ञानकी प्राप्ति हो उसमे आत्मा स्वयमेव छह कारकरूप होता है इसलिये "स्वयभू" कहा जाता है। द्रव्य स्वयं ही अपनी अनन्त शक्तिरूप सम्पदा-

से परिपूर्ण है इसलिये स्वयं ही छह कारकरूप होकर अपना कार्य उत्पन्न करनेमे समर्थ है; उसे बाह्यसामग्री कुछ भी सहायता नही दे सकती। अहो! प्रत्येक पर्यायके छहो कारक स्वतत्र है।

* षट्खण्डागम–सिद्धान्तमे भी कहा है कि—"सर्वत्र अन्तरंगकारणसे ही कार्यकी उत्पत्ति होती है—ऐसा निश्चय करना चाहिये।" वहाँ अन्तरगकारण कहनेसे पर्यायकी योग्यता बतलाना है। भिन्न-भिन्न कर्मोके स्थितिबधमे हीनाधिकता क्यो है?—ऐसे प्रश्नके उत्तरमे सिद्धातकार कहते है कि—प्रकृतिविशेष होनेसे, अर्थात् उस–उस प्रकृतिका वैसा ही विशेषस्वभाव होनेसे, इस प्रकार हीनाधिक स्थितिबंध होता है; उसकी योग्यतारूप अन्तरगकारणसे ही कार्यकी उत्पत्ति होती है; बाह्यकारणोंसे कार्यकी उत्पत्ति नही होती।

—(विशेषके लिये देखिये—इसका ही चौथा प्रवचन, नं ६७)

* (यहाँ समयसार गाथा ३०८ से ३११ में) कहते है कि—अन्य द्रव्यसे निरपेक्षरूपसे, स्वद्रव्यमें ही कर्ता-कर्मकी सिद्धि है; और इसलिये जीव परका अकर्ता है।

इस समय इस चालू अधिकारमें पर्यायकी निरपेक्षता सिद्ध करनेकी मुख्यता नही है, किन्तु प्रत्येक द्रव्यको अपनी क्रमबद्धपर्यायके साथ तन्मयता होनेसे परके साथ उसे कर्ताकर्मपना नही है—इस प्रकार अकर्तृत्व सिद्ध करके, "ज्ञायक आत्मा कर्मका अकर्ता है"—ऐसा बतलाना है। क्रमबद्धपर्यायरूपसे उत्पन्न होनेवाले द्रव्यको अपनी पर्यायके साथ अभेदता है। ज्ञायकआत्मा स्वसन्मुख होकर निर्मल पर्यायरूपसे उत्पन्न हुआ उसमे वह तन्मय है, किन्तु रागादिमें तन्मय नही है, इसलिये वह रागादिका कर्ता नही है और कर्मोका निमित्तकर्ता भी नही है। इस प्रकार आत्मा अकर्ता है।

(७८) साधकको चारित्रकी एक पर्यायमें अनेक बोल; उसमें वर्तता हुआ भेदज्ञान; और उसके दृष्टान्तसे निश्चय-व्यवहारका आवश्यक स्पष्टीकरण

साधकदशामे ज्ञानीको श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रादि अनन्त गुणोंकी पर्याये स्वभावके अवलम्बनसे निर्मल होती है। यद्यपि अभी चारित्रगुणकी पर्यायसे अमुक रागादि भी होते है, परन्तु ज्ञानीको उनमे एकता नही है इसलिये वास्तवमे उनके रागादिका कर्तृत्व नही है। चारित्रकी पर्यायमे जो रागादि है उन्हें वे आस्रव-बधका कारण समझते है और स्वभावके अवलम्बनसे जो शुद्धता हुई है उसे सवर-निर्जरा मानते है;—इस प्रकार आस्रव और संवरको भिन्न-भिन्न जानते है।

देखो, ज्ञानीको चारित्रगुणकी एक पर्यायमें संवर-निर्जरा, आस्रव और बंध—यह चारो प्रकार एकसाथ वर्तते है, उनमें समय-भेद नही है; एक ही पर्यायमें एकसाथ चारों प्रकार वर्तते है, तथापि उनमें जो आस्रव है वह संवर नही है, और संवर है वह आस्रव नही है। और उनके कर्ता-कर्म आदि छहो कारक स्वतन्त्र है। जो संवरका कर्तृत्व है वह आस्रवका नही है, और जो आस्रवका कर्तृत्व है वह संवरका नही है।

आस्रव, बंध, संवर और निर्जरा—ऐसे चारों प्रकार एकसाथ तो चारित्रगुणकी पर्यायमे ही होते है, और वह साधकके ही होती है।

अहो, एक पर्यायमे आस्रव और संवर दोनों एकसाथ वर्ते, तथापि दोनोके छह कारक भिन्न! अभी जो बाह्यकारणोसे आस्रव या संवर मानता हो, वह अन्तरग सूक्ष्म भेदज्ञानकी यह बात कहाँसे समझेगा? आस्रवके कारण आस्रव, और संवरके कारण सवर,—दोनो एकसाथ है तथापि दोनोंके कारण भिन्न है। यदि आस्रवके कारण संवर माने तो वह मिथ्यादृष्टि है।

—इसी प्रकार, व्यवहार और निश्चय दोनों एकसाथ (साधकको) होते हैं; किन्तु वहाँ व्यवहारके कारण निश्चय माने, अथवा ऐसा माने कि व्यवहारसाधन करते करते उससे निश्चय प्रगट हो जायेगा, तो वह भी मिथ्यादृष्टि है, उसे आस्रव और संवर तत्त्वकी खबर नहीं है। व्यवहार रत्नत्रयका जो शुभराग है वह आस्रव है, और निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो मोक्षमार्ग है वह संवर-निर्जरा है, आस्रव और संवर दोनों भिन्न-भिन्न तत्त्व है, दोनोंके कारण भिन्न है। उसके बदले जिसने व्यवहारके कारण निश्चय होना माना, उसने आस्रवसे संवर माना है; आस्रव और संवर तत्त्वको भिन्न न मानकर एक न माना, इसलिये उसके तत्त्वश्रद्धानमें ही भूल है—वह मिथ्यादृष्टि है।

(७९) क्रमबद्धपर्यायकी गहरी बात !

यहाँ तो ज्ञायकदृष्टिकी सूक्ष्म बात है। ज्ञायकस्वभावकी दृष्टिमें ज्ञानी निर्मल पर्यायका ही कर्तारूपसे परिणमित होता है। अन्य कारकोंसे निरपेक्ष होकर, अपने-अपने 'स्वभावके ही छहों कारकोंसे श्रद्धा-ज्ञान-आनन्दादि अनन्तगुण ज्ञायकके अवलम्बनसे निर्मल क्रमबद्धपर्यायरूपसे ज्ञानीके परिणमित हो रहे है, इसका नाम अभूतपूर्व धर्म है और यही मुक्तिका मार्ग है। ज्ञायकस्वभावके ही अवलम्बन बिना, रागके या व्यवहारके अवलम्बनसे मोक्षमार्ग माने तो वह जीव आत्माके ज्ञायकस्वभावको, केवलीभगवानको या सात तत्त्वोंको नहीं जानता है। निर्मल पर्यायकी क्या स्थिति है अर्थात् किस प्रकार क्रमबद्धपर्याय निर्मल होती है उसे भी वह नहीं जानता, इसलिये वास्तवमें वह क्रमबद्धपर्याय नहीं जानता। भाई, यह तो बड़ी गहरी बात है।

(८०) "मोती ढूँढ़नेवाला" (गोताखोर) गहरे पानीमें उतरता है; उसी प्रकार जो गहराई तक उतरकर यह बात समझेगा वह निहाल हो जायेगा !

प्रश्न.—गहरे पानीमें उतरनेमें डूब जानेका डर है ?

उत्तरः—इस पानीमे उतरे तो विकारका मैल धुल जाये; इस गहरे पानीमें उतरे विना वस्तु हाथमें नही आ सकती। समुद्रमें-से मोती ढूंढनेके लिये भी गहरे पानीमें उतरना पडता है; किनारे पर खडे-खडे हाथ लम्वाये तो मोती हाथमें नही आ सकते। उसी प्रकार अन्तरके ज्ञायकस्वभावकी ओर क्रमवद्धपर्यायकी यह वात अन्तरमे गहराई तक उतरे बिना समझमें नही आ सकती। यह तो अलौकिक वात प्रगट हो गई है; जो समझेगा वह निहाल हो जायेगा।

"सहेजे समुद्र उल्लसियो त्यां मोती तणाया जाय,
भाग्यवान कर वापरे तेनी मूठी मोतीए भराय।"

यहा "भाग्यवान" अर्थात् अन्तरका पुरुषार्थवान! अन्तर्-स्वभावकी दृष्टिका प्रयत्न करे उसकी मुट्ठी मोतियोसे भर जाती है अर्थात् निर्मल-निर्मल क्रमबद्धपर्याय होती जाती है; किन्तु जो ऐसा प्रयत्न नही करता उसके लिये कहते है कि:—

"भाग्यहीन कर वापरे तेनी शंखले मूठी भराय"

समझनेका प्रयत्न करके अन्तरमें न उतरे और यों ही अकेले शुभभावमे रुका रहे तो उसकी "शखले मूठी भराय" यानी पुण्यबन्ध हो किन्तु स्वभावकी प्राप्ति नही हो सकती—धर्मका लाभ नही हो सकता।

(८१) केवलज्ञानकी खडी

यह तो केवलज्ञानकी खडी है। आजसे पचास-साठ वर्ष पहले जव पाठशालामे पढने जाते थे तब सवसे पहले "सिद्धो वर्ण समाम्नाय"—ऐसा रटाते थे; यानी "वर्णोच्चारका समुदाय स्वयसिद्ध —अनादिसे चला आरहा है; वही हम सिखलायेगे"—ऐसा इसका अर्थ है। उसी प्रकार यहाँ भी जो वात कही जा रही है वह अनादि केवलज्ञानसे सिद्ध हो गई है। और जो खडी सिखाते थे उस-में ऐसा भी आता था कि—"कक्का केवलीका"; उसी प्रकार यहाँ

भी यह केवलज्ञानकी खड़ी सिखाई जा रही है। इसे समझे बिना धर्मका प्रारम्भ नही होता। "खड़ी" मे ही केवलज्ञानकी बात करते हुए "ब्रह्मविलास" में कहा है कि.—

"कक्का" कहे करन वश कीजे, कनक कामनी दृष्टि न दीजे।
करिके ध्यान निरजन गहिये, "केवलपद" इहि विधिसो लहिये ॥

(८२) क्रमबद्धपर्याय ही वस्तुस्वरूप है

देखो, यह क्रमबद्धपर्याय वस्तुका स्वरूप है; ज्ञायकका स्वभाव सब व्यवस्थित जाननेका है और ज्ञेयोका स्वभाव व्यवस्थित क्रमबद्ध नियमित पर्यायिसे परिणमित होनेका है। इसप्रकार इसमे यथार्थ वस्तुस्थितिका निर्णय आ जाता है, इससे विपरीत माने तो वह वस्तुस्वरूपको नही जानता।

कोई ऐसा कहे कि—'निश्चयसे तो पर्याये क्रमबद्ध है, किन्तु व्यवहारसे अक्रम है"—तो वह बात मिथ्या है।

और कोई ऐसा कहे कि—"केवली भगवानके लिये सब क्रमबद्ध है क्योकि उन्हे तो तीनकालका पूर्ण ज्ञान है, किन्तु छद्मस्थके लिये अक्रमबद्ध है क्योकि उसे तीनकालका पूर्ण ज्ञान नही है"—तो यह बात भी मिथ्या है। इसकी मान्यता केवलीसे विपरीत हुई। कही केवलीके लिये अलग वस्तुस्वरूप हो और छद्मस्थके लिये अलग—ऐसा नही है।

(८३) क्रमबद्धपर्यायमें निश्चय–व्यवहारकी संधि, निमित्त–नैमित्तिककी संधि;—आदि सम्बन्धी आवश्यक स्पष्टीकरण और तत्सम्बन्धी स्वच्छन्दियोंकी विपरीत कल्पनाओंका निराकरण

और क्रमबद्धपर्यायमे ऐसा भी नही है कि वस्त्रादि सहित दशामे भी मुनित्वका या केवलज्ञानका क्रम आ जाये! आत्मामे मुनिदशाका क्रम हो वहाँ शरीरमे दिगम्बरदशा ही होती है। वस्त्रो-

का छोड़ना कही जीवका कार्य नही, किन्तु उस समय ऐसी ही दशा होती है। मुनिदशाका स्वरूप इससे विपरीत माने तो उसे निश्चय-व्यवहारकी कोई खबर नही है, तथा क्रमबद्धपर्यायके नियमकी या देव-गुरुके स्वरूपकी खबर नही है।

और जहाँ मुनिपना होता है वहाँ, खड़े-खड़े हाथमें ही आहार लेनेकी क्रिया होती है; पात्रादिमे आहारकी क्रिया वहाँ नही होती, तथापि वहाँ अजीवकी (हाथकी या आहारकी) वैसी पर्याय जीवने उत्पन्न की है--ऐसा नही है; इसी प्रकार सदोष आहारके त्यागादिमे भी समझ लेना चाहिये। उस-उस दशामे ऐसा ही सहज निमित्त-नैमित्तिक मेल होता है, उसका मेल नही टूटता; और जीव ज्ञायक मिटकर अजीवका कर्ता भी नही होता। ज्ञायकस्वभावका निर्णय करे तो अजीवके कर्तृत्वका सब भ्रम छूट जाये और मिथ्यात्वादि कर्मोका निमित्तकर्तापना भी न रहे।

ऊपर जैसा मुनिदशाके सम्बन्धमे कहा है वैसा ही समस्त पर्यायोमे यथायोग्य समझना चाहिये। जैसे कि—समयक्त्वीके मांसादिका आहार होता ही नही। यहाँ जीवको सम्यग्दर्शनपर्यायका क्रम हो और सामने मासादिका आहार भी हो—ऐसा कभी नही होता। तिर्यंच—सिंह आदिको जब सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है, तब उनको भी मासादिका आहार छूट ही जाता है,—ऐसा ही उस भूमिकाका स्वरूप है। तथापि परकी क्रियाका उत्पादक आत्मा नही है, ज्ञायक तो परका अकर्ता ही है।

"हम तो सम्यक्त्वी है, अथवा हम तो मुनि है; फिर बाह्यमें भले ही चाहे जैसे आहारादिका योग हो"—ऐसा कहे तो वह मिथ्यादृष्टि स्वच्छन्दी ही है। किस भूमिकामें कैसा व्यवहार होता है, कैसा निमित्त होता है, तथा कैसे निमित्त और कैसा राग छूट जाता है उसकी उसे खबर नही है।—ऐसे स्वच्छन्दी जीवको क्रमबद्धपर्यायकी प्रतीति या सम्यग्दर्शनादि नही होते; फिर मुनिदशा तो होगी ही कहाँसे ?

ज्ञायकस्वभावकी दृष्टिमे निर्मल-निर्मल क्रमबद्धपर्याये होती जाती है और उन–उन पर्यायोमे योग्य निमित्त होता है वह भी क्रमबद्ध है; इसलिये "निमित्त जुटाऊँ"—यह बात नही रहती। जैसे कि—"मुनिदशामें निमित्तरूपसे निर्दोष आहार ही होता है, इसलिये निर्दोप आहारका निमित्त जुटाऊँ तो मेरी मुनिदशा बनी रहेगी"—ऐसा कोई माने उसकी निमित्ताधीन दृष्टि है। स्वभावमे एकाग्रतासे मुनिदशा स्थित रहती है उसके बदले सयोगके आधारसे मुनिदशा मानता है उसकी दृष्टि ही विपरीत है। निमित्तको जुटाना नही पड़ता, किन्तु सहजरूपसे उसी प्रकारका निमित्त होता है, निमित्त–नैमित्तिकसम्बन्ध सहज ही बन जाता है।—'अपनेको जैसा कार्य करनेकी इच्छा हो, तदनुसार निमित्त जुटाना चाहिये"—ऐसा माने तो उसे ज्ञानस्वभावकी या क्रमबद्धपर्यायकी श्रद्धा कहाँ रही?—उसके तो अभी इच्छाका और निमित्तका कर्तृत्व विद्यमान है। अरे भाई! निमित्तोको जुटाना या दूर करना कहाँ तेरे हाथकी बात है? निमित्त तो परद्रव्य है, उसकी क्रमबद्धपर्याय तेरे आधीन नही है।

(८४) "ज्ञा...य. क" क्या करता है?

ज्ञायक क्रमबद्ध अपने ज्ञायकप्रवाहकी धारारूपसे उत्पन्न होता है; ज्ञायकरूपसे उत्पन्न होता हुआ वह किसे लेगा? किसे छोड़ेगा? या किसे बदलेगा? ज्ञायक तो ज्ञायकभावका ही कर्ता है, परका अकर्ता है। यदि दूसरेका कर्ता होने जाये तो यहाँ अपनेमें ज्ञायकस्वभावकी दृष्टि नही रहती इसलिये मिथ्यादृष्टिपना हो जाता है। ज्ञायक परका ज्ञाता भी व्यवहारसे है; निश्चयसे (तन्मयरूपसे) स्वयं ज्ञायकका ज्ञाता है। ज्ञायकसन्मुख एकाग्रतामे परज्ञेयका भी ज्ञान हो जाता है, किन्तु परका उत्पादक नही है। इस प्रकार ज्ञायक आत्मा अकर्ता है। सर्वज्ञभगवान स्व-परके "ज्ञायक" है, ज्ञेयोको जैसेका तैसा प्रसिद्ध करते है इसलिये "ज्ञापक" भी है, और अपने 'कारक" भी हैं, किन्तु परके कारण नही है। परके ज्ञायक तो है

किन्तु कारक नही है।—इस प्रकार समस्त आत्माओंका ऐसा ज्ञायक-स्वभाव है और परका अकर्तृत्व है।—यह बात यहाँ समझाई है।

(८५) ज्ञायकस्वभावकी दृष्टिपूर्वक चरणानुयोगकी विधि

शास्त्रोमे चरणानुयोगकी विधिका अनेक प्रकारसे वर्णन आता है, किन्तु उस सबमे इस ज्ञायकस्वभावकी मूल दृष्टि रखकर समझे तभी समझमे आ सकता है। मुनि-दीक्षा लेनेके भाव हों तब माता-पितादिके निकट जाकर इस प्रकार आज्ञा माँगना चाहिये, उन्हें इस प्रकार समझाना चाहिये, इसका वर्णन प्रवचनसार आदिमे अच्छी तरह किया है, और दीक्षा लेनेवालेको भी ऐसा विकल्प आये और माताके निकट जाकर कहे कि—"हे माताजी! अब मुझे दीक्षाकी आज्ञा दीजिये! हे इस शरीरकी जननी, मेरा अनादिकालीन जनक ऐसा जो आत्मा है उसके निकट जानेकी मुझे अनुमति दीजिये! भगवती दीक्षाकी अनुमति दीजिये!" तथापि अन्तरमें उस समय ज्ञान है कि इस वचनका कर्ता मैं नही हूँ; मेरे कारण इस वचनका परिणमन नही होता।

माता-पितादिकी आज्ञा लेकर फिर गुरुके निकट—आचार्य मुनिके पास जाकर विनयपूर्वक कहते है कि "हे प्रभो! मुझे शुद्धात्म-तत्त्वकी उपलब्धिरूप सिद्धिसे अनुगृहीत कीजिये। हे नाथ! मुझे इस भवबंधनसे छुडाकर भगवती मुनिदीक्षा दीजिये!"—तब श्रीगुरु भी उसे—"यह तुझे शुद्धात्मतत्त्वकी उपलब्धिरूप सिद्धि'—ऐसा कहकर दीक्षा देते है।—इस प्रकार चरणानुयोगकी विधि है, तथापि वहाँ दीक्षा देनेवाले और लेनेवाले दोनों जानते है कि हम तो ज्ञायक है, इस अचेतन भाषाके हम उत्पादक नही है; और इस विकल्पके भी वास्तवमें हम उत्पादक नही है; हम तो अपने ज्ञायकभावके ही उत्पादक हैं, ज्ञायकभावमें ही हमारी तन्मयता है।—ऐसे यथार्थ भानके विना कदापि मुनिदशा नही होती।

मै ज्ञायक हूँ-ऐसा अतर्भान, और क्रमबद्धपर्यायकी प्रतीति होने पर भी, तीर्थकर भगवान आदिके विरहमे, अथवा पुत्रादिके वियोगमें सम्यक्त्वीकी आँखोसे आँसू बहें, तथापि उस समय उन आँसुओके वे उत्पादक नही है और अन्तरमे शोकके किंचित् परिणाम हुए उनके भी वास्तवमे वे उत्पादक नही है; उस समय भी वे अपने ज्ञायकस्वभावरूपसे उत्पन्न होते हुए ज्ञाता ही है;—हर्ष-शोक के कर्ता-भोक्ता नही है। यह अंतर्दृष्टिकी अपूर्व वात है। यह दृष्टि प्रगट किये विना कभी किसीको धर्मका अश भी नही होता।

(८६) साधकदशामें व्यवहारका यथार्थ ज्ञान

ज्ञायकस्वभाव पर दृष्टि रखकर ज्ञायक जीव व्यवहारको भी यथार्थरूपसे जानता है। क्रमवद्धपर्यायके यथार्थ ज्ञानमे व्यवहारका ज्ञान भी आ जाता है। पंचाध्यायीमे भिन्न प्रकार व्यवहारके चारों प्रकारोका वर्णन है:—

(१) व्यक्तराग, वह असद्भूत उपचरित व्यवहारनयका विषय,
(२) अव्यक्तराग, वह असद्भूत अनुपचरित व्यवहारनयका विषय;
(३) ज्ञान परको जानता है, वहाँ "परका ज्ञान अथवा रागका ज्ञान" कहना वह सद्भूत उपचरित व्यवहारनयका विषय,
(४) ज्ञान सो आत्मा—ऐसा गुण-गुणी भेद वह सद्भूत अनुपचरित व्यवहारनयका विषय है।

("नयके इन चारों प्रकारोंका स्वरूप तथा ज्ञायकके आश्रयसे—निश्चयके आश्रयसे उनका निषेध" इस सम्बन्धमे पूज्य गुरुदेवके विस्तृत प्रवचनोके लिये देखिये—आत्मधर्म अक....९० तथा....९४)

एकाकार ज्ञायकस्वभावकी दृष्टिसे जहाँ निश्चय सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्रगट हुए और रागादिसे भिन्नता जानी वहाँ साधक-दशामे उपरोक्तानुसार जो-जो व्यवहार होते है उन्हे ज्ञानी अपने ज्ञान-का ज्ञेय बनाते है। यद्यपि दृष्टि तो ज्ञायकस्वभाव पर ही पडी है, किंतु

पर्यायमें व्यवहार है ही नहीं, राग है ही नहीं—ऐसा नहीं मानते; और उस व्यवहारकी खतौनी परमार्थमें भी नहीं करते;—अर्थात् उस व्यवहारके अवलम्बनसे लाभ नहीं मानते, उसे ज्ञानके ज्ञेयरूपसे ज्योंका त्यों जानते है। यहाँ ज्ञायकसन्मुख ज्ञानके क्रममें रहकर रागके क्रमको भी यथावत् जानते ही है; किन्तु ज्ञायककी अधिकतामें उस रागके भी अकर्ता हैं;—ऐसे ज्ञायकस्वभावकी दृष्टि धर्मकी मूल नीव है।

(यहाँ क्रमबद्धपर्यायके प्रवचन पूर्ण हुए; इन प्रवचनोंके अरसेमें तत्संबन्धी बहुत-कुछ चर्चा हुई थी; वह भी उपयोगी होनेसे यहाँ दी जा रही है।)

(८७) "केवलीके ज्ञानमें सब ओट है", परको जाननेकी ज्ञानमें सामर्थ्य है, वह कहीं अभूतार्थ नहीं है

यह क्रमबद्धपर्याय तो वस्तुका ही स्वरूप है; उसे सिद्ध करनेके लिये केवलज्ञानकी दलील देकर ऐसा सिद्ध किया जाता है कि—सर्वज्ञदेवने केवलज्ञानमें एकसमयमें तीनकाल-तीनलोकके स्व-पर समस्त पदार्थोंको प्रत्यक्ष देखा है; और तदनुसार ही परिणमन होता है।

तब इसके समक्ष कुछ लोग ऐसा भी कहते है कि—"केवली भगवान परको तो व्यवहारसे जानते है. और व्यवहार तो अभूतार्थ है—ऐसा शास्त्रमे कहा है; इसलिये केवली परको नही जानते।"—ऐसा कहकर वे इस क्रमबद्धपर्यायका विरोध करना चाहते हैं। किन्तु वास्तवमे तो वे केवलज्ञानकी और शास्त्रके कथनकी मजाक उडाते है; शास्त्रकी ओट लेकर अपने स्वच्छन्दकी पुष्टि करना चाहते है। अरे भाई! केवलीको स्व-परप्रकाशक पूर्ण ज्ञानसामर्थ्य प्रगट हो गया है; वह ज्ञान कहीं अभूतार्थ नही है। क्या ज्ञानका जो परप्रकाशक सामर्थ्य है वह कही अभूतार्थ है?—नही। जिस प्रकार समयसारकी ७वीं गाथामे दर्शन-ज्ञान-चारित्र

के गुणभेदको अभूतार्थ कहा—तो क्या आत्मामे वे गुण है ही नही?—हैं तो अवश्य। उसी प्रकार केवली भगवान परको जाने—उसे व्यवहार कहा है; तो क्या परका ज्ञातृत्व नही है? परको भी जानते तो हैं ही। केवली परको जानते ही नही—ऐसा नही है। केवलीको परका आश्रय नही है—परमे तन्मय होकर नही जानते—परसन्मुख होकर नही जानते—इसलिये परप्रकाशकपनेको व्यवहार कहा है। परप्रकाशकपनेका ज्ञानका जो सामर्थ्य है वह कही व्यवहार नही है; वह तो निश्चयसे अपना स्वरूप है। भगवानके केवलज्ञानमे त्रिकालके पदार्थोंकी नोंध है। प० राजमलजी समयसार-कलशकी टीकामे कहते है कि—संसारी जीवोमें एक भव्यराशि है और एक अभव्यराशि है, उसमे अभव्यराशि जीव तो तीनकालमें मोक्ष प्राप्त नही करते; भव्य जीवोमेसे कुछ जीव मोक्ष जाने योग्य है और उनका मोक्षमे पहुँचनेका काल-परिमाण है अर्थात् यह जीव इतना काल व्यतीत होनेपर मोक्ष जायेगा—ऐसी केवल-ज्ञानमें नोंध है—"यह जीव इतना काल वीत्या मोक्ष जासै—इसौ न्यौधु केवलज्ञान माँहे छै।" (पृष्ठ १०) केवली भगवानके ज्ञानमें तीनकाल–तीनलोककी सारी नोंध है। जिस जीवको अतर्स्वभाव-के ज्ञानका पुरुषार्थ हुआ उसे अल्पकालमें मोक्ष होना है—ऐसा केवलज्ञानकी नोंधमें आ गया है। जिसके ज्ञानमें सर्वज्ञ भगवान विद्यमान हो गये उसकी मुक्ति भगवानके ज्ञानमें लिखी गई।

प्रश्न:—केवली भगवानको विकल्प तो नहीं है, तब फिर विकल्पके विना परको किस प्रकार जानेंगे?

उत्तर:—परको जानते हुए केवलीको कही परकी ओर उपयोग नही डालना पड़ता; किन्तु अपना ज्ञानसामर्थ्य ही ऐसा स्व-परप्रकाशक विकसित हो गया है कि—स्व-पर सब एकसाथ विकल्प विना—ज्ञानमे ज्ञात हो जाता है। परको जानना वह कही विकल्प नही है। (ज्ञानको सविकल्प कहा जाता है उसमे अलग अपेक्षा है।

यहाँ रागरूप विकल्पकी बात है।) केवली भगवानको ज्ञानका सामर्थ्य ही ऐसा परिणमित हो रहा है कि रागके विकल्प बिना ही स्व-पर सब प्रत्यक्ष ज्ञात होता है।

अहो, आत्माका ज्ञानस्वभाव है, उस स्वभावमेंसे जो केवलज्ञान विकसित हुआ उसका अचिंत्य सामर्थ्य है। वह केवलज्ञान—

अस्पष्ट नही जानता।

विकल्पसे नही जानता।

परसन्मुख होकर नही जानता।

तथापि जाने बिना कुछ भी नही रहता।

—ऐसा केवलज्ञान है।

ऐसे केवलज्ञानको यथार्थरूपसे पहिचाने तो आत्माके ज्ञायकस्वभावकी सन्मुखता होकर सम्यग्दर्शन हुए बिना न रहे। प्रवचनसारकी ८० वीं गाथामें आचार्य भगवानने यही बात अलौकिक रीतिसे कही है।

(८८) भविष्यकी पर्याय होनेसे पूर्व केवलज्ञान उसे किस प्रकार जानेगा?—उसका स्पष्टीकरण

प्रश्न:—भविष्यकी जो पर्यायें नहीं हुई है, किन्तु होनेवाली हैं, उन्हे ज्ञान वर्तमानमें जान सकता है?

उत्तर:—हाँ, केवलज्ञान एक समयकी वर्तमान पर्यायमें तीनोंकालका सब कुछ जान लेता है।

प्रश्न:—तो क्या भविष्यमें जो पर्याय होनेवाली है उसे वर्तमानमे प्रगटरूपसे जानता है?

उत्तर:—भविष्यकी पर्यायको भविष्यरूपसे जानता है, किन्तु वह पर्याय वर्तमानमे प्रगटरूपसे वर्तती है—ऐसा नही जानता। जानता तो सब वर्तमानमें है, किन्तु जैसा हो वैसा जानता है। भविष्यमें जो होना हो उसे वर्तमानमे भविष्यरूपसे जानता है। स्पष्टरूपसे जानता है।

प्रश्न—ज्ञानमे भविष्यकी पर्यायको भी जाननेकी शक्ति है, इसलिये जब वह पर्याय होगी तब ज्ञान उसे जानेगा,—इस-प्रकार है?

उत्तर:—नही, ऐसा नही है। भविष्यको भी जाननेका कार्य तो वर्तमानमे ही है; वह कही भविष्यमे नही है। जैसे कि—किसी जीवको अमुक समय भविष्यमे केवलज्ञान होना है, तो ज्ञान वर्तमानमे ऐसा जानता है कि इस जीवके इस समय ऐसी पर्याय होगी; किन्तु ज्ञान कही ऐसा नही जानता कि इस जीवको इस समय केवलज्ञान पर्याय व्यक्तरूपसे वर्तती है। और भविष्यकी वह पर्याय होगी तब ज्ञान उसे जानेगा—ऐसा भी नही है। भविष्यकी पर्यायको भविष्यकी पर्यायरूपसे वर्तमानमे ही ज्ञान जानता है। जिस प्रकार भूतकालकी पर्याय वर्तमानमे वर्तती न होने पर भी वर्तमानज्ञान उसे जानता है, उसी प्रकार भविष्यकी पर्याय वर्तमान-मे वर्तती न होने पर भी ज्ञान उसे प्रत्यक्ष जानता है।

(८९) केवलीको क्रमबद्ध, और छद्मस्थको अक्रम—ऐसा नहीं है

प्रश्न:—"सब क्रमबद्ध है"—यह बात केवली भगवानके लिये बराबर है। केवली भगवानने सब जाना है, इसलिये उनके लिये तो सब क्रमबद्ध ही है, किन्तु छद्मस्थको तो पूर्णज्ञान नही है, इसलिये उसके लिये सब क्रमबद्ध नही है; छद्मस्थके तो फेरफार भी हो सकता है—इस प्रकार कोई कहे तो वह बराबर है?

उत्तर.—नही; यह बात बराबर नही है। वस्तुस्वरूप सबके लिये एक-सा ही है। केवलीके लिये अलग वस्तुस्वरूप और छद्मस्थके लिये अलग—ऐसा दो प्रकारका वस्तुस्वरूप नही है। केवलीके लिये सब क्रमबद्ध और छद्मस्थके लिये अक्रमबद्ध अर्थात् छद्मस्थ उसमें उल्टा-सीधा भी कर सकता है—ऐसा माननेवालेको क्रमबद्ध-पर्यायके स्वरूपकी खबर नही है। केवली भगवान भले ही पूर्ण प्रत्यक्ष जाने और छद्मस्थ पूर्ण प्रत्यक्ष न जाने, तथापि वस्तुस्वरूपका (क्रमबद्ध-

पर्याय आदिका) निर्णय तो दोनोंको एक-सा ही है। केवलीभगवान सर्व द्रव्योकी क्रमबद्धपर्याय होना जाने, और छद्मस्थ उनका अक्रमसे होना माने, तब तो उसके निर्णयमे ही विपरीतता हुई। मैं ज्ञायक हूँ और पदार्थोंकी क्रमबद्ध अवस्था है—ऐसा निर्णय करके ज्ञायक-स्वभावसन्मुख परिणमित होनेवाले ज्ञानीको तो ज्ञाताभावका ही परिणमन विकसित होते-होते अनुक्रमसे केवलज्ञान हो जाता है। परन्तु अभी जिसके निर्णयमे ही भूल है उसके ज्ञातापनेका परिणमन नही होता, किन्तु विकारका ही कर्तापना रहता है।

(९०) ज्ञान और ज्ञेयका मेल, तथापि दोनोंकी स्वतंत्रता

प्रश्नः—केवली भगवानने जैसा जाना उसी प्रकार इस जीव को परिणमित होना पड़ता है? या जैसा यह जीव परिणमित हो वैसा केवली भगवान जानते हैं?

उत्तरः—पहली बात यह है कि केवलज्ञानका निर्णय करने-वालेने "ज्ञानशक्ति" के अवलम्बनसे वह निर्णय किया है, इसलिये उसमे निर्मल परिणमन (सम्यग्दर्शनादि) हो गया है और केवली-भगवानने भी वैसा ही जाना है।

केवली भगवानका ज्ञान और इस जीवका परिणमन—इन दोनोका ज्ञेय-ज्ञायकपनेका मेल होने पर भी कोई किसीके आधीन नही है। केवली भगवानने तो सर्व पदार्थोंकी तीनोकालकी अवस्थायें एक साथ जान ली है, और पदार्थमे परिणमन तो एकके बाद एक अवस्थाका होता है। केवलीने जाना इसलिये पदार्थको वैसा परिणमित होना पड़ता है, ऐसा नही है; अथवा पदार्थ वैसा परिण-मित होता है इसलिये केवली वैसा जानते है—ऐसा भी नही है। ऐसा होने पर भी केवलज्ञान और ज्ञेयकी संधि नही टूटती; केवलज्ञान-ने जाना उससे दूसरे प्रकारसे वस्तु परिणमित हो, अथवा तो वस्तु परिणमित हो उससे दूसरे प्रकारसे केवलज्ञान जाने ऐसा कभी नही होता।

इसमें, केवलज्ञानकी अर्थात् आत्माके ज्ञायकस्वभावकी महत्ता समझना चाहिये और ज्ञायकसन्मुख होकर परिणमित होना चाहिये; वही मूलभूत वस्तु है।

(९१) आगमको जानेगा कौन ?

प्रश्नः—यह पर्यायकी बात आप जैसी कहते है वैसी आगममें नही मिलती।

उत्तरः—अरे भाई ! अभी तुझे सर्वज्ञका तो निर्णय नही है; तब फिर सर्वज्ञके निर्णय बिना, "सर्वज्ञके आगम कैसे होते है और उनमे क्या कहा है" उसकी तुझे क्या खबर पडेगी ? गुरुगमके बिना, अपनी विपरीतदृष्टिसे आगमके यथार्थ अर्थ भासित हो ऐसा नहीं है। आगम कहता है कि आत्माका ज्ञानस्वभाव है और उसमे सर्वज्ञताका सामर्थ्य है। यदि ऐसे ज्ञानस्वभावको और सर्वज्ञताको न जाने तो उसने आगमको जाना ही नही है। और यदि ऐसे ज्ञान-स्वभावको माने तो क्रमबद्धपर्यायका निर्णय उसमे आ ही जाता है।

जो क्रमबद्धपर्यायको सीधी रीतिसे न समझे उसे समझाने-के लिये यह केवलज्ञानकी दलील दी जाती है; बाकी वस्तु तो स्वय ही वैसे स्वभाववाली है, क्रमबद्धपर्याय वह वस्तुका ही स्वरूप है, वह कही केवलज्ञानके कारण नही है।

(९२) केवलज्ञानके और क्रमबद्धपर्यायके निर्णय बिना धर्म क्यों नहीं ?

प्रश्नः—आप केवलज्ञान और क्रमबद्धपर्याय पर इतना अधिक भार देते है, तो क्या सर्वज्ञके निणय बिना या क्रमबद्धपर्यायके निर्णय बिना धर्म नही हो सकता ?

उत्तरः—नही, भाई ! यह केवलज्ञानका या क्रमबद्धपर्याय-का निर्णय तो ज्ञानस्वभावके अवलम्बनसे होता है, और इसके बिना

कभी धर्म नही होता। ज्ञानस्वभाव कहो, केवलज्ञान कहो या क्रमबद्ध-पर्याय कहो,—इन तीनोमेसे एकके निर्णयमे दूसरे दो का निर्णय भी आ जाता है; और यदि केवलज्ञानको या क्रमबद्धपर्यायको न माने तो वह वास्तवमे आत्माके ज्ञानस्वभावको ही नही मानता। यह तो जैनधर्मकी मूल वस्तु है; इसके निर्णय बिना धर्मका प्रारम्भ हो ऐसा कभी नही होता। स्वसन्मुख होकर "मै ज्ञान हूँ"—ऐसी ज्ञाताबुद्धि होनेसे सर्वज्ञताका निर्णय भी हो गया, क्रमबद्धपर्यायका भी निर्णय हो गया, कही फेरफार करनेकी बुद्धि न रही,—इसका नाम धर्म है।

(९३) तिर्यंच–सम्यक्त्वीको भी क्रमबद्धपर्यायकी प्रतीति

प्रश्न.—तिर्यचमे भी कोई-कोई जीव (मेढक आदि) सम्यक्त्वी होते है, तो क्या उन तिर्यच सम्यक्त्वियोको भी ऐसी क्रम-बद्धपर्यायकी श्रद्धा होती है ?

उत्तर.—हाँ; "क....म....व....द्ध" ऐसे शब्दकी भले ही उसे खबर न हो, किन्तु "मै ज्ञायक हूँ, मेरा आत्मा सब जाननेके स्वभाव-वाला है"—ऐसे अतर्वेदनमे क्रमबद्धपर्यायकी प्रतीति भी उसे आ जाती है, क्रमबद्धपर्यायकी प्रतीतिका जो कार्य है वह कार्य उसे हो ही रहा है। उसका ज्ञान ज्ञातारूप ही परिणमित होता है। पर-का कर्ता या रागका कर्ता—ऐसी बुद्धि उसके नही है; ज्ञाताबुद्धि ही है और उसमे क्रमबद्धपर्यायकी प्रतीति समा जाती है। ज्ञानपर्यायको अन्तरोन्मुख करके "मै ज्ञायकभावरूप जीवतत्त्व हूँ"—ऐसी प्रतीति हुई है वहाँ क्रमबद्धपर्यायका ज्ञातृत्व ही है।

और देखो, उन मेढक या चिड़िया आदि तिर्यंचोको सम्यग्-दर्शन होनेसे स्वसन्मुख होकर सवर-निर्जरादशा प्रगट हुई है, किन्तु अभी केवलज्ञान नही हुआ है। पर्यायमे अभी अल्पता और राग भी है, तथापि उस पर्यायको जानते हुए उन्हें ऐसा विकल्प या संदेह नहीं उठता कि "इस समय ऐसी पर्याय क्यो ? और केवलज्ञानपर्याय क्यों नही ?" ऐसा ही उस पर्यायका क्रम है–ऐसा जानते है। केवलज्ञान

नहीं है इसलिये कही सम्यग्दर्शनमे शंका नही पडती । इसी प्रकार उस पर्यायमें राग है उसे भी जानते है, किन्तु उस रागको जानते हुए वे तिर्यंच सम्यक्त्वी उसका स्वभावरूपसे वेदन नही करते, रागसे भिन्न ज्ञायकस्वभावरूप ही स्वयका अनुभव करते है । राग है उतने अंशमें उसका वेदन है, किन्तु ज्ञायकदृष्टिमे उसका वेदन है ही नही । ज्ञायकस्वभावकी दृष्टिसे ज्ञान समाधानरूपसे वर्तता है; कही परको इधर-उधर करनेकी मिथ्याबुद्धि नही होती, यही क्रमबद्ध-पर्यायकी प्रतीतिका फल है ।

—इस प्रकार, जो भी सम्यक्त्वी जीव है उन सबको अपने ज्ञायकस्वभावके निर्णयमे, सर्वज्ञकी और क्रमबद्धपर्यायकी प्रतीति भी साथमें आ ही जाती है;—इससे विपरीत माननेवालेको सम्यग्दर्शन नही होता ।

सम्यग्दर्शन कहो, 'के...व....ल" ज्ञान (अर्थात् रागसे भिन्न ज्ञान) कहो, भेदज्ञान कहो, क्रमबद्धपर्यायका निर्णय कहो, जैनशासन कहो, या धर्मका प्रारम्भ कहो—वह सब इसमें एकसाथ आ जाता है ।

(९४) क्रमबद्धपर्यायके निर्णयका फल—"अबंधता," "ज्ञायकको बंधन नहीं है"

जीव और अजीव दोनोंकी क्रमबद्धपर्याय अपने-अपनेसे स्वतन्त्र है; ज्ञायकस्वरूप जीव अपने ज्ञायकपनेकी क्रमबद्धपर्यायमे परिणमित होता हुआ उसका ज्ञाता है, किन्तु परका अकर्ता है । इस प्रकार अकर्तारूपसे परिणमित होते हुए ज्ञायकको बन्धन होता ही नही ।

—ऐसा होने पर भी, अज्ञानीको बन्धन क्यो होता है ? आचार्यदेव कहते है कि यह उसके अज्ञानकी महिमा प्रगट है, उसके अज्ञानके कारण ही उसे बन्धन होता है, ज्ञायकस्वभावकी महिमा

जाने तो बन्धन न हो। ज्ञायकस्वभावकी महिमा भूलकर जो परका कर्ता होता है उसके अज्ञानकी महिमा प्रगट हुई है और इसीसे उसे बंधन होता है।

ज्ञायकस्वभावरूप परिणमित होनेवाला जीव, मिथ्यात्वादि कर्मके बंधनमे निमित्त भी नही होता; निमित्तरूपसे भी वह मिथ्यात्वादिका अकर्ता ही है।

"अजीवकी क्रमबद्धपर्याय भी स्वतन्त्र है; इसलिये उसमें जो मिथ्यात्वकर्मरूपसे परिणमित होनेका उपादान हो तो हमें भी मिथ्यात्वभाव करके उसे निमित्त होना पडेगा!"—ऐसी जिसकी दृष्टि है उसके अज्ञानकी महिमा प्रगट है अर्थात् वह महान अज्ञानी है। ज्ञायकस्वभावकी या क्रमबद्धपर्यायकी उसे खबर नही है। ज्ञानीने तो ज्ञानस्वभाव पर दृष्टि रखकर क्रमबद्धपर्यायका निर्णय किया है; इसलिये उसकी दृष्टिका परिणमन तो स्वसन्मुख हो गया है; कर्मको निमित्त होने पर उसकी दृष्टि नही है। मिथ्यात्वादि कर्म उसके बँधता ही नहीं है।

क्रमबद्धपर्यायका यथार्थ निर्णय करनेवालेको अपनेमें मिथ्यात्वका क्रम नही होता—यह बात पहले की, और निमित्तरूपसे अजीवमें भी उसे मिथ्यात्वका क्रम नहीं होता।

"जडमें मिथ्यात्वका क्रम हो तो जीवको मिथ्यात्व करना पडता है"—यह दलील तीव्र मिथ्यादृष्टि अज्ञानीकी है, वह अजीवको ही देखता है, किन्तु जीवको नही देखता, जीवके स्वभावका निर्णय करके जीवकी ओरसे न लेकर अजीवकी दृष्टिकी ओरसे लेता है वह विपरीतदृष्टि है—उसके अज्ञानकी गहनता है। क्रमबद्धके निर्णयका फल तो स्वोन्मुख होना आता है, स्वभावोन्मुख होकर ज्ञायक हुआ उसे मिथ्यात्व नही होता और मिथ्यात्वकर्मका निमित्तकर्तापना भी उसके नही रहता; अजीवमे दर्शनमोह होनेका क्रम उसके लिये होता ही

नही। इस प्रकार कर्मके साथका निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध भी उसको छूट गया है।

आत्मा निश्चयसे अजीवका कर्ता नही है, इसलिये कोई ऐसा कहे कि—"पुद्‌गलके मिथ्यात्वका निश्चयसे अकर्ता किन्तु उसमें मिथ्यात्वकर्म बंधे तब जीव मिथ्यात्व करके उसका निमित्तकर्ता होता है अर्थात् व्यवहारसे उसका कर्ता है।—इस प्रकार निश्चयसे अकर्ता और व्यवहारसे कर्ता—ऐसा हो तो?"

—तो यह भी मिथ्यादृष्टिकी ही वात है। ज्ञायकस्वभावकी दृष्टिमे कर्मका निमित्तकर्तापना आता ही नही। मिथ्यात्वादि कर्मोका व्यवहार कर्तापना मिथ्यादृष्टिको ही लागू होता है, ज्ञानीको वह किसी प्रकार लागू नही होता। यहाँ ज्ञायकस्वभावकी दृष्टि करके स्वयं ज्ञायकभावसे (सम्यग्दर्शनादिरूपसे) परिणमित हुआ, वहाँ निश्चित् हो गया कि मेरी पर्यायमे मिथ्यात्व होनेकी योग्यता नही है, और मेरे निमित्तसे पुद्‌गलमे मिथ्यात्वकर्म हो—ऐसा भी हो ही नही सकता—यह भी निर्णय हो गया। अहो! अतरमे ज्ञायकस्वभावका निर्णय करके क्रमबद्धपर्यायका ज्ञाता हुआ, अन्तरोन्मुख होकर ज्ञायक हुआ....अकर्ता हुआ, वह अब बन्धनका कर्ता हो यह कैसे हो सकता है? नही ही हो सकता। ज्ञायकभाव बन्धनका कर्ता हो ही नही सकता। वह तो निजरससे—ज्ञायकभावसे शुद्धरूप ही परिणमित होता है—बन्धनके अकर्तारूपसे ही परिणमित होता है। इस प्रकार ज्ञायकको बन्धन होता ही नही है। ऐसा अबन्धपना क्रमबद्धपर्यायके निर्णयका फल है। अबन्धपना कहो या मोक्षमार्ग कहो, या धर्म कहो—उसकी यह रीति है।

(९५) स्वच्छन्दी जीव इस बातके श्रवणका भी पात्र नहीं है

जीव ज्ञायकस्वभाव है, उस ज्ञायककी क्रमबद्धपर्यायमे विकारके कर्तृत्वकी वात नही आती। क्योंकि ज्ञाताके परिणमनमे विकार कहाँसे आया? भाई! अपने ज्ञायकत्वका निर्णय करके

पहले तू ज्ञाता हो, तो तुझे क्रमबद्धपर्यायकी खबर पड़ेगी। ज्ञाताके क्रममें राग आता ही नहीं; वह ज्ञेयरूपमें भले हो। वास्तवमें तो रागको ज्ञेय करनेकी भी मुख्यता नहीं है; अन्तरमें ज्ञायकस्वभावको ही ज्ञेय बनाकर उसमें अभेद हो—उसीकी मुख्यता है। ज्ञायकस्वभावको ज्ञेय बनाये बिना, रागका यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता।

क्रमबद्धपर्यायका नाम लेकर रागादिका भय न रखे, और स्वच्छन्दरूपसे विषय-कषायोंमें वर्ते—ऐसे मिथ्यादृष्टि जीवोंकी यहाँ बात ही नहीं है; वह तो इस बातके श्रवणका पात्र नहीं है। क्रमबद्धकी ओट लेकर स्वच्छन्दरूपसे वर्ते, तो न रहा पापका भय, और न रहा सत्यके श्रवणका भी प्रेम; इसलिये सत्यके श्रवण-की भी योग्यता न हो वहाँ ज्ञानके परिणमनकी तो योग्यता ही कहाँसे हो? जो स्वच्छन्दको छुड़ाकर मोक्षमार्गमें ले जानेकी बात है, उसीकी ओटमें जो ढिठाईसे स्वच्छन्दकी पुष्टि करता है उसे आत्माकी दरकार नहीं है, भवभ्रमणका भय नहीं है।

(९६) सम्यग्दर्शन कब होता है?—तो कहते हैं पुरुषार्थ करे तब

कुछ अज्ञानी इस बातको समझे बिना ऐसा कहते हैं कि—हमें तो क्रमबद्धपर्यायमें सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायें होना होंगी तो हो जायेगी।—किन्तु उनकी बात विपरीत है, वे सिर्फ परकी ओर देखकर क्रमबद्धपर्यायकी बात करते हैं, वह ठीक नहीं है। भाई रे, तू अपने ज्ञायकस्वभावकी ओरका पुरुषार्थ करेगा तभी तेरी निर्मल पर्याय होगी। क्रमबद्धपर्यायकी समझका फल तो ज्ञायकस्वभावोन्मुख होना है; जो ज्ञायकस्वभावोन्मुख हुआ है उसके तो निर्मल पर्यायका क्रम हो ही गया है; और जिसकी उन्मुखता ज्ञायकस्वभावकी ओर नहीं है वह वास्तवमें क्रमबद्धपर्यायको जानता ही नहीं है। अन्तरोन्मुख होकर ज्ञायकस्वभाव पर जोर देते हुए भगवानने क्रमबद्धपर्यायमें जिस निर्मल पर्यायका होना देखा है वही पर्याय आ खड़ी होती है। किसी भी जीवको ज्ञायकस्वभावकी ओरके पुरुषार्थ बिना निर्मल पर्याय होती है—ऐसा भगवानने नहीं देखा है।

"समस्त पर्यायें क्रमबद्ध है इसलिये जैसा क्रम होगा वैसी पर्यायें होती रहेगी, अब अपनेको पुरुषार्थकी कोई आवश्यकता नही है"—ऐसा कोई माने तो उससे कहते है कि भाई! ज्ञायककी ओरके पुरुषार्थके विना तू क्रमबद्धका ज्ञाता कैसे हुआ? अपने ज्ञायकस्वभावके निर्णयका प्रयत्न किये बिना क्रमबद्धपर्यायको तू किस प्रकार समझा? स्वसन्मुख होकर ज्ञायकस्वभावका निर्णय करे उसीको क्रमबद्धपर्याय समझमे आती है और उसकी पर्यायमें निर्मलताका क्रम प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रकार, स्वसन्मुख पर्याय और क्रमबद्धपर्यायके निर्णयकी सन्धि है।

(९७) क्रमबद्धपर्याय और उसका कर्तृत्व

प्रश्न:—क्रमबद्धपर्याय है उसमे कर्तृत्व है या नही?

उत्तर:—हाँ, जिसने स्वसन्मुख होकर अपने ज्ञायकस्वभावका निर्णय किया है, उसे अपनी निर्मल क्रमबद्धपर्यायका कर्तृत्व है; और जिसके ज्ञायकस्वभावकी दृष्टि नही है तथा परमे कर्तृत्वबुद्धि है उसे अपनेमे मिथ्यात्व आदि मलिन भावोका कर्तृत्व है।

अजीवको उस अजीवकी क्रमबद्धअवस्थाका कर्तृत्व है। क्रमबद्धपर्यायका निर्णय करके जो जीव ज्ञायकस्वभावकी ओर ढल गया है उसे विकारका कर्तृत्व नही है; वह तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मल ज्ञानभावका ही कर्ता है।

(९८) सूक्ष्म—किन्तु समझमें आ जाये ऐसा

प्रश्न.—आप कहते है वह बात तो बहुत सरल है, किन्तु बड़ी सूक्ष्म बात है!

उत्तर:—भाई! सूक्ष्म तो अवश्य है, किन्तु समझमें आ सके ऐसा सूक्ष्म है या न आये ऐसा? आत्माका स्वभाव ही सूक्ष्म (अतीन्द्रिय) है, इसलिये उसकी बात भी सूक्ष्म ही होती है। यह सूक्ष्म होने पर भी समझमे आ सके ऐसा है। आत्माकी सचमुच

जिज्ञासा हो तो वह समझमे आये विना नही रह सकता। वस्तुस्वरूप-में जैसा हो रहा है वही समझनेको कहा जा रहा है; इसलिये सूक्ष्म लगे तो भी "समझमे आये ऐसा है; और यह समझनेमे ही मेरा हित है" —ऐसा विश्वास और उल्लास लाकर अन्तरसे प्रयास करना चाहिये। यह समझे विना ज्ञान कभी सच्चा नही हो सकता, और सच्चे ज्ञान विना शाँति नही हो सकती। "सूक्ष्म है इसलिये मेरी समझमे नही आ सकता"—ऐसा नही मानना चाहिये, किन्तु सूक्ष्म है इसलिये उसे समझनेके लिये मुझे अपूर्व प्रयत्न करना चाहिये; —ऐसा बहुमान लाकर समझना चाहे तो वह अवश्य ही समझमें आ सकता है।

अहो! यह तो अतरकी अध्यात्मविद्या है; इस अध्यात्मविद्या-से ज्ञानस्वभावी आत्माका निर्णय किए बिना, अन्य सब बाह्य ज्ञातृत्व तो म्लेच्छविद्या समान है; उससे आत्माका कुछ भी हित नही है।

पूर्व अनन्तकालमे यह बात नही समझा इसलिये सूक्ष्म है; तथापि जिज्ञासु होकर समझना चाहे तो समझमें आ सकती है। भाई! तू उलझनमे मत पड़, किन्तु अन्तरमे देख; उलझन कोई मार्ग नही है; ज्ञानस्वभावको लक्षमे पकडकर अन्तर्मुख हो....वर्तमान-मे जो ज्ञान जाननेका कार्य कर रहा है वह किसका है? उस ज्ञान-के सहारे-सहारे अन्तरमे जा और अव्यक्त चिदानन्दस्वभावको ग्रहण कर ले....अन्तरके चेतन्यद्वारको खोल! इस चैतन्यस्वभावमे उतरते ही सब समझमे आ जाता है, और उलझन मिट जाती है।

(९९) सच्चा विश्रामस्थल

प्रश्न:—क्रमवद्धपर्याय प्रतिसमय सदैव होती ही रहती है; उसमे वीचमे कही जरा भी विश्राम नहीं है?

उत्तर.—भाई, यह समझ तो तेरे अनादिकालीन भवभ्रमण-की थकान दूर कर दे ऐसी है! क्रमवद्धपर्याय की प्रतीति करके ज्ञायकस्वभाव की ओर एकाग्र हुआ वही सच्चा विश्रामस्थल है।—

उसमें भी प्रतिसमय पर्यायका परिणमन तो होता ही रहता है; किन्तु वह परिणमन ज्ञान और आनन्दमय है, इसलिये उसमे आकुलता या थकान नहीं है; उसमे तो परम अनाकुलता है और वही सच्चा विश्रामस्थल है। अज्ञानी जीव ज्ञायकपनेको भूलकर "परमे यह करूँ....यह करूँ—ऐसी मिथ्या मान्यतासे आकुल-व्याकुल—दु:खी हो रहा है और भवभ्रमणमे भटक रहा है। यदि वह ज्ञायकस्वभाव-की और क्रमबद्धपर्यायकी बात समझे तो अनन्ती आकुलता मिट जाये, अन्तर्स्वभावमे ज्ञान-आनन्दके अनुभवरूप सच्चा विश्रामस्थल प्राप्त हो।

(१००) सम्यक्त्वी कहते हैं—"श्रद्धारूपसे केवलज्ञान हुआ है"

इस क्रमबद्धपर्यायके यथार्थ निर्णयमें ज्ञानस्वभावका और केवलज्ञानका निर्णय आ जाता है। जिस प्रकार केवली भगवान परिपूर्ण ज्ञायक ही है, उसी प्रकार मेरा स्वभाव भी ज्ञायक ही है—ऐसा निर्णय होने पर श्रद्धारूपसे केवलज्ञान हुआ। अभी साधकदशा-में अल्प ज्ञान है, तथापि वह भी ज्ञायकस्वभावके अवलम्बनसे ज्ञातापनेका ही कार्य करता है, इसलिये केवलज्ञानकी श्रद्धा तो हो गई, अर्थात् श्रद्धारूपसे केवलज्ञान हुआ।

श्रीमद् राजचन्द्रजीने भी कहा है कि—"यद्यपि कभी वर्तमानमे प्रगट रूपसे केवलज्ञानकी उत्पत्ति नही हुई है, किन्तु जिनके वचनके विचारयोगसे शक्तिरूपसे केवलज्ञान है—ऐसा स्पष्ट जाना है,

—ऐसा श्रद्धारूपसे केवलज्ञान हुआ है,
—विचारदशारूपसे केवलज्ञान हुआ है,
—इच्छादशारूपसे केवलज्ञान हुआ है,
—मुख्यनयके हेतुसे केवलज्ञान वर्तता है,

—वह सर्व अव्याबाध सुखका प्रगट करनेवाला केवलज्ञान जिनके योगसे सहजमात्रमे जीव प्राप्त करने योग्य हुआ उन सत्पुरुष-

के उपकारको सर्वोत्कृष्ट भक्तिसे नमस्कार हो ! नमस्कार हो !"

देखो, इतने-से कथनमें कितनी गंभीरता है !

सर्व प्रथम ऐसा कहा कि—"यद्यपि कभी वर्तमानमे प्रगट-रूपसे केवलज्ञानकी उत्पत्ति नही हुई है"—इस कथनमे यह वात भी गर्भित रूपसे रखी है कि—वर्तमानमे प्रगट नही है किन्तु शक्ति-रूपसे है; और वर्तमानमे प्रगट नही है किन्तु भविष्यमे अल्पकाल-मे केवलज्ञान प्रगट होना है ।"

* फिर कहा है कि—"जिनके वचनके विचारयोगसे शक्तिरूपसे केवलज्ञान है—ऐसा स्पष्ट जाना है ।"—केवलज्ञान प्रगट नही है, तथापि वह प्रगट होनेका सामार्थ्य मुझमे है—ऐसा जाना है—स्पष्ट जाना है, अर्थात् स्वसन्मुख होकर निःशक जाना है । किसने जाना ?—तो कहते है कि वर्तमान पर्यायने जाना है। मुझमे सर्वज्ञता-का सामर्थ्य है ऐसा पहले नही जाना था, और अब स्वसन्मुख होकर जाना इसलिये पर्यायमे निर्मलताका क्रम प्रारंभ हो गया ।

मेरी शक्तिमे केवलज्ञान है—ऐसा "स्पष्ट" जाना है अर्थात् रागके अवलम्बन विना जाना है,—स्वभावके अवलम्बनसे जाना है; स्वसंवेदनसे जाना है ।

* जाननेमे निमित्त कौन ? तो कहते है कि—"जिनके वचनके विचारयोगसे....जाना है;" जिनके वचन अर्थात् केवली-भगवान, गणधरदेव, कुन्दकुन्दाचार्य आदि सत-मुनि और सम्यक्त्वी-इन सवके वचन उसमें आ जाते है । अज्ञानीकी वाणी उसमें निमित्त नही होती, सम्यक्त्वीसे लेकर केवली भगवान तकके सबकी वाणी अविरुद्ध है; जैसी केवली भगवानकी वाणी है वैसी ही सम्यक्त्वीकी वाणी है; भले ही केवलीभगवानकी वाणीमे बहुत आए और सम्यक्त्वीकी वाणीमे कम आए, किन्तु दोनोंका अभिप्राय तो एक ही है ।

और, "जिनके वचनके विचारयोगसे जाना"—इसमें

"विचारयोग" वह अपने उपादानकी तैयारी बतलाता है। ज्ञानीके वचन वह निमित्त, और उन वचनोंको झेलकर समझनेकी योग्यता अपनी,—इस प्रकार उपादान-निमित्त दोनोंकी बात आ गई।

वर्तमानपर्यायमें केवलज्ञान न होने पर भी, तेरे स्वभावमें केवलज्ञानका सामर्थ्य है—ऐसा ज्ञानीके वचन बतलाते है; इसलिये तुझमें जो शक्ति विद्यमान है उसके अवलम्बनसे तेरा केवलज्ञान प्रगट होगा, अन्य किसीके (निमित्तके या व्यवहारके) अवलम्बनसे केवलज्ञान नही होगा;—ऐसा ज्ञानी बतलाते है, इससे विरुद्ध जो कहते हो वे वचन ज्ञानीके नही है।

*"यद्यपि वर्तमानमें कभी प्रगट रूपसे केवलज्ञानकी उत्पत्ति नही हुई है, किन्तु जिनके वचनके विचारयोगसे शक्तिरूपसे केवलज्ञान है—ऐसा स्पष्ट जाना है"—ऐसा जाननेमे क्या हुआ वह अब कहते है:—

—"ऐसा श्रद्धारूपसे केवलज्ञान हुआ है;"

केवलज्ञान प्रगट नही है, तथापि उसकी श्रद्धा तो प्रगट हुई है, इसलिये श्रद्धारूपसे केवलज्ञान हुआ है। देखो, अज्ञानी तो कहते हैं कि—"भव्य-अभव्यका निर्णय अपनेसे नही हो सकता, वह केवली जाने," तव यहाँ तो कहते हैं कि केवलज्ञानका निर्णय हो गया है, श्रद्धामे केवलज्ञान हो गया है। जिसमेसे केवलज्ञान प्रगट होना है—ऐसा अखंड ज्ञायकस्वभाव जहाँ प्रतीतिमें आ गया वहाँ श्रद्धारूपसे केवलज्ञान हुआ है।

*"श्रद्धा"की बात की, अब ज्ञान-चारित्रकी बात करते है।

—"विचारदशारूपसे केवलज्ञान हुआ है,"

—"इच्छादशारूपसे केवलज्ञान हुआ है,"

विचारदशारूपसे केवलज्ञान हुआ है इसलिये केवलज्ञान कैसा होता है वह ज्ञानमे आ गया है-सर्वज्ञताका निर्णय हो गया है। तथा इच्छादशारूपसे केवलज्ञान हुआ है अर्थात् भावना केवलज्ञानकी

ही वर्त रही है, रागकी या व्यवहारकी भावना नही है; किन्तु केवलज्ञानकी ही भावना है ।

* इतनी बात तो केवलज्ञान पर्यायकी कही, किन्तु केवलज्ञान प्रगट कहाँसे होगा–वह वात भी साथमें वतलाते है ।

"मुख्यनयके हेतुसे केवलज्ञान वर्तता है"

निश्चयनय अर्थात् मुख्यनय । अध्यात्ममे मुख्यनय तो निश्चयनय ही है । उस निश्चयमे वर्तमानमे ही शक्तिरूपसे केवलज्ञान वर्त रहा है ।

शक्तिरूपसे केवलज्ञान तो सभी जीवोके है, किन्तु ऐसा कहता कौन है ?–कि जिसे उस शक्तिकी प्रतीति हुई है वह । इसलिये श्रद्धा तो प्रगट हुई है ।

—इस प्रकार इसमे जैनशासन भर दिया है। शक्ति क्या है, व्यक्ति क्या है, शक्तिकी प्रतीति क्या है, केवलज्ञान क्या है,—यह सब इसमें आ जाता है ।

* अहो, सम्यग्दर्शन होने पर सम्यक्त्वी कहता है कि—"श्रद्धारूपसे केवलज्ञान हुआ," यहाँ ज्ञायकोन्मुख होकर क्रमवद्धपर्यायका निर्णय किया उसमे भी श्रद्धारूपसे केवलज्ञान हुआ........प्रतीति तो वर्तमानमें प्रगट हुई है । जिस प्रकार केवलीभगवान ज्ञायकत्वका ही काम करते है, उसी प्रकार मेरा स्वभाव भी ज्ञायक है, मेरा ज्ञान भी ज्ञायकोन्मुख रहकर ज्ञातृत्वका ही कार्य करता है—ऐसी सम्यक्त्वीको प्रतीति हुई है—इस प्रकार श्रद्धारूपसे केवलज्ञान हुआ है ।

* सर्वज्ञस्वभावके अवलम्वनसे ऐसी श्रद्धा होने पर जीव केवलज्ञान प्राप्त करने योग्य हुआ । उसके उल्लासमे भक्तिपूर्वक नमस्कार करते हुए कहते है कि अहो ! सर्व अव्यावाध सुख प्रगट करनेवाला ऐसा केवलज्ञान जिनके योगसे सहजमात्रमे जीव प्राप्त करने योग्य हुआ उन सत्पुरुषके उपकारको सर्वोत्कृष्ट भक्तिसे नमस्कार हो........नमस्कार हो.... ...!

(१०१) "केवलज्ञानकी खडी" के तेरह प्रवचन....और केवलज्ञानके साथ संधिपूर्वक उनका अंतमंगल

—इस क्रमबद्धपर्याय पर पहलीबारके "आठ" और दूसरी-बारके "पाँच"—इस प्रकार कुल तेरह प्रवचन हुए। तेरहवाँ गुण-स्थान केवलज्ञानका है और ज्ञायकोन्मुख होकर इस क्रमबद्धपर्यायका निर्णय करना वह "केवलज्ञानकी खडी" है; उसका फल केवलज्ञान है। जो इसका निर्णय करे उसे क्रमबद्धपर्यायमे अल्पकालमे केवलज्ञान हुए विना नही रहेगा। इस क्रमबद्धका निर्णय करनेवाला "केवली-भगवानका पुत्र" हुआ, प्रतीतिरूपसे केवलज्ञान प्रगट हुआ, उसे अब विशेष भव नही हो सकते। ज्ञायकस्वभाव सन्मुख होकर यह निर्णय करनेसे अपूर्व सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, और फिर निर्मल निर्मल क्रमबद्धपर्याये होने पर अनुक्रमसे चारित्रदशा और केवलज्ञान होता है।

—इसप्रकार केवलज्ञानके साथ सधिपूर्वक ज्ञायकस्वभाव और क्रमबद्धपर्यायका अलौकिक रहस्य प्रगट करनेवाला यह विषय पूर्ण होता है।

"केवलज्ञान" के साथ क्रमबद्धपर्यायकी
सन्धि करानेवाले यह तेरह प्रवचन
जयवंत प्रवर्तमान हों... ....
ज्ञायकस्वभाव और क्रमबद्धपर्यायका अलौकिक
रहस्य समझाकर,
केवलज्ञानको प्रकाशित करनेवाले
श्री कहान गुरुदेवकी जय हो....

अनेकान्तगर्भित सम्यक् नियतवाद

क्रमबद्धपर्यायके निर्णयमें आजानेवाला अनेकान्तवाद

वस्तुमें तीनोकालकी अवस्थाये क्रमबद्ध ही होती है; कोई अवस्था उलटी-सीधी नही होती—ऐसा ही वस्तुस्वभाव है। वस्तु-स्वभावके इस महान सिद्धान्तका महान रहस्य न समझनेवाले अज्ञानी लोग, इस पर मिथ्या नियतवाद अथवा एकान्तवाद होनेका आरोप करते है, यहाँ उसका निराकरण किया जाता है।

नियतके साथ ही पुरुषार्थ, ज्ञान, श्रद्धादि धर्म भी विद्यमान ही है। नियतस्वभावके निर्णयके साथ विद्यमान सम्यक् पुरुषार्थको-सम्यक् श्रद्धाको, सम्यक् ज्ञानको, स्वभावको—आदिको स्वीकार न करे तभी एकान्त नियतवाद कहलाता है।

अज्ञानी तो, नियत वस्तुस्वभावके निर्णयमे आ जानेवाला ज्ञानका पुरुपार्थ, सर्वज्ञके निर्णयका पुरुषार्थ, स्वसन्मुख श्रद्धा-ज्ञानादि-को स्वीकार करे विना ही नियतकी (-जैसा होना होगा सो होगा—ऐसी) वात करते है, इसलिये उनके तो एकात नियत कहा जाता है।

परन्तु ज्ञानी तो नियत वस्तुस्वभावके निर्णयमे साथ ही विद्यमान ऐसे सम्यक् पुरुषार्थको, स्वसन्मुख ज्ञान—श्रद्धाको, स्वभाव-को, कालको, निमित्तको—सभीको स्वीकार करते है, इसलिये वह मिथ्या नियत नही है परन्तु सम्यक् नियतवाद है, उसीमे अनेकान्तवाद आ जाता है।

नियतको और उसके साथ दूसरे अनियतको-(पुरुषार्थ, काल, स्वभाव, ज्ञान, श्रद्धा, निमित्तादिको) भी ज्ञानी स्वीकार करते है, इसलिये उनके नियत-अनियतका मेल हुआ। [यहाँ 'अनियत'-का अर्थ 'अक्रमबद्ध' नही समझना, परन्तु नियतके साथ विद्यमान

नियतके अतिरिक्त पुरुपार्थ आदि धर्मोको यहाँ 'अनियत' कहा है—ऐसा समझना ।] इस प्रकार वस्तुमे 'नियत' 'अनियत' दोनों धर्म एक समय एक साथ है इसलिये अनेकान्त स्वभाव है, और उसकी श्रद्धामें अनेकान्तवाद है ।

क्रमबद्धपर्यायमे पुरुषार्थ आदिका क्रम भी साथ ही है, इसलिये क्रमवद्धपर्यायकी प्रतीति भी आ ही जाती है । पुरुषार्थ कहीं क्रमबद्धपर्यायोसे दूर नही रह जाता; इसलिये नियतके निर्णयमें पुरुषार्थ उड़ नही जाता परन्तु साथ ही आ जाता है । इसलिये नियत स्वभावकी श्रद्धा वह अनेकान्तवाद है—ऐसा समझना । जो वस्तुकी पर्यायोका नियत-क्रमबद्ध होना न माने, अथवा तो क्रमवद्धपर्याय-के निर्णयमे विद्यमान सम्यक्-पुरुषार्थको न माने उसे अनेकान्तमय वस्तुस्वभावकी खबर नही है, वह मिथ्यादृष्टि है ।

(—श्री समयसार कलश २ पर
श्री पूज्य कानजीस्वामीके प्रवचनसे ।)

❀ अनेकान्त ❀

[प्रत्येक वस्तुको अनेकान्त 'अपनेसे पूर्ण' और 'परसे पृथक्' घोषित करता है]

प्रत्येक वस्तु अनेकान्तरूपसे निश्चित् होती है। एक वस्तुमें वस्तुपनेको उत्पन्न करनेवाली अस्ति-नास्ति आदि परस्पर विरुद्ध दो शक्तियोंका प्रकाशित होना सो अनेकान्त है। प्रत्येक वस्तु अपने रूप-से अस्तिरूप है और पररूपसे नास्तिरूप है; ऐसे अस्ति-नास्तिरूप अनेकान्त द्वारा प्रत्येक वस्तुका स्वरूप निश्चत् होता है। इसी न्यायसे, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार और द्रव्य-पर्याय, इस प्रत्येक बोलका स्वरूप भी अस्ति-नास्तिरूप अनेकान्त द्वारा निम्नानुसार निश्चित् होता है:—

निमित्त सम्बन्धी अनेकान्त

उपादान और निमित्त यह दोनो भिन्न-भिन्न पदार्थ है; दोनो पदार्थ अपने अपने स्वरूपसे अस्तिरूप है और दूसरेके स्वरूपसे नास्तिरूप है; इस प्रकार निमित्त स्व-रूपसे है और पर-रूपसे नही है; निमित्त निमित्तरूपसे है और उपादानरूपसे वह नास्तिरूप है। इसलिये उपादानमे निमित्तका अभाव है, इससे उपादानमे निमित्त कुछ नही कर सकता। निमित्त निमित्तका कार्य करता है, उपादान-का कार्य नही करता—ऐसा अनेकान्तस्वरूप है। ऐसे अनेकान्तस्वरूप-से निमित्तको जाने तभी निमित्तका यथार्थ ज्ञान होता है। 'निमित्त निमित्तका कार्य भी करता है और निमित्त उपादानका कार्य भी करता है'—ऐसा कोई माने तो उसका अर्थ यह हुआ कि निमित्त अपनेरूपसे अस्तिरूप है और पररूपसे भी अस्तिरूप है; ऐसा होने-से निमित्त पदार्थमे अस्ति-नास्तिरूप परस्पर विरुद्ध दो धर्म सिद्ध

नही हुए, इसलिए वह मान्यता एकान्त है। इसलिये 'निमित्त उपादान-का कुछ करता है'—ऐसा जिसने माना उसने अस्ति–नास्तिरूप अनेकान्त द्वारा निमित्तके स्वरूपको नही जाना किन्तु अपनी मिथ्या-कल्पनासे एकान्त मान लिया है; उसने उपादान—निमित्तकी भिन्नता, स्वतंत्रता नही मानी किन्तु उन दोनोकी एकता मानी है इसलिये उसकी मान्यता मिथ्या है।

उपादान सम्बन्धी अनेकान्त

उपादान स्व-रूपसे है और पररूपसे नही है; इस प्रकार उपादानका अस्ति–नास्तिरूप अनेकान्तस्वभाव है। उपादानके कार्य-मे उपादानके कार्यकी अस्ति है और उपादानके कार्यमे निमित्त-के कार्यकी नास्ति है।—ऐसे अनेकान्त द्वारा प्रत्येक वस्तुका भिन्न-भिन्न स्वरूप ज्ञात होता है, तो उपादानमे निमित्त क्या करे ? कुछ भी नही कर सकता। जो ऐसा जानता है उसने उपादानको अनेकात-स्वरूपसे जाना है; किन्तु 'उपादानमे निमित्त कुछ भी करता है'—ऐसा जो माने उसने उपादानके अनेकान्तस्वरूपको नही जाना है किन्तु एकान्तस्वरूपसे माना है; इसलिये उसकी मान्यता मिथ्या है। निश्चय–व्यवहार भी मिथ्या है।

निश्चय और व्यवहार सम्बन्धी अनेकान्त

उपादान–निमित्तकी भाँति निश्चय और व्यवहारका भी अनेकान्तस्वरूप है। निश्चय है वह निश्चयरूपसे अस्तिरूप है और व्यवहाररूपसे नास्तिरूप है, व्यवहार है वह व्यवहाररूपसे अस्तिरूप है और निश्चयरूपसे नास्तिरूप है। इस प्रकार कथंचित् परस्पर विरुद्ध दो धर्म होनेसे वह अनेकान्तस्वरूप है। निश्चय और व्यवहार का एक-दूसरेमे अभाव है, परस्पर लक्षण भी विरुद्ध है—ऐसा अनेकान्त बतलाता है, तब फिर व्यवहार निश्चयमें क्या करेगा ?

व्यवहार व्यवहारका कार्य करता है और निश्चयका कार्य नही करता, अर्थात् व्यवहार बन्धनका कार्य करता है और अबन्ध-

पनेका कार्य नहीं करता—ऐसा व्यवहारका अनेकान्तस्वभाव है। इसके बदले व्यवहार व्यवहारका भी कार्य करता है और व्यवहार निश्चयका कार्य भी करता है—ऐसा जो मानता है उसने व्यवहार-के अनेकान्तरूपको नही जाना है किन्तु व्यवहारको एकान्तरूप-से माना है। वह व्यवहाराभासमात्रका धारक मिथ्यादृष्टि है।

व्यवहार करते करते निश्चय होता है अर्थात् व्यवहार निश्चय-का कारण होता है—ऐसा माना उसने निश्चय और व्यवहारको पृथक् नही जाना किन्तु दोनोको एक ही माना है, इसलिये वह भी एकान्त मान्यता हुई।

द्रव्य और पर्याय सम्बन्धी अनेकान्त

द्रव्य-पर्याय सम्बन्धी अनेकान्तस्वरूप इस प्रकार है· द्रव्य द्रव्यरूपसे है और सम्पूर्ण द्रव्य एक पर्यायरूप नही है। पर्याय पर्याय-रूप है और एक पर्याय सम्पूर्ण द्रव्यरूप नही है। उसमे द्रव्यके आश्रय-से धर्म होता है, पर्यायके आश्रयसे धर्म नही होता। पर्यायबुद्धि-से धर्म होता है–ऐसा मानना वह एकान्त है। स्व-द्रव्यके आश्रयसे धर्म होता है उसके बदले अंशके-पर्यायके आश्रयसे जिसने धर्म माना उसकी मान्यतामें पर्यायने ही द्रव्यका काम किया अर्थात् पर्याय ही द्रव्य हो गई, उसकी मान्यतामें द्रव्य-पर्यायका अनेकान्तस्वरूप नही आया है। द्रव्यदृष्टिसे (द्रव्यके आश्रयसे) ही धर्म होता है और पर्यायबुद्धिसे धर्म नही होता—ऐसा मानना सो अनेकान्त है।

इस प्रकार एकान्त-अनेकान्तका स्वरूप समझना चाहिये।

जो जीव ऐसा अनेकान्त वस्तुस्वरूप समझे वह जीव निमित्त, व्यवहार या पर्यायका आश्रय छोडकर अपने द्रव्यस्वभावकी ओर ढले विना नही रहता; अर्थात् स्वभावके आश्रयसे उसे सम्यग्दर्शन, ज्ञानादि धर्म होते है। इस प्रकार अनेकान्तकी पहिचानसे धर्म-का प्रारम्भ होता है। जो जीव ऐसा अनेकान्तस्वरूप न जाने वह कभी परका आश्रय छोड़कर अपने स्वभावकी ओर नही ढलेगा, और न उसे धर्म होगा।

अनेकान्तका प्रयोजन

'हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि बाह्य व्यवहारके अनेक विधि-निषेधके कर्तृत्वकी महिमामे कोई कल्याण नही है । यह कही ऐकान्तिक दृष्टिसे लिखा है अथवा अन्य कोई हेतु है ऐसा विचार छोडकर उन वचनोसे जो भी अन्तर्मुखवृत्ति होनेकी प्रेरणा मिले उसे करनेका विचार रखना सो सुविचार दृष्टि है ।....वाह्य क्रियाके अन्तर्मुखदृष्टिहीन विधि-निषेधमे कुछ भी वास्तविक कल्याण नही है ।....अनेकान्तिक मार्ग भी सम्यक् एकान्त-निजपदकी प्राप्ति करानेके अतिरिक्त अन्य किसी भी हेतुसे उपकारी नही है; यह जानकर ही लिखा है । यह मात्र अनुकम्पाबुद्धिसे, निराग्रहसे, निष्कपट भावसे, निर्दम्भतासे और हितदृष्टिसे लिखा है; यदि इस प्रकार विचार करोगे तो यह यथार्थ दृष्टिगोचर होगा ।...."

(श्रीमद् राजचन्द्र, गु पृष्ठ ३४६-४७)

जीव और कर्म दोनों स्वतंत्र हैं

श्री अमितगति आचार्य कृत योगसार (-अर्थात् अध्यात्मतरंगिणी)-के नववे अधिकारकी ४६ वो गाथामें (पृष्ठ १८६) कहा है कि—

न कर्म हंति जीवस्य न जीवः कर्मणो गुणान् ।
वध्य घातक भावोऽस्ति नान्योन्यं जीव कर्मणोः ।। ४६ ।।

अर्थः—न तो कर्म जीवके गुणोंको नष्ट करता है और न जीव ही कर्मके गुणोंको नष्ट करता है इसलिये जीव और कर्मका आपसमे वध्य-घातक सम्बन्ध नही ।

भावार्थ—"वध्य-घातक भाव" नामक विरोधमें वध्यका अर्थ मरनेवाला और घातका अर्थ मारनेवाला है, यह विरोध अहिन-कुल, अग्नि-जल आदिमें देखनेमे आता है अर्थात् नोला सर्पको मार देता है इसलिये सर्प वध्य और नोला घातक कहा जाता है तथा जल अग्निको बुझा देता है इसलिये अग्नि वध्य और जल घातक होता है; यहाँ पर जीव और कर्मोमें यह विरोध देखनेमें नही आता, क्योकि यदि कर्म जीवके गुणोको नष्ट करता अथवा जीव कर्मके गुणोंको नष्ट करता तब तो जीव और कर्मंमे वध्य-घातक भाव नामक विरोध होता। सो तो है नही, इसलिये जीव और कर्ममे वध्य-घातक भाव नामक विरोध नही हो सकता ।

अनन्त पुरुषार्थ

> स्वभावका अनन्त पुरुषार्थ क्रमबद्धपर्यायकी श्रद्धामे आता है। क्रमबद्धपर्यायकी श्रद्धा नियतवाद नही किन्तु सम्यक्—पुरुषार्थवाद है।

(स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ३२१-३२२-३२३ पर पूज्य श्री कानजी स्वामीका प्रवचन)

['वस्तुकी पर्याय क्रमबद्ध ही होती है तथापि पुरुषार्थके बिना शुद्ध पर्याय प्रगट नही होती' इसी सिद्धान्त पर मुख्यतया यह प्रवचन है। इस प्रवचनमें निम्नलिखित विषयोंके स्वरूपका स्पष्टीकरण हो जाता है:—

१—पुरुषार्थ, २—सम्यग्दृष्टिकी धर्मभावना, ३-सर्वज्ञकी यथार्थ श्रद्धा, ४-द्रव्यदृष्टि, ५-जड़ और चेतन पदार्थोंकी क्रमबद्ध-पर्याय, ६-उपादान-निमित्त, ७-सम्यग्दर्शन, ८-कर्तृत्व और ज्ञातृत्व, १०-साधकदशा, ११-कर्ममें उदीरणा इत्यादिके प्रकार, १२-मुक्तिकी निःसन्देह प्रतिध्वनि, १३-सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि, १४-अनेकान्त और एकान्त, १५-पाँच समवाय, १६-अस्ति-नास्ति, १७-नैमित्तिक संबंध, १८-निश्चय-व्यवहार, १९-आत्मज्ञ और सर्वज्ञ, २०-निमित्तकी उपस्थिति होने पर भी निमित्तके बिना कार्य होता है। इसमें अनेक पहलुओसे—प्रकारान्तरसे बारंबार स्वतंत्र पुरुषार्थको सिद्ध किया है, और इस प्रकार पुरुषार्थस्वभावी आत्माकी पहचान कराई है। जिज्ञासु जन इस प्रवचनके रहस्यको समझकर आत्माके स्वतंत्र सत्य पुरुपार्थकी पहचान करके उस ओर उन्मुख हों यही भावना है।]

स्वामी कार्तिकेय आचार्यने तीन गाथाओमें यह बताया है कि सम्यग्दृष्टि जीव वस्तुस्वरूपका कैसा चिंतवन करते है, तथा किस प्रकार पुरुपार्थकी भावना करते है। यह विशेष ज्ञातव्य होनेसे यहाँ वर्णित किया जा रहा है। वे मूल गाथायें इस प्रकार हैं:—

जं जस्स जम्मिदेसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि ।
णाद जिणेण णियदं जम्मं वा अहव मरणं वा ।। ३२१ ।।
तं तस्स तम्मिदेसे तेणविहाणेण तम्मि कालम्मि ।
को सक्कइ चालेदुं इंदो वा अह जिणिदो वा ।। ३२२ ।।

अर्थ.—जिस जीवको जिस देशमें, जिस कालमे, जिस विधिसे जन्म-मरण, सुख-दुःख तथा रोग और दारिद्रच इत्यादि जैसे सर्वज्ञदेवने जाने है उसी प्रकार वे सब नियमसे होगे । सर्वज्ञदेव-ने जिस प्रकार जाना है उसी प्रकार उस जीवके उसी देशमे, उसी कालमे और उसी विधिसे नियम पूर्वक सब होता है, उसके निवारण करनेके लिए इन्द्र या जिनेन्द्र तीर्थकरदेव कोई भी समर्थ नही है ।

भावार्थः—सर्वज्ञदेव समस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अवस्थाओको जानते है । सर्वज्ञके ज्ञानमे जो कुछ प्रतिभासित हुआ है, वह सब निश्चयसे होता है; उसमे हीनाधिक कुछ भी नही होता इस प्रकार सम्यग्दृष्टि विचार करता है ।

(स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा पृष्ठ १२५)

इस गाथामे यह बताया है कि सम्यग्दृष्टिकी धर्मानुप्रेक्षा कैसी होती है । सम्यग्दृष्टि जीव वस्तुके स्वरूपका किस प्रकार चित-वन करता है यह बात यहाँ बताई है । सम्यग्दृष्टिकी यह भावना दुःख-मे धीरज दिलानेके लिये अथवा झूठा आश्वासन देनेके लिये नही है किन्तु जिनेन्द्रदेवके द्वारा देखा गया वस्तुस्वरूप जिस प्रकार है उसी प्रकार स्वय चितवन करता है; वस्तुस्वरूप ऐसा ही है, वह कोई कल्पना नही है । यह धर्मकी बात है । 'जिस कालमे जो होने-वाली अवस्था सर्वज्ञभगवानने देखी है उस कालमे वही अवस्था होती है दूसरी नही होती' इसमे एकान्तवाद या नियतवाद नहीं है किन्तु इसीमे सच्चा अनेकान्तवाद और सर्वज्ञताकी भावना तथा ज्ञान-का अनन्त पुरुषार्थ आ जाता है ।

आत्मा सामान्य-विशेषस्वरूप वस्तु है, अनादि अनन्त ज्ञान-

स्वरूप है, उस सामान्य और उस ज्ञानमेंसे समय समय पर जो पर्याय होती है वह विशेष है। सामान्य स्वयं ध्रुव रहकर विशेषरूपमें परिणमन करता है; उस विशेष पर्यायमें यदि स्वरूपकी रुचि करे तो समय समय पर विशेषमें शुद्धता होती है, और यदि उस विशेष पर्यायमें ऐसी विपरीत रुचि करे कि 'जो रागादि, देहादि है वह मैं हूं' तो विशेषमें अशुद्धता होती है। इस प्रकार यदि स्वरूपकी रुचि करे तो शुद्ध पर्याय क्रमबद्ध प्रगट होती है; और यदि विकारकी—परकी रुचि होती है तो अशुद्ध पर्याय क्रमवद्ध प्रगट होती है; चैतन्यकी क्रमबद्धपर्यायमें अन्तर नही पड़ता, किन्तु क्रमबद्धका ऐसा नियम है कि जिस ओरकी रुचि करता उस तरफकी क्रमबद्ध दशा होती है, जिसे क्रमबद्धपर्यायकी श्रद्धा होती है उसे द्रव्यकी रुचि होती है और जिसे द्रव्यकी रुचि होती है उसकी क्रमबद्धपर्याय शुद्ध ही होती है; अर्थात् सर्वज्ञभगवानके ज्ञानके अनुसार क्रमबद्धपर्याय ही होती है उसमें कोई अन्तर नही पड़ता। इतना निश्चय करनेमें द्रव्यकी ओरका अनन्त पुरुषार्थ आ जाता है। यहाँ पर्यायका क्रम नही वदलना है किन्तु अपनी ओर रुचि करनी है।

प्रश्नः—जगतके पदार्थोंकी अवस्था क्रमबद्ध होती है। जड़ अथवा चेतन इत्यादि सभीमे एकके बाद दूसरी क्रमबद्ध अवस्था श्री सर्वज्ञदेवने देखी है उसीके अनुसार अनादि अनन्त समयबद्ध होती है, तब फिर इसमे पुरुषार्थ करनेकी बात ही कहाँ रही?

उत्तरः—मात्र आत्माकी ओरका ही पुरुषार्थ किया जाता है तब ही क्रमवद्धपर्यायकी श्रद्धा होती है। जिसने अपने आत्मामें क्रमवद्धपर्यायका निर्णय किया कि अहो! जड़ और चैतन्य सभीकी अवस्था क्रमवद्ध स्वयं हुआ करती है, मै परमे क्या कर सकता हूँ? मेरा ऐसा स्वरूप है कि मात्र जैसा होता है मै वैसा ही जानता हूँ; ऐसे निर्णयमे परकी अवस्थामे अच्छा-बुरा मानना नही रह जाता किन्तु ज्ञातृत्व ही रहता है, अर्थात् विपरीत मान्यता और

अनन्तानुवन्धी कषायका नाश हो जाता है। अनन्त पर द्रव्यके कर्तृत्व-का महा मिथ्यात्वभाव दूर होकर अपने ज्ञातास्वभावकी अनन्त दृढता हो गई। ऐसा अपनी ओरका अनन्त पुरुषार्थ क्रमबद्धपर्यायकी श्रद्धामे हुआ है।

समस्त द्रव्योकी अवस्था क्रमबद्ध होती है। मै उसे जानता हूँ किन्तु मै किसीका कुछ नही करता ऐसी मान्यताके द्वारा मिथ्यात्व-का नाश करके परसे पुनरावृत्त होकर जीव अपनी ओर झुकता है। सर्वज्ञदेवके ज्ञानमे जो प्रतिभासित हुआ है उसमें कोई अन्तर नही पडता, समस्त पदार्थोकी समय समय पर जो अवस्था क्रमवद्ध होती है वही होती है, ऐसे निर्णयमे सम्यग्दर्शन भी आ जाता है। इसमे पुरुषार्थ किस प्रकार आया सो बतलाते है।

१—परकी अवस्था उसके क्रमानुसार होती ही रहती है, मै परका कुछ नही करता यह निश्चय किया कि सभी द्रव्योका अभिमान दूर हो जाता है।

२—विपरीत मान्यताके कारण परकी अवस्थामे अच्छा बुरा मानकर जो अनन्तानुवन्धी राग-द्वेष करता था वह दूर हो गया। इस प्रकार क्रमवद्धपर्यायकी श्रद्धा करने पर परद्रव्यके लक्षसे हटकर स्वय राग-द्वेष रहित अपने ज्ञातास्वभावमे आ गया अर्थात् अपने हितके लिये परमुखापेक्षा रुक गई और ज्ञान अपनी ओर प्रवृत्त हो गया। अपने द्रव्यमें भी एकके बाद दूसरी अवस्था क्रमबद्ध होती है। मै तो तीनोकालकी क्रमबद्ध अवस्थाओका पिण्डरूप द्रव्य हूँ, वस्तु तो ज्ञाता ही है, एक अवस्था जितनी वस्तु नही है, अवस्थामे जो राग-द्वेप होता है वह पर वस्तुके कारण नही किन्तु वर्तमान अवस्थाकी दुर्बलतासे होता है, उस दुर्बलताको भी देखना नही रहा किन्तु पुरुषार्थसे परिपूर्ण ज्ञातास्वरूपमे ही देखना रहा। उस स्वरूपके लक्षसे पुरुषार्थकी दुर्बलता अल्प कालमे टूट जायेगी।

क्रमबद्धपर्याय द्रव्यमेंसे आती है, पर पदार्थमेंसे नहीं आती, तथा एक पर्यायमेंसे दूसरी पर्याय प्रगट नहीं होती इसलिये अपनी पर्यायके लिये पर द्रव्यकी ओर अथवा पर्यायको नहीं देखना रहा किन्तु मात्र ज्ञातास्वरूपको ही देखना रहा। जिसकी ऐसी दशा हो जाती है, समझना चाहिये कि उसने सर्वज्ञके ज्ञानके अनुसार क्रमबद्धपर्यायका निर्णय किया है।

प्रश्नः—सर्वज्ञभगवानने देखा हो तभी तो आत्माकी रुचि होती है न ?

उत्तरः—यह किसने निश्चय किया कि सर्वज्ञभगवान सब कुछ जानते है ? जिसने सर्वज्ञभगवानकी ज्ञानशक्तिको अपनी पर्यायमे निश्चित् किया है उसकी पर्याय ससारसे और रागसे हटकर अपने स्वभावकी ओर लग गई है; तभी तो वह सर्वज्ञका निर्णय करता है। जिसकी पर्याय ज्ञानस्वभावकी ओर हो गई है उसे आत्माकी ही रुचि होती है। जिसने यह यथार्थतया निश्चय किया कि 'अहो ! केवलीभगवान तीनकाल और तीनलोकके ज्ञाता हैं; वे अपने ज्ञानसे सब कुछ जानते है किन्तु किसीका कुछ नही करते,' उसने अपने आत्माको ज्ञातास्वभावके रूपमे मान लिया और उसकी तीनकाल और तीनलोकके समस्त पदार्थोकी कर्तृत्वबुद्धि दूर हो गई है अर्थात् अभिप्रायकी अपेक्षामे वह सर्वज्ञ हो गया है। ऐसा स्वभावका अनंत पुरुषार्थ क्रमबद्धपर्यायकी श्रद्धामे आता है। क्रमबद्धपर्यायकी श्रद्धा एकान्त नियतवाद नहीं है किन्तु पाँचो समवाय सहित सम्यक् पुरुषार्थवाद है।

प्रस्तुत द्रव्योकी एकके बाद दूसरी जो अवस्था होती है उसका कर्ता स्वय वही द्रव्य होता है; किन्तु मै उसका कर्ता नही हूँ और न मेरी अवस्थाको कोई अन्य करता है। किसी निमित्तकारणसे राग-द्वेप नही होते। इस प्रकार निमित्त और राग-द्वेपको जाननेवाली मात्र स्वसन्मुख ज्ञानकी अवस्था रह जाती है, वह अवस्था ज्ञाता-

स्वरूपको जानती है, रागको जानती है और सभी परको भी जानती है, मात्र जानना ही ज्ञानका स्वरूप है। जो राग होता है वह ज्ञानका ज्ञेय है किन्तु राग उस ज्ञानका स्वरूप नही है—ऐसी श्रद्धामें ज्ञानका अनन्त पुरुषार्थ समाविष्ट रहता है। यह समझनेके लिये ही आचार्यदेवने यहाँ पर दो गाथाये देकर वस्तुस्वरूप बताया है। सम्यग्दृष्टिको अभी केवलज्ञान नही हुआ इससे पूर्व अपने केवलज्ञान की भावनाको करता हुआ वस्तुस्वरूपका विचार करता है। सर्वज्ञताके होने पर वस्तुस्वरूप कैसा ज्ञात होगा इसका चितवन करता है।

आत्माकी अवस्था क्रमबद्ध होती है। जब आत्माकी जो अवस्था होती है तब उस अवस्थाके लिये अनुकूल निमित्तरूप पर वस्तु स्वय उपस्थित होती ही है। आत्माकी क्रमबद्ध पर्यायकी जो योग्यता हो उसके अनुसार यदि निमित्त न आये तो वह पर्याय कही अटक जायगी सो वात नही है। यह प्रश्न ही अज्ञानसे परिपूर्ण है कि यदि निमित्त न होगा तो यह कैसे होगा, उपादानस्वरूपकी दृष्टिवालेके यह प्रश्न ही नही उठ सकता। वस्तुमे अपने क्रमसे जब अवस्था होती है तब निमित्त होता ही है, ऐसा नियम है।

धूप परमाणुकी ही प्रकाशमान दशा है और छाया भी परमाणुकी काली दशा है। परमाणुमे जिस समय काली अवस्था होनी होती है उसी समय काली अवस्था उसके द्वारा स्वयं होती है; और उस समय सामने दूसरी वस्तु उपस्थित होती है। परमाणुकी काली दशाके क्रमको बदलनेके लिये कोई समर्थ नही है। धूपमें बीचमें हाथ रखने पर नीचे जो परछाई पडती है वह हाथके कारण नही होती, किन्तु वहाँके परमाणुकी ही उस उस समय क्रमवद्ध अवस्था काली होती है। अमुक परमाणुओमे दोपहरको ३ वजे काली अवस्था होनी है ऐसा सर्वज्ञदेवने देखा है और यदि उस समय हाथ न आये तो उन परमाणुओकी ३ वजे होनेवाली दशा अटक जायगी ? नही ! ऐसा वनता ही नही। परमाणुओमें ठीक ३ वजे काली अवस्था होनी हो, तो ठीक उसी समय हाथ इत्यादि निमित्त

स्वयं उपस्थित होते ही है; सर्वज्ञदेवने अपने ज्ञानमें यह देखा हो कि ३ बजे अमुक परमाणुओंकी काली अवस्था होनी है और यदि निमित्त-का अभाव होनेसे अथवा निमित्तके विलम्बसे आनेके कारण वह अवस्था विलम्बसे हो तो सर्वज्ञका ज्ञान गलत ठहरेगा; किन्तु यह असंभव है। जिस समय वस्तुकी जो क्रमबद्ध अवस्था होनी होती है उस समय निमित्त उपस्थित न हो, यह हो ही नही सकता। निमित्त होता तो है किन्तु वह कुछ करता नही है।

यहाँ पर पुद्गलका दृष्टांत दिया गया है, इसी प्रकार अब जीव-का दृष्टांत देकर समझाते है। किसी जीवके केवलज्ञान प्रगट होना हो और शरीरमें वज्रवृषभनाराचसंहनन न हो तो केवलज्ञान रुक जायगा ऐसी मान्यता विलकुल असत्य पराधीनदृष्टिकी हैं। जीव केवलज्ञान प्राप्त करनेकी तैयारीमे हो और शरीरमें वज्रवृषभनाराचसंहनन न हो ऐसा कदापि हो ही नही सकता। जहाँ उपादान स्वयं सन्नद्ध हो वहाँ निमित्त स्वयं उपस्थित होता ही है। जिस समय उपदान कार्यरूपमें परिणमित होता है उसी समय दूसरी वस्तु निमित्तरूप उपस्थित होती है, निमित्त वादमें आता हो सो वात नही है। जिस समय उपादान-का कार्य होता है उसी समय निमित्तकी उपस्थिति भी होती है; ऐसा होने पर भी निमित्त उपादानके कार्यमें किसी भी प्रकारकी सहायता, असर, प्रभाव अथवा परिर्वतन नही करता। यह नहीं हो सकता कि निमित्त न हो; और निमित्तसे कार्य हो ऐसा भी नही हो सकता। चेतन अथवा जड़ द्रव्यमे उसकी अपनी जो क्रमबद्ध अवस्था जब होनी होती है तव अनुकूल निमित्त उपस्थित होते है। ऐसा जो स्वाधीनदृष्टिका विषय है उसे सम्यग्दृष्टि ही जानता है, मिथ्यादृष्टियोंको वस्तुकी स्वतन्त्रताकी प्रतीति नही होती इसलिये उनकी दृष्टि निमित्त पर जाती है।

अज्ञानीको वस्तुस्वरूपका यथार्थ ज्ञान नही है इसलिये वस्तु-की क्रमवद्धपर्यायमे शंका करता है कि यह ऐसा कैसे हो गया? उसे सर्वज्ञके ज्ञानकी और वस्तुकी स्वतंत्रताकी प्रतीति नही है; ज्ञानीको

वस्तुस्वरूपमें शंका नही होती । वह जानता है कि जिस कालमें जिस वस्तुकी जो पर्याय होती है वह उसकी क्रमबद्ध अवस्था है, मैं तो मात्र जाननेवाला हूं; इसप्रकार ज्ञानीको अपने ज्ञातृत्वस्वभावकी प्रतीति है । इसलिये सर्वज्ञभगवानके द्वारा जाने गये वस्तुस्वरूपका चिंतवन करके वह अपने ज्ञानकी भावनाको बढ़ाता है कि जिस समय जो जैसा होता है उसका मैं वैसा ज्ञायक ही हूॅ; अपने ज्ञायक-स्वरूपकी भावना करते करते मेरा केवलज्ञान प्रगट हो जायगा ।

ऐसी भावना केवली भगवानके नही होती किन्तु जिसे अभी अल्प राग-द्वेष होता है ऐसे चौथे, पाॅचवे और छट्ठे गुणस्थानवाले ज्ञानी-की धर्मभावनाका यह विचार है; इसमे यथार्थ वस्तुस्वरूपकी भावना है यह कोई मिथ्या कल्पना या दु:खके आश्वासनके लिये नही है । सम्यग्दृष्टि किसी भी सयोग–वियोगको आपत्तिका कारण नही मानते किन्तु ज्ञानकी अपूर्णदशाके कारण अपनी दुर्बलतासे अल्प राग–द्वेष होता है—उस समय सम्पूर्ण ज्ञानदशा किस प्रकार की होती है उसका वे इस तरह चितवन करते है ।

जिस कालमें जिस वस्तुकी जो अवस्था सर्वज्ञदेवके ज्ञानमे ज्ञात हुई है उसी प्रकार क्रमबद्ध अवस्था होगी । भगवान तीर्थंकरदेव भी उसे बदलनेमें समर्थ नही है, देखिये इसमे सम्यग्दृष्टिकी भावना-की नि:शंकताका कितना बल है । भगवान भी उसे बदलनेमे समर्थ नही है' यह कहनेमें वास्तवमे अपने ज्ञानकी नि:शंकता ही है । सर्वज्ञदेव मात्र ज्ञाता है किन्तु वे किसी भी तरहका परिवर्तन करने-मे समर्थ नही है, तव फिर मै तो कर ही क्या सकता हूॅ ? मै भी मात्र ज्ञाता ही हूॅ, इस प्रकार अपने ज्ञानकी पूर्णताकी भावनाका बल ह ।

जिस क्षेत्रमे जिस शरीरके जीवन या मरण, सुख या दु:ख-का संयोग इत्यादि जिस विधिसे होना है उसमे किंचित् मात्र भी अन्तर नही आ सकता । साॅपका काटना, पानीमे डूबना, अग्निमे जलना

इत्यादि जो संयोग होना है उसे बदलनेमे कोई भी तीनकाल और तीन-लोकमे समर्थ नही है। स्मरण रहे कि इसमें महानतम सिद्धान्त निहित है जो कि मात्र पुरुषार्थको सिद्ध करता है। इसमे स्वामी कार्तिकेय आचार्यने बारह भावनाका स्वरूप वर्णित किया है। वे महा सन्तमुनि थे, वे दो हजार वर्ष पूर्व हो गये है। वस्तुस्वरूपको दृष्टिमें रखकर इस शास्त्रमें भावनाओंके स्वरूपका वर्णन किया गया है। यह शास्त्र सनातन जैन परस्परामे वहुत प्रचीन माना जाता है। स्वामी कार्तिकेयके सम्वन्धमे श्रीमद् राजचन्द्रने भी कहा है कि–'नमस्कार हो उन स्वामी कार्तिकेयको'। इन महा सन्तमुनिके कथनमे वहुत गहन रहस्य भरा हुआ है।

'जो जिस जीवके' अर्थात् सभी जीवोके लिये यही नियम है कि जिस जीवको जिस कालमें जीवन, मरण इत्यादिका कोई भी संयोग, सुख–दु.खका निमित्त आने वाला है उसमे परिवर्तन करनेके लिये देवेन्द्र, नरेन्द्र अथवा जिनेन्द्र इत्यादि कोई भी समर्थ नही है। यह सम्यग्दृष्टि जीवके यथार्थज्ञानकी पूर्णताकी भावनाका विचार है। वस्तुका स्वरूप ही ऐसा है, उसे अपने ज्ञानसे लिया जाता है किन्तु किसी सयोगके भयसे आड़ लेनेके लिये यह विचार नही है। एक पर्यायमे तीन काल और तीन लोकके पदार्थोका ज्ञान इस प्रकार ज्ञात हो जाय सम्यग्दृष्टि इसका विचार करता है।

यहाँ सुख–दु.खके सयोगकी बात की गई है। संयोगके समय भीतर स्वय जो शुभ या अशुभभाव होता है वह आत्माके वीर्यका कार्य है। पुरुषार्थकी दुर्वलतासे राग–द्वेष होता है, वहाँ सम्यग्दृष्टि अपनी पर्यायकी हीनताको स्व–लक्षसे जानता है, वह यह नही मानता कि सयोगके कारणसे निजको राग–द्वेप होता है; किन्तु वह यह मानता है कि जैसा सर्वज्ञदेवने देखा है वैसा ही सयोग-वियोग क्रमश होता है। मिथ्यादृष्टि जीव यह मानता है कि पर-संयोगके कारणसे निजको राग–द्वेष होता है इसलिये वह संयोगको वदलना चाहता है, उसे वीतरागशासनके प्रति श्रद्धा नही है।

उसे सर्वज्ञके ज्ञानकी भी श्रद्धा नही है, क्योंकि जो कुछ होता है वह सब सर्वज्ञदेवके ज्ञानके अनुसार होता है फिर भी वह शंका करता है कि ऐसा क्योंकर हुआ ? यदि उसे सर्वज्ञकी श्रद्धा हो तो उसे यह निश्चय करना चाहिये कि जो कुछ सर्वज्ञदेवने देखा है उसीके अनुसार सब कुछ होता है, और ऐसा होनेसे यह मान्यता दूर हो जाती है कि सयोगके कारण अपनेमे राग-द्वेष होता है। और यह मान्यता भी दूर हो जाती है कि मै सयोगको बदल सकता हूँ। जो इस सम्बन्धमे थोडा-सा भी अन्यथा मानता है, समझना चाहिये कि उसे वीतरागशासनके प्रति थोडी भी श्रद्धा नही है।

जिस जीवको जिस निमित्तके द्वारा जो अन्न-जल मिलना होता है उस जीवको उसी निमित्तके द्वारा वे ही रजकण मिलेंगे, उसमे एक समयमात्र अथवा एक परमाणुमात्रका परिवर्तन करनेके लिये कोई समर्थ नही है। जीवन-मरण, सुख-दुःख और दरिद्रता इत्यादि जो जब जैसा होने वाला है वैसा ही होगा, उसमे लाख प्रकारकी सावधानी रखनेपर भी किंचित् मात्र परिवर्तन नही हो सकता; उसे इन्द्र, नरेन्द्र, अथवा जिनेन्द्र आदि कोई भी बदलनेमे समर्थ नही है। इसमे नियतवाद नही है किन्तु मात्र ज्ञायकपनका पुरुषार्थवाद ही है।

'जैसा सर्वज्ञभगवानने देखा है वैसा ही होता है, उसमे किंचित् मात्र भी परिवर्तन नही होता' ऐसी दृढ प्रतीतिको नियतवाद नही कहते किन्तु यह तो सम्यग्दृष्टि धर्मात्माका पुरुषार्थवाद है। सम्यग्दर्शनके बिना यह बात नही जमती। परमे कुछ नही देखना है किन्तु निजमे ही देखना है। जिसकी दृष्टि मात्र परपदार्थ परही है उसे भ्रमसे ऐसा लगता है कि यह तो नियतवाद है; किन्तु यदि स्व-वस्तुकी ओरसे देखे तो उसमे मात्र स्वाधीन तत्त्वदृष्टिका पुरुषार्थ ही भरा हुआ है, वस्तुका परिणमन सर्वज्ञके ज्ञानके अनुसार क्रमबद्ध होता है, जहाँ ऐसा निश्चय किया कि जीव समस्त पर

द्रव्योंसे उदास हो जाता है और इसलिये उसे द्रव्यमे ही देखना होता है और उसीमे सम्यक् पुरुषार्थ आ जाता है। इस पुरुषार्थमें मोक्षके पाँचो समवाय समाविष्ट हो जाते है। इस क्रमबद्धपर्याय-की श्रद्धाके भाव सर्वज्ञभगवानके ज्ञानका अवलम्बन करनेवाले है; यह भाव तीनकाल और तीनलोकमे बदलनेवाले नही है। यदि सर्वज्ञका केवलज्ञान गलत हो जाय तो यह भाव बदले, जो कि सर्वथा अशक्य है। जगत जगत ही है; यदि जगतके जीवोके यह बात नही बैठती तो इससे क्या ? जो वस्तुस्वरूप सर्वज्ञदेवने देखा है वह कभी नही बदल सकता। जैसा सर्वज्ञदेवने देखा है वैसा ही होता है, इसमें जो शंका करता है वह मिथ्यादृष्टि है। निमित्त और संयोगमे मै परिर्वतन कर सकता हूँ ऐसा माननेवाला सर्वज्ञके ज्ञानमें शंका करता है, और इसलिये वह प्रगटरूप मिथ्यादृष्टि अज्ञानी मूढ़ है।

अहो ! इस एक सत्यको समझ लेने पर जगतके समस्त द्रव्यों-के प्रति कितना उदासीनभाव हो जाता है। चाहे कम खानेका भाव करे या अधिक खानेका भाव करे, किन्तु जितने और जो पर-माणु आना है इतने और वे हीं परमाणु आयेगे, उनमेसे एक भी परमाणुको वदलनेमे कोई जीव समर्थ नही है। बस, ऐसा जानकर शरीरका और परका कर्तृत्व छूटकर ज्ञानस्वभावकी प्रतीति होनी चाहिये। इसे माननेमें अनन्त वीर्य अपनी ओर कार्य करता है। जो जीव परका कर्तृत्व अन्तरगसे मानता हो, परमें सुखबुद्धि हो और कहे कि जो होना है सो होगा, यह तो शुष्कता है; यह बात ऐसी नही है। जव अनन्त पर द्रव्योसे पृथक् होकर जीव मात्र स्वभावमे संतोष मानता है तव यह वात यथार्थ बैठती है, इसकी स्वीकृतिमें तो सभी पर पदार्थोसे हटकर ज्ञान, ज्ञानमे ही लगता है, अर्थात् मात्र वीतरागभावका पुरुषार्थ प्रगट हुआ है। नरेन्द्र, देवेन्द्र अथवा जिनेन्द्र तीनकाल और तीनलोकमे एक परमाणुको भी बदलनेमे समर्थ नही है। जिसके ऐसी प्रतीति है वह ज्ञानकी ओर उन्मुख हुआ है और

उसे सम्यग्दर्शन प्राप्त है, वह क्रमशः ज्ञानकी दृढताके बलसे रागका नाश करके अल्प कालमें ही केवलज्ञानको प्राप्त कर लेगा, क्योंकि यह निश्चय किया हुआ है कि सब कुछ क्रमबद्ध ही होता है इसलिये वह अब ज्ञाताभावसे जानता ही है, ज्ञानकी एकाग्रताकी कचाईके कारण वर्तमानमे कुछ अपूर्ण जानता है और अल्प राग-द्वेष भी होता है, परन्तु मै तो ज्ञान ही हूँ ऐसी श्रद्धाके बलसे पुरुषार्थकी पूर्णता करके केवलज्ञान प्राप्त कर लेगा; इसलिये 'मै तो ज्ञातास्वरूप हूँ, पर पदार्थोकी क्रिया स्वतंत्र होती है उसका मै कर्ता नही हूँ किन्तु ज्ञाता ही हूँ' इस प्रकारकी यथार्थ श्रद्धा ही केवलज्ञानको प्रगट करनेका एकमात्र अपूर्व और अफर (अप्रतिहत) उपाय है ।

जो कुछ वस्तुमे होता है वह सब केवली जानते है और जो कुछ केवलीने जाना है वह सब वस्तुमे होता है। इस प्रकार ज्ञेय और ज्ञायकका परस्पर मेल—संबध है । यदि ज्ञेय ज्ञायकका मेल न माने और कर्ता–कर्मका किंचितमात्र भी मेल माने तो वह जीव मिथ्यादृष्टि है । केवलज्ञानी सम्पूर्ण ज्ञायक है, उनके किसी भी पदार्थके प्रति कर्तृत्व या राग-द्वेषभाव नही होता। सम्यग्दृष्टिके भी ऐसी श्रद्धा होती है कि केवलज्ञानीकी तरह मै भी ज्ञाता ही हूँ; मैं किसी भी वस्तुका कुछ नही कर सकता तथा किसी वस्तुके कारण मुझमे कुछ परिवर्तन नही होता, यदि अस्थिरतासे राग हो जाय तो वह मेरा स्वरूप नही है । इस प्रकार श्रद्धाकी अपेक्षासे सम्यग्दृष्टि भी ज्ञायक ही है । जिसने यह माना कि नियमपूर्वक वस्तुकी क्रमबद्धदशा होती है वह वस्तुस्वरूपका ज्ञाता है ।

हे भाई! यह नियतवाद नही है, किन्तु अपने ज्ञानमे समस्त पदार्थोके नियति (क्रमबद्ध अवस्थाओं)का निर्णय करनेवाला पुरुषार्थ-वाद है । जब कि समस्त पदार्थोकी क्रमबद्ध अवस्था होती है तो मै उसके लिये क्या करूँ ? मै किसीकी अवस्थाका क्रम बदलनेके लिये समर्थ नही हूँ, मेरी क्रमबद्ध अवस्था मेरे द्रव्यस्वभावमेसे प्रगट होती है, इसलिये मै अपने द्रव्यस्वभावमे एकाग्र रहकर सबका ज्ञाता

ही हूँ—ऐसी स्वभावदृष्टि (द्रव्यदृष्टि)मे अनत पुरुषार्थ आ जाता है।

प्रश्न.—जब कि सभी क्रमबद्ध है और उसमे जीव कोई भी परिवर्तन नही कर सकता तो फिर जीवमे पुरुषार्थ कहाँ रहा ?

उत्तर.—सब कुछ क्रमबद्ध है, इस निर्णयमे ही जीवका अनन्त पुरुषार्थ समाविष्ट है, किन्तु उसमे कोई परिवर्तन करना आत्माके पुरुषार्थका कार्य नही है। भगवान जगतका सब कुछ मात्र जानते ही है किन्तु वे भी कोई परिवर्तन नही कर सकते, तब क्या इससे भगवानका पुरुषार्थ परिमित हो गया ? नही, नही, भगवानका अनत अपरिमित पुरुषार्थ अपने ज्ञानमे समाविष्ट है। भगवानका पुरुषार्थ निजमे है, परमे नही। पुरुषार्थ जीवद्रव्यकी पर्याय है इसलिये उसका कार्य जीवकी पर्यायमे होता है किन्तु जीवके पुरुषार्थका कार्य परमे नही होता।

जो यह मानता है कि सम्यग्दर्शन और केवलज्ञानदशा आत्माके पुरुषार्थके विना होती है वह मिथ्यादृष्टि है। ज्ञानी प्रतिक्षण स्वभावकी पूर्णताके पुरुषार्थकी भावना करता है। अहो ! जिनका पूर्ण ज्ञायकस्वभाव प्रगट हो गया है वे केवलज्ञानी है; उनके ज्ञानमें सब कुछ एक ही साथ ज्ञात होता है। ऐसी प्रतीति करने पर स्वय भी निज दृष्टिसे देखनेवाला ही रहा, ज्ञानके अतिरिक्त परका कर्तृत्व अथवा रागादिक सब कुछ अभिप्रायमेसे दूर हो गया। ऐसी द्रव्यदृष्टिके बलसे ज्ञानकी पूर्णताकी भावनासे वस्तुस्वरूपका चितवन करता है। यह भावना ज्ञानीकी है, अज्ञानी मिथ्यादृष्टिकी नही है; क्योकि मिथ्यादृष्टि जीव परका कर्तृत्व मानता है और कर्तृत्वकी मान्यतावाला जीव ज्ञातृत्वकी यथार्थ भावना नही कर सकता, क्योकि कर्तृत्व और ज्ञातृत्वका परस्पर विरोध है।

'सर्वज्ञभगवानने अपने केवलज्ञानमे जैसा देखा है वही होता है। यदि हम उसमे कोई परिवर्तन नही कर सकते तो फिर उसमे पुरुषार्थ नही रहता,' इसप्रकार जो मानते है वे अज्ञानी है। हे भाई ! तू किसके ज्ञानसे बात करता है ? अपने ज्ञानसे या दूसरेके ज्ञान-

से ? यदि तू अपने ज्ञानसे ही बात करता है तो फिर जिस ज्ञान-ने सर्वज्ञका और सभी द्रव्योंकी अवस्थाका निर्णय कर लिया उस ज्ञानमें स्वद्रव्यका निर्णय न हो यह हो ही कैसे सकता है ? स्वद्रव्य-का निर्णय करनेवाले ज्ञानमे अनन्त पुरुपार्थ है ।

तूने अपने तर्कमे कहा है कि 'सर्वज्ञभगवानने अपने केवल-ज्ञानमें जैसा देखा हो वैसा होता है', तो वह मात्र बात करनेके लिये कहा है—अथवा तुझे सर्वज्ञके केवलज्ञानका निर्णय है । पहले तो यदि तुझे केवलज्ञानका निर्णय न हो तो सर्वप्रथम वह निर्णय कर और यदि तू सर्वज्ञके निर्णयपूर्वक कहता हो तो सर्वज्ञभगवानके केवलज्ञानके निर्णयवाले ज्ञानमे अनन्त पुरुषार्थ आ ही जाता है । सर्वज्ञका निर्णय करनेमें ज्ञानका अनन्तवीर्य कार्य करता है तथापि उससे इन्कार करके तू कहता है कि क्रमवद्धपर्यायमे पुरुषार्थ कहाँ रहा ? सच तो यह है कि तुझे पूर्ण केवलज्ञानके स्वरूपकी ही श्रद्धा नही है, और केवलज्ञानको स्वीकार करनेका अनन्त पुरुषार्थ तुझमें प्रगट नही हुआ । केवलज्ञानको स्वीकार करनेमे अनन्त पुरुपार्थका अस्तित्व आ जाता है तथापि यदि उसे स्वीकार नही करता तो कहना होगा कि तू मात्र वाते ही करता है किन्तु तुझे सर्वज्ञका निर्णय नही हुआ । यदि सर्वज्ञका निर्णय हो तो पुरुषार्थकी और भवकी शंका न रहे । यथार्थ निर्णय हो जाय और पुरुषार्थ न आये यह हो ही नही सकता ।

अनन्त पदार्थोको जाननेवाले, अनन्त पदार्थोसे परिपूर्ण और भवरहित केवलज्ञानका जिस ज्ञानने अपने पुरुषार्थके द्वारा निर्णय किया उस ज्ञानने अपने पुरुषार्थके द्वारा निर्णय किया है या बिना ही पुरुषार्थके ? जिसने भवरहित केवलज्ञानको प्रतीतिमे लिया है उसने रागमे लिप्त होकर प्रतीति नही की किन्तु रागसे पृथक् करके अपने ज्ञानस्वभावमे स्थिर होकर भवरहित केवलज्ञानकी प्रतीति की है । जिस ज्ञानने ज्ञानमे स्थिर होकर भवरहित केवलज्ञान-

की प्रतीति की है वह ज्ञान स्वयं भवरहित है और इसलिये उस ज्ञान-में भवकी शंका नही है । पहले केवलज्ञानकी प्रतीति नही थी तब वह अनंत भवकी शंकामे झूलता रहता था और अब प्रतीति होने पर अनंत भवकी शका दूर हो गई है और एकाध भवमें मोक्षके लिये ज्ञान नि:शंक हो गया है । उस ज्ञानमें अनन्त पुरुपार्थ निहित है । इस प्रकार 'सर्वज्ञभगवानने अपने केवलज्ञानमें जैसा देखा हो वैसा ही होता है,' ऐसी यथार्थ श्रद्धामे अपनी भवरहिततताका निर्णय समाविष्ट हो जाता है, अर्थात् उसमे मोक्षका पुरुषार्थ आ जाता है। यथार्थ निर्णयके वलसे मोक्ष प्राप्त हो जाता है ।

सभी द्रव्योंकी तरह अपने द्रव्यकी अवस्था भी क्रमबद्ध ही है । जैस अन्य द्रव्योंकी क्रमवद्धपर्याय इस जीवसे नही होती वैसे ही इस जीवकी क्रमवद्धपर्याय अन्य द्रव्योसे नही होती । अपनी क्रमबद्ध-पर्यायके स्वभावकी प्रतीति करने पर अपने द्रव्यस्वभावमे ही देखा जाता है कि अहो ! मेरी पर्याये तो मेरे द्रव्यमेसे ही आती है, द्रव्य-में राग–द्वेष नही है, कोई परद्रव्य मुझे राग–द्वेप नही कराता । पर्याय-मे जो अल्प राग–द्वेप है वह मेरी निर्बलताका कारण है; वह निर्बलता भी मेरे द्रव्यमें नही है । ऐसा होनेसे उस जीवको परमें न देखकर अपने स्वभावमे ही देखना रह जाता है अर्थात् द्रव्यदृष्टिमे स्थिर होना रह जाता है । स्वभावके वलसे अल्प कालमें रागको दूर करके वह केवलज्ञानको अवश्य प्राप्त करेगा । वस, इसीका नाम क्रमबद्ध-पर्यायकी श्रद्धा है; उस जीवने ही सर्वज्ञको यथार्थतया जाना है, और वही जीव स्वभावदृष्टिसे साधक हुआ है, उसका फल सर्वज्ञ-दशा है ।

द्रव्यमे समय समय पर जो विशेष अवस्था होती है वह विशेप सामान्यमेसे ही आती है, सामान्यमेसे विशेष प्रगट होता है, इसमे केवलज्ञान भरा हुआ है । सामान्य–विशेषकी यह वात जैनको छोड़कर अन्यत्र कही भी नही है और सम्यग्दृष्टिके अतिरिक्त अन्य लोग उसे यथार्थतया समझ नही सकते । सामान्यमे

से विशेष होता है इतना सिद्धात निश्चित् करने पर वह परिणमन निजकी ओर ढल जाता है । परसे मेरी पर्याय नही होती, निमित्त-से भी नही होती, विकल्पसे भी नही होती और पर्यायमेसे भी मेरी पर्याय नही होती । इस प्रकार सबसे लक्ष हटाकर जो जीव मात्र द्रव्यकी ओर झुका हैं उस जीवको ऐसी प्रतीति हो गई है कि सामान्यमेसे ही विशेष होता है । अज्ञानीको ऐसी स्वाधीनता की प्रतीति नही होती ।

भगवानने जैसा देखा है वैसा ही होता है यह निश्चय करनेवालेका वीर्य परसे हटकर निजमे स्तम्भित हो गया है ज्ञान-ने निजमें स्थिर होकर सर्वज्ञकी ज्ञानशक्तिका और समस्त द्रव्यों-का निर्णय किया है। वह निर्णयरूप पर्याय न तो किसी परमेसे आई है और न विकल्पमेसे भी आई है । किन्तु वह निर्णयकी शक्ति द्रव्यमेसे प्रगट हुई है, अर्थात् निर्णय करनेवालेने द्रव्यको प्रतीतिमें लेकर निर्णय किया है । ऐसा निर्णय करनेवाला जीव ही सर्वज्ञका सच्चा भक्त है । उसका झुकाव अपने सर्वज्ञस्वभावकी ओर हुआ है अत: वह कही भी न रुककर अल्प कालमें ही संपूर्ण सर्वज्ञ हो जायगा । इससे विरुद्ध अर्थात् कोई द्रव्य अन्य द्रव्यका कुछ कर सकता है, ऐसा जो मानता है वह वास्तवमे अपने आत्माको, सर्वज्ञ-के ज्ञानको, न्यायको तथा द्रव्य पर्यायको नही मानता ।

१—अपना आत्मा परसे भिन्न है तथापि वह परका कुछ करता है इस प्रकार मानना सो आत्माको पर रूप मानना है अथवा आत्माको नही मानना ही है ।

२—वस्तुकी अवस्था सर्वज्ञदेवके देखे हुए अनुसार होती है उसकी जगह मानना कि मै उसे वदल सकता हूँ, सर्वज्ञके ज्ञानको यथार्थ न माननेके समान है ।

३—वस्तुकी ही क्रमबद्ध अवस्था होती है, वहाँ निमित्त करता है अथवा निमित्त कोई परिवर्तन कर डालता है यह बात कहाँ

रही ? निमित्त परका कुछ भी नही करता तथापि जो यह मानता है कि मेरे निमित्तसे परमें कोई परिवर्तन होता है वह सच्चे न्याय-को नही मानता ।

४—द्रव्यकी पर्याय द्रव्यमेसे ही आती है, उसकी जगह जो यह मानता है कि परमेसे द्रव्यकी पर्याय आती है (अर्थात् जो यह मानता है कि मैं परकी पर्यायको करता हूँ) वह द्रव्य–पर्याय-के स्वरूपको ही नही मानता। इस प्रकार एक विपरीत मान्यतामे अनन्त असत्का सेवन आ जाता है ।

वस्तुमेसे क्रमबद्धपर्याय आती है, वह दूसरा कुछ नहीं करता, तथापि उस समय निमित्त अवश्य उपस्थित होता है, किन्तु निमित्तके द्वारा कोई भी कार्य नही होता । निमित्त सहायता करता हो सो बात नही है और न ऐसा ही होता है कि निमित्तकी उपस्थिति न हो । जैसे ज्ञान समस्त वस्तुको मात्र जानता है किन्तु किसीका कुछ करता नहीं है, इसी प्रकार निमित्त मात्र उपस्थित होता है, वह उपादानके लिये कोई असर, सहायता अथवा प्रेरणा नही करता और प्रभाव भी नही डालता ।

जिस समय निजलक्षके पुरुपार्थके द्वारा आत्माकी सम्यग्दर्शन-पर्याय प्रगट होती है उस समय सच्चे देव, गुरु, शास्त्र निमित्तरूप आवश्क होते है ।

प्रश्न.—जीवको सम्यग्दर्शनके प्रगट होनेकी तैयारी हो और सच्चे देव, गुरु, शास्त्र न मिले तो क्या सम्यग्दर्शन नहीं होता ?

उत्तर.—यह हो ही नही सकता कि जीवकी तैयारी हो और सच्चे देव, गुरु, शास्त्र न हों । जब उपादानकारण तैयार होता है तब निमित्तकारण स्वयमेय उपस्थित होता है, किन्तु कोई किसी-का कर्ता नही होता । उपादानके कारण न तो निमित्त आता है और न निमित्तके कारण उपादानका कार्य होता है । दोनों स्वतन्त्र-रूपमें अपने अपने कार्यके कर्ता है ।

अहो ! वस्तु कितनी स्वतन्त्र है ! समस्त वस्तुओंमें क्रमवर्तित्व चल ही रहा है, एकके बाद दूसरी पर्याय कहो या क्रमबद्धपर्याय कहो, जो पर्याय होनी है वह होती ही रहती है। ज्ञानी जीव ज्ञाताके रूपमें जानता रहता है और अज्ञानी जीव कर्तृत्वका मिथ्याभिमान करता है । जो परका अभिमान करता है उसकी पर्याय क्रमबद्ध हीन परिणमित होती है और जो ज्ञाता रहता है उसकी ज्ञानपर्याय क्रमशः विकसित होकर केवलज्ञानको प्राप्त हो जाती है ।

वस्तु की अनादि अनन्त समयकी पर्यायमेसे एक भी पर्यायका क्रम नही बदलता । अनादि अनन्त कालके जितने समय है उतनी ही प्रत्येक वस्तुकी पर्याये है । पहले समयकी पहली पर्याय, दूसरे समयकी दूसरी पर्याय और तीसरे समयकी तीसरी पर्यायके क्रमसे जितने समय है उतनी ही पर्याये क्रमबद्ध होती है । जिसने ऐसा स्वीकार किया उसकी दृष्टि एक एक पर्यायसे हटकर अभेद द्रव्य पर हो गई और वह परसे उदास हो गया । यदि कोई यह कहे कि मैं परकी पर्यायको कर दूं तो इसका मतलब यह हुआ कि वह वस्तु की अनादि अनन्त कालकी पर्यायेमे परिवर्तन करना मानता है, अर्थात् वह वस्तुस्वरूपको विपरीतरूपमे मानता है, और इसलिये वह मिथ्यादृष्टि है ।

वस्तु और वस्तुके गुण अनादि अनन्त है । अनादि अनन्त कालके जितने समय है उतनी ही उस उस समयकी पर्याये वस्तुमेसे क्रमबद्ध प्रगट होती है । जिस समयकी जो पर्याय है उस समय वही पर्याय प्रगट होती है, उल्टी-सीधी नही होती तथा आगे पीछे भी नही होती । पर्यायके क्रममे परिवर्तन करनेके लिये कोई भी समर्थ नही है । इस क्रमबद्धपर्यायके सिद्धान्तमे केवलज्ञान खड़ा हो जाता है । यह तो दृष्टिके चिर स्थायी प्याले है उन्हे पचानेके लिये श्रद्धाज्ञानमें अनन्त पुरुषार्थ चाहिए । जब अनादि अनन्त अखण्ड द्रव्यको प्रतीतिमे लेते है तब क्रमबद्धपर्यायकी श्रद्धा होती है; क्योकि क्रमबद्धपर्यायका मूल तो वही है । जो क्रमबद्धपर्यायकी श्रद्धा करता है वह

अनादि अनन्त पर्यायोंका ज्ञायक और चैतन्यके केवलज्ञानकी प्रतीतिवाला हो जाता है। मेरी पर्याय मेरे द्रव्यमेसे आती है, इस प्रकार द्रव्यकी ओर झुकने पर साधकपर्यायमें अपूर्णता रहने पर भी उसे अब द्रव्यकी ओर ही देखना रहा और उसी द्रव्यके बल पर पूर्णता हो जायगी।

वस्तुका सत्यस्वरूप तो ऐसा ही है, इसे समझे बिना छुटकारा नही है, वस्तुका स्वाधीन परिपूर्ण स्वरूप ध्यानमें लिए बिना पर्यायमे शान्ति कहाँसे आयगी, यदि सुखदशा चाहिए हो तो वह वस्तुस्वरूप जानना पडेगा जिसमेसे सुखदशा प्रगट हो सके।

अहो! मेरी पर्याय भी क्रमबद्ध ही होती है इस प्रकार जिसने निश्चय किया उसे अपनेमे समभाव—ज्ञाताभाव हो जाता है, उसे पर्यायको बदलनेकी आकुलता नही रहती। किन्तु जो जो पर्याय होती है उनका ज्ञाताके रूपमे जाननेवाला होता है। जो ज्ञाताके रूपमें जाननेवाला होता है उसे केवलज्ञान होनेमे विलम्ब कैसा? जिसे स्वभावमे समभावी ज्ञान नही है अर्थात् जिसे अपने द्रव्यकी क्रमबद्धदशाकी प्रतीति नही है उस जीवकी रुचि परमे जाती है और उसके विषमभावसे क्रमबद्धरूपमे विकारी पर्याय होती है। ज्ञातृत्वका विरोध करके जो पर्याय होती है वह विषमभावसे है (विकारी है) और निजमें दृष्टि करके ज्ञातृत्वके रूपमें रहने पर जो पर्याय होती है वह समभावसे क्रमबद्ध विशेषशुद्ध होती है।

इसमे तो सब कुछ अपनी पर्यायमे ही समाविष्ट हो जाता है। यदि अपनी क्रमबद्धपर्यायको स्वदृष्टिसे करे तो शुद्ध हो और यदि पर दृष्टिसे करे तो अशुद्ध हो। परके साथ सम्बन्ध न रहने पर भी दृष्टि किस ओर जाती है इस पर क्रमबद्धपर्यायका आधार है। कोई जीव शुभाव करनेसे पर वस्तु (देव, शास्त्र, गुरु अथवा मन्दिर इत्यादि) को प्राप्त नही कर सकता और अशुभभाव करनेसे कोई रुपया पैसा इत्यादि पर वस्तुको प्राप्त नही कर सकता। जो पर वस्तु जिस कालमें और जिस क्षेत्रमे आनी होती है वह वस्तु उस

काल और उस क्षेत्रमें स्वयं आ जाती है, वह आत्मभावके कारण नहीं आती। समस्त वस्तुकी पर्याये अपने क्रमबद्ध नियमानुसार ही होती है उनमे कोई फर्क नही आता। इस समझमे वस्तुकी प्रतीति और केवलज्ञानस्वभावका अनन्त वीर्य प्रगट होता है। इसे मानने पर अनन्त पर द्रव्योके कर्तृत्वको छेदकर अकेला ज्ञाता हो जाता है। इसमें सम्यग्दर्शनका ऐसा अपूर्व पुरुषार्थ भरा हुआ है कि जैसा अनन्त कालमे कभी भी नही किया था।

जैसे आत्मामे सभी पर्याय क्रमबद्ध होती है उसी प्रकार जड़मे भी जड़की सभी अवस्थाये क्रमबद्ध होती है। कर्मकी जो जो अवस्था होती है उसे आत्मा नही करता किन्तु वह परमाणुकी क्रमबद्धपर्याय है। कर्मके परमाणुओमे उदय, उदीरणा इत्यादि जो दस अवस्थाये (कारण) है वे भी परमाणुकी क्रमबद्ध दशाये है। आत्माके शुभ परिणामके कारण कर्मके परमाणुओकी दशा बदल नही गई, किन्तु परमाणुओमे ही उस समय वह दशा होनेकी योग्यता थी इसलिये वह दशा हुई है। जीवके पुरुषार्थके कारण कर्मकी क्रमबद्ध अवस्थामे भग नही पड़ जाता; जीव अपनी दशा-में पुरुषार्थ करता है और उस समय कर्मके परमाणुओकी क्रमबद्ध-दशा उपशम, उदीरणादिरूप स्वयं होती है, परमाणुमे उसकी अवस्था उसकी योग्यतासे, उसके कारणसे होती है, किन्तु आत्मा उसका कुछ नही करता।

प्रश्न:—यदि कर्म उस परमाणुकी क्रमबद्धपर्याय ही है तो फिर जैनोमे तो कर्मसिद्धान्तके विपुल शास्त्र भरे पड़े है उसके सबंध-में क्या समझा जाय?

उत्तर:—हे भाई! यह सभी शास्त्र आत्माको ही बतानेवाले है। कर्मका जितना वर्णन है उसका आत्माके परिणामके साथ मात्र निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध है। आत्माके परिणाम किस किस प्रकारके होते है यह समझानेके लिये उपचारसे कर्ममे भेद करके

समझाया है । निमित्त–नैमित्तिकसम्बन्धका ज्ञान करनेके लिये कर्मका वर्णन किया है किन्तु जड़कर्मके साथ आत्माका कर्ता–कर्म सम्वन्ध किंचित्‌मात्र भी नहीं है ।

प्रश्नः—बंध, उदय, उदीरणा, उपशम अपकर्षण, उत्कर्षण, संक्रमण, सत्ता निद्धत्त, और निकाचित्त, ऐसे दस प्रकारके करण (कर्मकी अवस्थाके प्रकार) क्यों कहे है ?

उत्तरः—अहो, इसमे भी वास्तवमे तो चैतन्यकी ही पहचान कराई गई है । कर्मके जो दस प्रकार बताये है वे आत्माके परिणामों-के प्रकार वतानेके लिये ही है । आत्माका पुरुषार्थ वैसे दस प्रकार-से हो सकता है यह बतानेके लिये कर्मके भेद करके समझाये है । आत्माके पुरुषार्थके समय प्रस्तुत परमाणु उसकी योग्यताके अनुसार स्वय परिणमन करता है । इसमें तो दोनोके निमित्त-नमित्तिकसम्वन्धका ज्ञान कराया है परन्तु यह बात नही की है कि कर्म आत्माका कुछ करते है ।

एक कर्म परमाणु भी द्रव्य है, उसमे जो अनादि अनन्त पर्याय होती है वही समय समय पर क्रमवद्ध होती है ।

प्रश्नः—आपने तो यह कहा है न कि कर्मकी उदीरणा होती है ?

उत्तरः—उदीरणाका अर्थ यह नही है कि बादमे होने वाली अवस्थाको उदीरणा करके जल्दी लाया गया हो; कर्मकी क्रमवद्ध अवस्था ही उस तरहकी होनी है जीवने अपनेमे पुरुषार्थ किया है यह वतानेके लिये उपचारसे ऐसा कहा है कि कर्ममे उदीरणा हुई है । वास्तवमे कर्मकी अवस्थाका क्रम बदल नही गया, परन्तु जीव-ने अपनी पर्यायमे उस प्रकारका पुरुषार्थ किया है—उसका ज्ञान करानेके लिये ही उदीरणा कही जाती है ।

जहाँ यह कहा जाता है कि जीव अधिक पुरुषार्थ करे तो अधिक कर्म खिर जाते है वहाँ भी वास्तवमें जीवने कर्मोंको खिरानेका

पुरुषार्थ नही किया किन्तु अपने स्वभावमें रहनेका पुरुषार्थ किया है। जीवके विशेष पुरुषार्थका ज्ञान करानेके लिये उपचारसे ऐसा कहा जाता है कि बहुत समयके कर्मपरमाणुओंको अल्प कालमें ही नष्ट कर दिया है। इस आरोपित कथनमें यथार्थ वस्तुस्वरूप तो यह है कि जीवने स्वभावमे रहनेका पुरुषार्थ किया और उस समय जिन कर्मोकी अवस्था स्वयं खिरने रूप थी वह खिर गई। परमाणु की अवस्थाके क्रमने भंग नही पड़ता। बहुत कालके कर्म क्षण भरमें टाल दिये इसका अर्थ इतना ही समझना चाहिये कि जीवने बहुतसा पुरुषार्थ अपनी पर्यायमें किया है।

छहों द्रव्य परिणमनस्वभावी है और वे अपने आप क्रमबद्धपर्यायमें परिणमित होते है। छहो द्रव्य परकी सहायताके बिना स्वयं परिणमित होते है, यह श्रद्धा करनेमे ही अनन्त पुरुषार्थ है। पुरुषार्थके बिना जीवकी एक भी पर्याय नही होती। मात्र पुरुषार्थ की उन्मुखता अपनी ओर करनेकी जगह जीव परकी ओर करता है, यही अज्ञान है। यदि स्वभावकी रूचि करे, तो स्वभावकी ओर ढले, अर्थात् पर्याय क्रमशः शुद्ध हो जाय।

इस बातकी समझमें आत्माके मोक्षका उपाय निहित है इसलिये इस बातको खूब विश्लेपण करके समझना चाहिये, उसे जरा भी ढकना नही चाहिये। उसे निर्णयपूर्वक स्पष्ट करके जानना चाहिये। परम सत्को ढकना नही चाहिये किन्तु ऊहापोह करके बराबर विश्लेषणपूर्वक निश्चय करना चाहिये। सत्यमे किसी की लज्जा नही होती यह तो वस्तुस्वरूप है।

सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा अपने सम्यग्ज्ञानसे यह जानता है कि सर्वज्ञभगवानने अपने ज्ञानमे जो जाना है उस प्रकार प्रत्येक वस्तु क्रमबद्ध परिणमित होती है। मेरी केवलज्ञान पर्याय भी क्रमबद्धरूपमे मेरे स्वद्रव्यमेसे ही प्रगट होगी। ऐसी सम्यक् भावनासे उसका ज्ञान बढ़कर स्वभावमें एकाग्र होता है और ज्ञातशक्ति प्रति पर्यायमे

निर्मल होती जाती है तथा विकारी पर्याय क्रमशः दूर होती जाती है। कौन कहता है कि इसमें पुरुषार्थ नहीं है। ऐसे स्वभावमें निःशंक है वह सम्यग्दृष्टि है और इस स्वभावमें जो तनिक भी संदेहका वेदन करता है वह मिथ्यादृष्टि है; उसे सर्वज्ञके ज्ञानकी और अपने ज्ञाता-स्वभावकी श्रद्धा नही है।

अहो! इस सम्यग्दृष्टि जीवकी भावना तो देखो वह स्वभाव-से ही प्रारभ करता है और स्वभावमें ही लाकर पूर्ण करता है। उसने जहाँसे प्रारंभ किया था वही का वही ला रखा है। आत्मामें स्वाश्रयसे साधकदशा प्रारंभ की है और पूर्णता भी स्वाश्रयसे आत्मा-मे ही होती है। केवलज्ञान संपूर्णतया निजमें ही समाविष्ट हो जाता है। साधक धर्मात्मा अपनेमे ही समाविष्ट होना चाहता है। उसने बाहरसे न तो कहींमेसे प्रारभ किया है और न बाह्यमे कही रुकने-वाला है। आत्माका मार्ग आत्मामेसे निकलकर आत्मामे ही समाविष्ट हो जाता है।

यहाँ मात्र जीवकी ही बात नही है किन्तु सभी पदार्थोंकी अवस्था क्रमबद्ध होती है। यहाँ मुख्यतया जीवकी बात समझाई है, आत्माकी अवस्था आत्मामें ही क्रमबद्ध प्रगट होती है वह निश्चय करनेमें अनन्त वीर्य है। वह निश्चय करने पर पहले अनन्त पदार्थोंको अच्छा-बुरा मानकर जो राग-द्वेष होता था वह सब दूर हो गया, पर निमित्तका स्वामित्व मानकर जो वीर्य परमे रुक जाता था वह अब अपने आत्मस्वभावको देखनेमे लग गया है, राग, निमित्त वगैरहकी ओरकी दृष्टि गई और स्वभावमें दृष्टि हो गई। स्वभावदृष्टिमें अपनी पर्यायकी स्वाधीनताकी कैसी प्रतीति होती है तत्संबंधी यह बात है। स्वभावदृष्टिको समझे विना व्रत, तप, भक्ति, दान और पठन-पाठन यह सब विना एकाईके शून्यके समान व्यर्थ है। मिथ्या-दृष्टि जीवके यह कुछ सच्चे नही होते।

हे जीव! तेरी वस्तुमे भगवान जितनी ही परिपूर्ण शक्ति है, भगवानपना वस्तुमे ही प्रगट होता है। यदि ऐसे अवसर पर

यथार्थवस्तुको दृष्टिमें न ले तो वस्तुके स्वरूपको जाने बिना जन्म–मरणका अन्त नहीं हो सकता। वस्तुके जानने पर अनन्त संसार दूर हो जाता है। वस्तुमे संसार नहीं है, वस्तुकी प्रतीति होने पर मोक्षपर्यायकी तैयारीकी प्रतिध्वनि होने लगती है। भगवन् ! यह तेरे स्वभावकी बात है, एकबार हॉ तो कह। तेरे स्वभावकी स्वीकृतिमेंसे स्वभावदशाकी अस्ति आयेगी, स्वभावसामर्थ्यसे इन्कार मत कर। सब प्रकारसे अवसर आ चुका है, अपने द्रव्यमें दृष्टि करके देख, द्रव्यमेंसे सादि—अनन्त मोक्षदशा प्रगट होती है, उस द्रव्यकी प्रतीतिके बलसे मोक्षदशा प्रगट हो जाती है ॥ ३२१–३२२ ॥

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छहो द्रव्य में क्रमबद्धपर्याय है। यदि जीव अपनी क्रमबद्धपर्यायकी श्रद्धा करे तो उसकी क्रमबद्ध मोक्षपर्याय हुए बिना न रहे; क्योंकि क्रमबद्धकी श्रद्धाका भार निजमे आता है। जिस वस्तुमेंसे अपनी अवस्था आती है उस वस्तु पर दृष्टि रखनेसे मोक्ष होता है। पर द्रव्य मेरी अवस्थाको कर देगा ऐसी दृष्टिके टूट जानेसे और निज द्रव्यमे दृष्टि रखनेसे रागकी उत्पत्ति नही होती, अर्थात् वस्तुकी क्रमबद्ध अवस्था होती है ऐसी दृष्टि होने पर स्वय ज्ञाता–दृष्टा हो जाता है और ज्ञाता–दृष्टाके बलसे अस्थिरताको तोडकर सपूर्ण स्थिर होकर अल्पकालमें ही मुक्तिको प्राप्त कर लेता है। इसमें अनन्त पुरुषार्थ समागत है।

पुरुषार्थके द्वारा स्वरूपकी दृष्टि करनेसे और उस दृष्टिके बलसे स्वरूपमें रमणता करनेसे चैतन्यमें शुद्ध क्रमबद्धपर्याय होती है। चैतन्यकी शुद्ध क्रमबद्धपर्याय प्रयत्नके बिना नही होती। मोक्ष-मार्गके प्रारम्भसे मोक्षकी पूर्णता तक सर्वत्र, सम्यक् पुरुषार्थ और ज्ञानका ही कार्य है।

बाह्य वस्तुका जो होना हो सो हो इस प्रकार क्रमवद्धता-का निश्चय करना वास्तवमें तब कहलाता है जब बाह्य वस्तुसे

उदास होकर सवका ज्ञाता मात्र रह जाय; तभी उसके क्रमवद्धका सच्चा निर्णय होता है। जो जीव अपनेको परका कर्ता मानता है और यह मानता है कि परसे अपनेको सुख-दु:ख होता है उसे क्रमवद्धपर्यायकी किंचित् मात्र भी प्रतीति नही है।

मै द्रव्य हूँ और मेरे अनन्तगुण है, वे गुण पलटकर समय समय पर एकके बाद एक अवस्था होती है, वह उल्टी-सीधी नही होती और न एक ही साथ दो अवस्थायें एकत्रित होती है; कोई भी समय अवस्थाके विना—खाली नही जाता। केवलज्ञान और मोक्ष-दशा भी मेरे गुणमेंसे ही क्रमवद्ध प्रगट होती है। इस प्रकार क्रमवद्धपर्यायकी श्रद्धा होने पर अपनी पर्याय प्रगट होनेके लिये किसी पर वस्तु पर लक्ष नही रहेगा, और इसलिये किसी पर वस्तु पर राग-द्वेष करनेका कारण नही रहेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि समस्त पर पदार्थोंका लक्ष छोडकर आत्मनिरीक्षणमे ही लग जाता है। ऐसा होने पर अपनेमे भी ऐसा आकुलताका विकल्प नही रहेगा कि "मेरी पूर्ण शुद्धपर्याय कव प्रगट होगी" क्योकि तीनकाल की क्रमबद्धपर्यायसे भरा हुआ द्रव्य उसकी प्रतीतिमें आ गया है। तात्पर्य यह है कि जो क्रमवद्धपर्यायकी श्रद्धा करता है वह जीव अवश्य ही आसन्न मुक्तिगामी होता है।

क्रमबद्धपर्यायकी श्रद्धा होने पर द्रव्यकी अवस्था चाहे जिससे हो किन्तु उसमे यह विचार (राग-द्वेष) कदापि नही होता कि—"यह ऐसा क्यों हुआ ? यदि ऐसा हुआ होता तो मुझे ठीक होता।" क्रमवद्धपर्यायका निश्चय करनेवालेके यह श्रद्धा होती है कि इस द्रव्यकी इस समय ऐसी ही क्रमवद्ध अवस्था होनी थी, वैसा ही हुआ है; तब फिर वह उसमे राग या द्वेष क्यो करेगा ? मात्र जिस समय जिस वस्तुकी जो अवस्था होती जाती है उसका वह मात्र ज्ञान ही करता है, वस वह ज्ञाता हो गया; ज्ञातारूपमे रहकर वह अल्पकालमे ही केवलज्ञान प्राप्त करके मुक्तिको प्राप्त करेगा। यह है क्रमबद्धपर्यायकी श्रद्धाका फल।

क्रमबद्ध अवस्थाका निर्णय उसी ज्ञायकभावका अर्थात् वीतरागस्वभावका निर्णय है और वह निर्णय अनन्त पुरुषार्थसे हो सकता है। पुरुषार्थको स्वीकार किये बिना मोक्षके ओरकी क्रमबद्ध-पर्याय नही होती। जिसके ज्ञानमे पुरुषार्थका स्वीकार नही होता वह अपने पुरुषार्थको प्रारम्भ नही करता और इसलिये पुरुषार्थके बिना उसे सम्यग्दर्शन और केवलज्ञान नही होता। पुरुषार्थको स्वीकार न करनेवालेकी क्रमबद्धपर्याय निर्मल नही होती, किन्तु विकारी होगी। अर्थात् पुरुषार्थको स्वीकार न करनेवाला अनन्त संसारी है और पुरुषार्थको स्वीकार करनेवाला निकट मोक्षगामी है। चाहे क्रमबद्ध अवस्थाका निर्णय कहो या पुरुषार्थवाद कहो–वह यही है।

प्रश्न—यदि क्रमबद्धपर्याय जब जो होनी हो वही हो तो फिर विकारीभाव भी जब होने हो तभी होगे न ?

उत्तर—अरे भाई ! तेरा प्रश्न विपरीतको लेकर उपस्थित हुआ है। जिसने अपने ज्ञानमे यह प्रतीति कर ली है कि 'विकारी पर्याय जब होनी थी तब हुई' तो उसकी रुचि कहाँ जाकर अटकी है ? विकारको जाननेवालेके ज्ञानकी रुचि है या विकारकी रुचि है ? विकारको यथार्थतया जाननेका काम करनेवाला वीर्य तो अपने ज्ञानका है और उस ज्ञानका वीर्य विकारसे हटकर स्वभाव-के ज्ञानमे अटक रहा है, स्वभावके ज्ञानमे अटका हुआ वीर्य विकारकी या परकी रुचिमे कदापि नही अटकता, किन्तु स्वभाव-के बलसे विकारका अल्प कालमे क्षय होता है। जिसे विकारकी रुचि है उसकी दृष्टिका बल (वीर्यका भार) विकारकी ओर जाता है। "जो होनी होती है वही पर्याय क्रमबद्ध होती है" इस प्रकार किसका वीर्य स्वीकार करता है, यह स्वीकार करनेवालेके वीर्यमे परमे सुखबुद्धि नही होती किन्तु स्वभावमें ही संतोष होता है।

जैसे किसी बडे आदमीके यहाँ शादीका अवसर हो और वह सबको आचूल निमन्त्रण देकर विविध प्रकारके मिष्टान्न जिमाये,—

इसी प्रकार यहाँ सर्वज्ञदेवके घरमे आचूल निमंत्रण है; 'मुक्तिके मंडपमें' सबका आमत्रण ह । मुक्तिमडपके हर्ष-भोजमे सर्वज्ञ-भगवानके द्वारा दिव्यध्वनिमे परोसे गये न्यायोमेसे उच्च प्रकार-के न्याय परोसे जाते है जिन्हे पचानेसे आत्मा पुष्ट होता है ।

यदि तुझे सर्वज्ञ भगवान होना हो तो तू भी इस वातको मान, जो इस वातको स्वीकार करता है उसकी मुक्ति निश्चित है । लो! यह मुक्तिमडप और इसका हर्ष-भोज, इसे स्वीकार करो! अव, गाथा ३२१-३२२ मे जो वस्तुस्वरूप वताया है उसकी विशेष दृढ़ताके लिये ३२३वी गाथा कहते है। जो जीव पहले गाथा ३२१-३२२में कहे गए वस्तुस्वरूपको जानता है वह सम्यग्दृष्टि है और जो उसमे सशय करता है वह मिथ्यादृष्टि है—

एव जो णिच्चयदो जाणदि दव्वाणि सव्वपज्जाए ।
सो सदिट्ठि सुद्धो जो शकदि सो हु कुदिट्ठि ।। ३२३ ।।

अर्थ—इस प्रकार निश्चयसे सर्व द्रव्यों (जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल) तथा उन द्रव्योकी समस्त पर्यायोको जो सर्वज्ञके आगमानुसार जानता है-श्रद्धा करता है वह शुद्ध सम्य-ग्दृष्टि है, और जो ऐसी श्रद्धा नही करता-शंका सदेह करता है वह सर्वज्ञके आगमके प्रतिकूल है—प्रगटरूपमे मिथ्यादृष्टि है ।

सर्वज्ञदेवने केवलज्ञानके द्वारा जानकर जिन द्रव्यों और उनकी अनादि अनन्तकालकी समस्त पर्यायोको आगममे कहा है वे सब जिनके ज्ञानमे और प्रतीतिमे जम गये है, वे "सदिट्ठि सुद्धो" अर्थात् शुद्ध सम्यग्दृष्टि है । मूल पाठमे 'सो सत्‌दृष्टिः शुद्धाः' यह कह कर भार दिया है । पहली वात अस्तिकी अपेक्षासे कही है और फिर नास्तिकी अपेक्षासे कहते है कि "शकदि सो हु कुदिट्ठि' अर्थात् जो उसमे शंका करता है वह प्रगटरूपमे मिथ्यादृष्टि है—सर्वज्ञ-का शत्रु है ।

स्वामी कार्तिकेय आचार्यदेवने इस ३२१-३२२-३२३ वी गाथाओमें गूढ़ रहस्य सकलित करके रख दिया है। सम्यग्दृष्टि जीव

वरावर जानता है कि त्रैकालिक समस्त पदार्थोकी अवस्था क्रमबद्ध है । सर्वज्ञदेव और सम्यग्दृष्टिमे इतना अन्तर है कि सर्वज्ञदेव समस्त द्रव्यो कि क्रमवद्धपर्यायोको प्रत्यक्ष ज्ञानसे जानते है और सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा समस्त द्रव्योकी क्रमबद्धपर्यायको आगमप्रमाणसे प्रतीतिमे लेता है अर्थात् परोक्षज्ञानसे निश्चय करता है । सर्वज्ञके वर्तमान राग-द्वेष सर्वथा दूर हो गये है । सम्यग्दृष्टिके भी अभिप्रायमे राग-द्वेप सर्वथा दूर हो गये है । सर्वज्ञभगवान केवलज्ञानसे त्रिकालको जानते हैं; सम्यग्दृष्टि जीव यद्यपि केवलज्ञानसे नही जानता तथापि वह श्रुतज्ञानके द्वारा त्रिकालके पदार्थोकी प्रतीति करता है । उसका ज्ञान भी निःशक है । पर्याय प्रत्येक वस्तुका धर्म है, वस्तु स्वतन्त्रतया अपनी पर्यायरूपमे होती है । जानने पर 'यो कैसे हुई' ऐसी शंका करनेवालेको वस्तुके स्वतन्त्र 'पर्यायधर्म' की और ज्ञानके कार्यकी खवर नही है । ज्ञानका कार्य मात्र जानना है, जाननेमे यो कैसे हुआ, इस प्रकारकी शका को स्थान ही कहाँ है ? 'ऐसा कैसे' ऐसी शंका करनेका ज्ञानका स्वरूप ही नही है, किन्तु 'जो पर्याय होती है वह वस्तुके धर्मानुसार ही होती है,' इस प्रकार ज्ञानस्वभावका निर्णय करके ज्ञानी सवको निःशक रूपमे जानता रहता है । ऐसे ज्ञानके वलसे केवलज्ञान और अपनी पर्यायके बीचके अन्तरको तोड़कर पूर्ण केवलज्ञानको अल्प कालमे ही प्रगट कर लेगा ।

जो जीव वस्तुकी क्रमवद्ध स्वतन्त्र पर्यायको नही मानता और यह मानता है कि 'मै परका कुछ कर सकता हूँ—उसमे परिवर्तन कर सकता हूँ और पर मुझे राग-द्वेष करता है' उसे सर्वज्ञके ज्ञानकी श्रद्धा नही है, तथा वह सर्वज्ञके आगमसे प्रतिकूल प्रगट मिथ्यादृष्टि है । जो यह मानता है कि जो सर्वज्ञके ज्ञानमे प्रतिभासित हुआ है उसमे मै परिवर्तन कर दूँ वह सर्वज्ञके ज्ञानको नही मानता । जो सर्वज्ञके ज्ञानकी और उनकी श्री मुखवाणीके न्यायोंको नही मानता वह प्रगटरूपमे मिथ्यादृष्टि है । सर्वज्ञदेव तीनकाल

और तीनलोकके समस्त द्रव्योकी समस्त पर्यायोको जानते है और सभी वस्तुकी पर्याये प्रगट रूपमे उसीसे स्वयं होती है तथापि जो उससे विरुद्ध मानता है (सर्वज्ञके ज्ञानसे और वस्तुके स्वरूपसे विरुद्ध मानता है) वह सर्वज्ञका और अपने आत्माका विरोधी एवं प्रगट रूपमे मिथ्यादृष्टि है ।

यद्यपि पर्याय क्रमबद्ध होती है किन्तु वह बिना पुरुपार्थके नही होती । जिस ओरका पुरुपार्थ करता है उस ओरकी क्रमबद्ध-पर्याय होती है । यदि कोई कहे कि इसमे तो नियत आ गया, तो उसके उत्तरमे करते है कि हे भाई ! त्रिकालकी नियत पर्यायका निर्णय करनेवाला कौन है ? जो त्रिकालकी पर्यायोको निश्चित् करता है वह मानो द्रव्यको ही निश्चित् करता है। जो परके लक्षसे निजका नियत मानता है वह एकान्तवादी वातूनी और अपने स्वभावके लक्षसे स्वय स्वभावमे मिलकर—स्वभावकी एकता करके, रागको दूर करके ज्ञायक हो गया है उसके अपने स्वभावके पुरुपार्थमे नियत समाविष्ट हो जाता है । जहाँ स्वभावका पुरुपार्थ है वहाँ नियमसे मोक्ष है अर्थात् पुरुषार्थमे ही नियत आ जाता है । जहाँ पुरुषार्थ नही है वहाँ मोक्षपर्यायका नियत भी नही है ।

अहो ! महा सन्त मुनिश्वरोने जंगलमें रह कर आत्मस्वभाव-का अमृत प्रवाहित किया है । आचार्यदेव धर्मके स्तभ है, आचार्यदेवो-ने पवित्र धर्मको सहारा देकर उसे स्थिर रखा है । एक एक आचार्य-देवने अद्‌भुत कार्य किया है । साधकदशामे स्वरूपकी शान्तिका वेदन करते हुए, परिषहोको जीतकर परम सत्यको जीवित रखा है । आचार्यदेवके कथनमे केवलज्ञानकी प्रतिध्वनि गर्जित हो चुकी है । ऐसे महान शास्त्रोकी रचना करके आचार्योने अनेकानेक जीवो पर अपार उपकार किया है । उनकी रचना तो देखो, पद पद पर कितना गम्भीर रहस्य भरा है । यह तो सत्यकी घोषणा है, इसके संस्कार अपूर्व वस्तु है, और इसे समझना मानो मुक्तिको वरण करके-

का श्रीफल है—जो इसे समझ लेता है उसका मोक्ष निश्चित् है ।

प्रश्न:—जो होना होता है, सो होता है, ऐसा माननेमें अनेकान्तस्वरूप कहाँ आया ?

उत्तर.—जो होना होता है वह वैसा होता है अर्थात् परका परसे होता है और मेरा मुझसे होता है–यह जानकर परसे हटकर जो अपनी ओर सन्मुख हुआ, उसने स्वभावके लक्षसे माना है; उसकी मान्यतामे अनेकान्तस्वरूप है और 'मेरी पर्याय मेरे द्रव्यमें से क्रमबद्ध आती है, मेरी पर्यायमेंसे नही आती' इस प्रकार अनेकान्त है । तथा 'परकी पर्याय परके द्रव्यमेसे क्रमबद्ध जो होनी होती है, सो होती है. मै उसकी पर्यायको नही करता' इस प्रकार अनेकान्त है । 'जो होना होता है वही होता है' यह जानकर अपने द्रव्यकी ओर उन्मुख होना चाहिये परन्तु 'जो होना होता है सो होता है' इस प्रकार जो मात्र परसे मानता है किन्तु अपने द्रव्यकी पर्याय कहाँसे आती है इसकी प्रतीति नही करता अर्थात् पर लक्ष को छोडकर स्वलक्ष नही करता वह एकान्तवादी है ।

प्रश्न:—भगवानने तो मोक्षमार्गके पाँच समवाय कहे है और आप तो मात्र पुरुषार्थ–पुरुषार्थ ही रटा करते हो तो फिर उसमें अन्य चार समवाय किस प्रकार आते है ?

उत्तर:—जहाँ जीव सच्चा पुरुषार्थ करता है वहाँ स्वयं अन्य चारो समवाय होते है । पांच समवायोका सक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—

१—मैं परका कुछ करनेवाला नही हूँ, मै तो ज्ञायक हूँ मेरी पर्याय मेरे द्रव्यमेसे आती है, इस प्रकार स्वभावदृष्टि करके परकी दृष्टिको तोड़ना सो पुरुषार्थ है ।

२—स्वभावदृष्टिका पुरुषार्थ करते हुए जो निर्मलदशा प्रगट होती है वह दशा स्वभावमे थी सो वही प्रगट हुई है, अर्थात् जो शुद्धता प्रगट होती है वह स्वभाव है ।

३—स्वभावदृष्टिके पुरुषार्थसे स्वभावमेंसे जो क्रमवद्ध-पर्याय उस समय प्रगट होनी थी वही शुद्धपर्याय उस समय प्रगट हुई सो नियति है। स्वभावकी दृष्टिके वलसे स्वभावमें जो पर्याय प्रगट होनेकी शक्ति थी वही पर्याय प्रगट हुई है। वस, स्वभावमेंसे जिस समय जो दशा प्रगट हुई वही पर्याय उसकी नियति है। पुरुषार्थ करनेवाले जीवके स्वभावमे जो नियति है वही प्रगट होती है, बाहरसे नही आती।

४—स्वदृष्टिके पुरुषार्थके समय जो दशा प्रगट हुई वही उस वस्तुका स्वकाल है। पहले परकी ओर झुकता था उसकी जगह स्वोन्मुख हुआ सो यही स्वकाल है।

५—जव स्वभावदृष्टिसे यह चार समवाय प्रगट हुए तव निमित्तरूप कर्म उसकी अपनी योग्यतासे स्वय हट गये, यह कर्म है।

इसमें पुरुपार्थ, स्वभाव, नियति और काल यह चार समवाय अस्तिरूप है अर्थात् वे चारो उपादानकी पर्यायसे सम्वद्ध है और पाँचवाँ समवाय नास्तिरूप है, वह निमित्तसे सम्वद्ध है। यदि पाँचवाँ समवाय आत्मामे लागू करना हो तो वह इस प्रकार है-परोन्मुखतासे हटकर स्वभावकी ओर झुकने पर प्रथमके चारों अस्तिरूपमें और कर्मको नास्तिरूपमे-इस प्रकार आत्मामे पाँचो समवायोका परिणमन हो गया है अर्थात् निजके पुरुपार्थमे पाँचो समवाय अपनी पर्यायमे समाविष्ट हो जाते है। प्रथम चार अस्तिसे और पाचवाँ नास्तिसे अपनेमे है।

जब जीवने सम्यक् पुरुषार्थ नही किया तव विकारीभावके लिये कर्म निमित्त कहलाया और जव सम्यक् पुरुषार्थ किया तव कर्मका अभाव निमित्त कहलाया। जीव अपनेमे पुरुषार्थके द्वारा चार समवायोको प्रकट करे और प्रस्तुत कर्मकी दशा बदलनी न हो ऐसा हो ही नही सकता। जीव निज लक्ष करके चार समवायरूप परिणमित होता है और कर्मकी ओर लक्ष करके परिणमित नही होता;

(अर्थात् उदयमें युक्त नहीं होता) तब कर्मकी अवस्थाको निर्जरा कहा जाता है। जीव जब स्वसन्मुख परिणमित होता है तब भले ही कर्म उदयमें हो किन्तु जीवके उस समयके परिणमनमें कर्मके निमित्तकी नास्ति है। स्वयं निजमें एकमेक हुआ और कर्मकी ओर नहीं गया सो यही कर्मकी नास्ति अर्थात् उदयका अभाव है।

आत्मामें एक समयकी स्व-सन्मुखदशामें पाँचों समवाय आ जाते हैं। जीव जब पुरुषार्थ करता है तब उसके पाँचों ही समवाय एक ही समयमें होते है, स्वकी प्रतीतिमें परकी प्रतीति आ ही जाती है। ऐसी क्रमवद्ध वस्तुस्वरूपकी प्रतीतिमें केवलज्ञानका पुरुषार्थ आ गया है।

प्रश्नः—जीव केवलज्ञानको प्रगट करनेका पुरुषार्थ करे किन्तु उस समय कर्मकी क्रमबद्ध अवस्था अधिक समय तक रहनी हो तो जीवके केवलज्ञान कैसे प्रगट होगा।

उत्तरः—अद्‌भुत है तुम्हारी शंका, तुझे अपने पुरुषार्थका ही विश्वास नही है इसलिये तेरी दृष्टि कर्मकी ओर प्रलंबित हुई है। जो ऐसी शंका करता है कि 'सूर्यका उदय होगा और फिर भी यदि अन्धकार नष्ट न हुआ तो ?' वह मुर्ख है, इसी प्रकार 'मैं पुरुषार्थ करूँ और कर्मकी स्थिति अधिक समय तक रहनी हो तो ?" जो ऐसी शंका करता है उसे पुरुषार्थकी प्रतीति नही है, वह मिथ्यादृष्टि है। कर्मकी क्रमबद्धपर्याय ऐसी ही है कि जब जीव पुरुषार्थ करता है तब वह स्वयं ही दूर हो जाती है 'कर्म अधिक काल तक रहना हो तो ?' यह दृष्टि तो परकी ओर प्रलबित हुई है और ऐसी शंका करनेवालेने अपने पुरुषार्थको पराधीन माना है। तुझे अपने आत्माके पुरुषार्थकी प्रतीति है या नही ? मै अपने स्वभावके पुरुषार्थसे केवलज्ञान प्रगट करता हूँ और मैं जब अपनी केवलज्ञानदशा प्रगट करता हूँ तव घातियाकर्म होते ही नही, ऐसा नियम है। जिसे उपादानकी श्रद्धा हो उसे निमित्तकी शका नही होती। जो

निमित्तकी शंकामे अटक गया है उसने उपादानका पुरुषार्थ ही नही किया है। जो उपादान है सो निश्चय है और जो निमित्त है सो व्यवहार है।

निश्चयनय संपूर्ण द्रव्यको लक्षमे लेता है। संपूर्ण द्रव्यकी श्रद्धामें केवलज्ञानसे कमी की स्वीकृति ही कहाँ है ? क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धामें द्रव्यकी श्रद्धा है और द्रव्य की श्रद्धामें केवलज्ञानसे हीन दशाकी प्रतीति ही नही है। इसलिये क्रमबद्धपर्यायकी श्रद्धामें केवलज्ञान ही है।

सर्वज्ञ तो सभी वस्तुकी पर्यायोंके क्रमको जानता है इसलिये जो निम्नदशामे भी यह प्रतीतिमें लाता है कि 'सभी वस्तुओं की पर्यायें क्रमबद्ध है' वह जीव सर्वज्ञताको स्वीकार करता है, और जो सर्वज्ञताको स्वीकार करता है वह आत्मज्ञ ही है, क्योंकि सर्वज्ञता कभी भी आत्मज्ञताके बिना नही होती। जो जीव वस्तुकी सम्पूर्ण क्रमबद्धपर्यायोंको नही मानता वह सर्वज्ञताको नही मानता और जो सर्वज्ञताको नहीं मानता वह आत्मज्ञ नही हो सकता।

आत्माकी सम्पूर्ण ज्ञानशक्तिमें सभी वस्तुओंकी तीनों कालकी पर्याये जैसी होनी होती है वैसी ही ज्ञात होती हैं और जैसी ज्ञात होती हैं उसी प्रकार होती है—जिसे ऐसी प्रतीति हो जाती है उसे क्रमबद्धपर्यायकी और सर्वज्ञकी शक्तिकी प्रतीति हो जाती है और वह आत्मज्ञ हो जाता है; आत्मज्ञ जीव सर्वज्ञ अवश्य होता है।

वस्तुके प्रत्येक गुणकी पर्याय प्रवाहबद्ध चलती ही रहती है। एक ओर सर्वज्ञका केवलज्ञान परिणमित हो रहा है दूसरी ओर जगतके सर्व द्रव्योकी पर्याय अपने अपने भीतर क्रमबद्ध परिणमित हो रही है। अहो ! इसमे एक दूसरेका क्या कर सकता है समस्त द्रव्य अपने आपमें ही परिणमित हो रहे है। बस ! ऐसी प्रतीति

करने पर ज्ञान अलग ही रह गया; सबमेसे राग–द्वेष उड गया और मात्र ज्ञान रह गया, यही केवलज्ञान है।

परमार्थसे निमित्तके विना ही कार्य होता है। विकाररूपमें या शुद्धरूपमें जीव स्वयं ही निज पर्यायमे परिणमित होता है और उस परिणमनमें निमित्तकी तो नास्ति है। कर्म और आत्माका सम्मिलित परिणमन होकर विकार नही होता। एक वस्तुके परिणमनके समय परवस्तुकी उपस्थिति हो तो इससे क्या ? पर वस्तुका और निज वस्तुका परिणमन तो विलकुल भिन्न ही है, इसलिये जीवकी पर्याय निमित्तके विना अपने आपसे ही होती है, निमित्त कही जीवकी राग-द्वेषादि पर्यायमे घुस नही जाता। इसलिये निमित्तके विना ही राग–द्वेष होता है। निमित्तकी उपस्थिति होती है सो तो ज्ञान करनेके लिये है; ज्ञानकी सामर्थ्य होनेसे जीव निमित्तको जानता भी है, परन्तु निमित्तके कारण उपादानमे कुछ भी नही होता।

वस्तु विज्ञान–अंक

इसमे श्री प्रवचनसारकी ९९ वी गाथाके प्रवचन प्रगट किये गये है। इस गाथाकी गहराईमे भरा हुआ वस्तुस्वरूपका यथार्थ विज्ञान पूज्य श्री कानजीस्वामीने विशिष्ट सूक्ष्मता और स्पष्टताके साथ इन प्रवचनोमे प्रगट किया है, इससे इसका नाम 'वस्तुविज्ञान–अंक' रखा गया है।

वीतरागी विज्ञानमें ज्ञात होता विश्वके ज्ञेय पदार्थोंका स्वभाव

[श्री प्रवचनसार गाथा ९९ पर पूज्य स्वामीजीके प्रवचनोका सार]

सदवट्ठिदं सहावे दव्व दव्वस्स जो हि परिणामो।
अत्थेसु सो सहावो ट्ठिदिस भवणाससवद्धो ॥ ९९ ॥
सदवस्थित स्वभावे द्रव्य द्रव्यस्य यो हि परिणामः।
अर्थेषु स स्वभावः स्थितिसभवनाशसबद्धः ॥ ९९ ॥

'द्रव्यो स्वभाव विषे अवस्थित, तेथी 'सत्' सौ द्रव्य छे;
उत्पाद-ध्रौव्य-विनाशयुत परिणाम द्रव्यस्वभाव छे' । ९९ ।

यह गाथा अलौकिक है। इस गाथामे आचार्यदेवने वस्तुके स्वभावका रहस्य भर दिया है। उत्पाद-व्यय-ध्रुवयुक्त परिणाम वह वस्तुका स्वभाव है और उस स्वभावमे द्रव्य नित्य अवस्थित है, इसलिये द्रव्य सत् है।

यहाँ द्रव्यके समय-समयके परिणाममे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य समझानेके लिये आचार्यदेव क्षेत्रका उदाहरण देते है। द्रव्यका—(आत्माका) असख्यप्रदेशी क्षेत्र एक साथ खुला-फैला हुआ है, इससे वह झट लक्षमे आ जाये इसलिये उस क्षेत्रका उदाहरण देकर परिणामके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य समझाते है।

जिस प्रकार द्रव्यको सम्पूर्ण विस्तारक्षेत्ररूपसे लक्षमे लिया जाये तो उसका वास्तु (क्षेत्र) एक है, उसी प्रकार सम्पूर्ण द्रव्यके तीनोकालके समय-समयके परिणामोको एक साथ लक्षोमें लिया जाये तो उसकी वृत्ति एक है; तथापि, जिस प्रकार क्षेत्रमे प्रदेशक्रम है उसी प्रकार द्रव्यके परिणमनमे प्रवाहक्रम है। द्रव्यके विस्तारक्रमका अंश वह प्रदेश है उसी प्रकार द्रव्यके प्रवाहक्रमका अंश सो परिणाम है।

देखो, यह ज्ञेय अधिकार है। समस्त ज्ञेय सत् है और उन्हें जाननेवाला ज्ञान है। समस्त ज्ञेय जैसे है वैसे एक साथ ज्ञानमे ज्ञात होते है। यहाँ आत्मा ज्ञानका सागर है और सामने स्व-पर समस्त ज्ञेयोका सागर भरा पड़ा है। वस, इसमे मात्र वीतरागता ही आई; ज्ञेयमे 'यह ऐसा क्यो' ऐसा राग-द्वेष या फेरफार करना नही रहा। अहो। आचार्यदेवने प्रत्येक गाथामे वीतरागी बरफीके पर्त लगाये हैं, प्रत्येक गाथामेसे वीतरागताके टुकड़े निकलते है।

समयसारके सर्वविशुद्ध ज्ञान अधिकारमे द्रव्य अपने क्रमबद्धपरिणामसे उत्पन्न होता है—यह वात करके वहाँ सम्यग्दर्शनका सम्पूर्ण विषय बतलाया है—द्रव्यदृष्टि कराई है। और यहाँ ज्ञानप्रधान कथन है इससे, समस्त द्रव्य परिणमनस्वभावमे स्थिर है—ऐसा कहकर पूर्ण ज्ञान और पूर्ण ज्ञेय बतलाये है;—ऐसे सर्व ज्ञेयोके स्वभाव और उन्हे जाननेवाले ज्ञानस्वभावकी श्रद्धा करना सो सम्यग्दर्शन है।

प्रत्येक आत्मा, प्रत्येक परमाणु और धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य पृथक् पृथक् स्वयसिद्ध पदार्थ है। सामान्यतया देखने पर उस प्रत्येक द्रव्यका क्षेत्र अखण्ड एक है, तथापि उस क्षेत्रके विस्तारका जो सूक्ष्म अंश है वह प्रदेश है। छह द्रव्योमेसे परमाणु और कालका क्षेत्र तो एक प्रदेश ही है। आत्माका असंख्यप्रदेशी क्षेत्र है। वह समग्रपने द्वारा एक होने पर भी उसका अन्तिम अंश प्रदेश है। इस प्रकार यहाँ क्षेत्रका दृष्टान्त है और सिद्धान्तरूपमें वस्तुके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य परिणामोको समझाना है। जिस प्रकार असंख्यप्रदेशी विस्तार एक साथ लेनेसे द्रव्यका क्षेत्र एक है उसी प्रकार प्रत्येक द्रव्यकी अनादि-अनन्त परिणमनधारा समग्रपनेके द्वारा एक है और उस संपूर्ण प्रवाहका छोटेसे छोटा एक अंश सो परिणाम है। प्रत्येक परिणामको पृथक् किये बिना समग्ररूपसे द्रव्यके अनादि-अनन्त प्रवाहको देखने पर वह एक है; अनादि निगोदसे लेकर अनन्त सिद्धदशा तक द्रव्यका परिणमनप्रवाह एक ही है। जिस प्रकार संपूर्ण क्षेत्र एक साथ फैला हुआ पड़ा हुआ है, उसमे

प्रदेशभेदसे न देखा जाये तो द्रव्यका क्षेत्र एक ही है । उसी प्रकार त्रिकाली द्रव्यके प्रवाहमे परिणामका भेद न किया जाय तो संपूर्ण प्रवाह एक ही है, और उस त्रैकालिक प्रवाहक्रमका प्रत्येक अश सो परिणाम है ।

यहाँ प्रदेशोंका विस्तारक्रम क्षेत्र अपेक्षासे है और परिणामों-का प्रवाहक्रम परिणमन अपेक्षासे है । यहाँ क्षेत्रका दृष्टान्त देकर आचार्यदेव परिणामोका स्वरूप समझाना चाहते है ।

यह, ज्ञानमे ज्ञात होने योग्य ज्ञेयपदार्थोका वर्णन है । कोई कहे कि ऐसी सूक्ष्म बात कैसे ज्ञात हो ?—किन्तु भाई ! यह सब ज्ञेय है इसलिये अवश्य ज्ञात हो सकते है; और तेरा ज्ञानस्वभाव समस्त ज्ञेयोंको जान सकता है । आत्मा ज्ञाता है और स्वय स्वज्ञेय भी है । तथा अन्य जीव—पुद्गलादि परज्ञेय है । उस ज्ञान और ज्ञेय-को कैसा प्रतीतिमें लेनेसे सम्यक्त्व होता है उसकी यह बात है ।

धर्मास्तिकाय आदिके असख्यप्रदेश ऐसे के ऐसे बिछे-फैले हुए है, आकाशके अनन्त प्रदेश ऐसे के ऐसे बिछे-फैले हुए है; उनमे कभी एक भी प्रदेशका क्रम आगे-पीछे नही होता; उसी प्रकार द्रव्यका अनादि अनन्त प्रवाहक्रम भी कभी खण्डित नही होता । प्रवाहक्रम कहकर आचार्यदेवने अनादिअनन्त ज्ञेयोको एक साथ स्तब्ध बतला दिया है । 'प्रवाहक्रम' कहनेसे समस्त परिणामोका क्रम व्यवस्थित ही है, कोई भी परिणाम- कोई भी पर्याय आगे-पीछे नही होती । इस प्रतीतिमे ही द्रव्यदृष्टि और वीतरागता है ।

समय-समयके परिणामोका एकदम सूक्ष्म सिद्धान्त समझानेके लिये प्रदेशोंका उदाहरण दिया है वह भी सूक्ष्म मालूम होता है । भीतर अपने लक्षमे यदि वस्तुका ख्याल आये तो समझमे आ सकता है। 'यह स्वरूप इस प्रकार कहना चाहते है'—ऐसा अतर्-मे अपनेको भास होना चाहिये । समझनेके लिये जीने (सीढी) का दृष्टान्त लेते है.—जिस प्रकार क्षेत्रसे देखने पर पूरा जीना ऐसे

का ऐसा स्थित है, उसका छोटा अंश प्रदेश है; और जीनेकी लम्बाई-से देखने पर एक के बाद एक सीढियोंका प्रवाह है, पूरे जीनेका प्रवाह एक है, उसकी एक-एक सीढी उसके प्रवाहका अंश है। उन सीढियोके प्रवाहका क्रम टूटता नही है। दो सीढ़ियोंके बीचमें भी छोटे छोटे भाग किये जाये तो अनेक भाग होते हैं उस चढते हुए प्रत्येक सूक्ष्म भागको परिणाम समझना चाहिए। उसी प्रकार आत्मा असख्य प्रदेशोंमे फैला हुआ एक है, और उसके क्षेत्रका प्रत्येक अश सो प्रदेश है; और सपूर्ण द्रव्यका अस्तित्व अनादि-अनन्त प्रवाह-रूपसे एक है तथा उस प्रवाहके प्रत्येक समयका अंश सो परिणाम है। उन परिणामोका प्रवाहक्रम जीनेकी सीढियोंकी भांति क्रमबद्ध है, उन परिणामोका क्रम आगे-पीछे नही होता। इसलिये सब कुछ जैसा है वैसा जानना ही आत्माका स्वभाव है। इसके अतिरिक्त बीचमे दूसरा कुछ डाले तो उसे वस्तुके सत्स्वभावकी श्रद्धा नहीं है। वस्तु जैसी हो वैसा जाने-माने तो ज्ञान-श्रद्धा सच्चे हो न! वस्तु जैसी हो उससे अन्य प्रकारसे माने तो ज्ञान-श्रद्धा सच्चे नही होते इसलिये धर्म नही हो सकता।

यहाँ क्षेत्रके दृष्टान्तसे परिणामका स्वरूप समझाया है।

जिसप्रकार द्रव्यका क्षेत्र सो विस्तार, और विस्तारक्रमके अंश सो प्रदेश। उसी प्रकार द्रव्यका परिणमन सो प्रवाह और प्रवाहक्रमके अंश सो परिणाम।

इस प्रकार क्षेत्रके दृष्टांत द्वारा परिणाम सिद्ध करके एक बात पूरी की; अब उन परिणामोंका एक दूसरेमे अभाव बतलाते हैं।

'जिसप्रकार विस्तारक्रमका कारण प्रदेशोका परस्पर व्यतिरेक है, उसी प्रकार प्रवाहक्रमका कारण परिणामोंका परस्पर व्यतिरेक है।'

द्रव्यमे विस्तारक्रम अर्थात् क्षेत्र अपेक्षासे विस्तारका कारण प्रदेशोका परस्पर भिन्नत्व है। पहले प्रदेशका दूसरेमे अभाव, दूसरे

का तीसरेमें अभाव—इस प्रकार प्रदेशोंके भिन्न-भिन्नपनेके कारण विस्तारक्रम रचा हुआ है। यदि प्रदेशोंका एक—दूसरेमें अभाव न हो, और एक प्रदेश दूसरे प्रदेशमें भी भावरूपसे वर्तता हो अर्थात् सब मिलकर एक ही प्रदेश हो तो द्रव्यका विस्तार ही न हो, किन्तु द्रव्य एकप्रदेशी ही हो जाये। इसलिये विस्तारक्रम करनेसे ही प्रदेश एक-दूसरेके रूपसे नहीं है ऐसा आ जाता है। 'विस्तारक्रम' अनेकताका सूचन करता है, क्योंकि एकमें क्रम नहीं होता। अब, अनेकता कब निश्चित होती है? सबमें एकता न हो किन्तु भिन्नता हो, तभी अनेकता निश्चित होती है, और अनेकता हो तभी विस्तारक्रम होता है; इसलिये विस्तारक्रमका कारण प्रदेशोंका परस्पर व्यतिरेक है।

इसी प्रकार अब विस्तारक्रमकी भाँति प्रवाहक्रमका स्वरूप कहा जाता है। 'प्रवाहक्रम' कहते ही परिणामोंकी अनेकता सिद्ध होती है, और परिणामोकी अनेकता कहते ही एकका दूसरेमें अभाव सिद्ध होता है। क्योकि यदि एकका दूसरेमें अभाव हो तभी अनेकता हो। यदि ऐसा न हो तो सब एक ही हो जाये। इसलिये विस्तारक्रममें जिस प्रकार एक प्रदेशका दूसरेमें अभाव है उसी प्रकार प्रवाहक्रममें एक परिणामका दूसरेमे अभाव है। इस प्रकार परिणामोंमें एकका दूसरेमें अभाव होनेसे अनादिअनंत प्रवाहक्रम रचा हुआ है ऐसा द्रव्यका स्वभाव है; ऐसे परिणामस्वभावमें द्रव्य स्थित है

यहाँ विस्तारक्रम तो दृष्टांतरूप है। और प्रवाहक्रम सिद्धांतरूप है। दृष्टान्त सर्वप्रकारसे लागू नही होता। पुद्गल और काल द्रव्यका विस्तार तो एकप्रदेशी ही है इसलिये उसमें प्रदेशोंके परस्पर व्यतिरेकका दृष्टान्त लागू नही होता, किन्तु प्रवाहक्रमका जो सिद्धान्त है वह समस्त द्रव्योमें समान रीतिसे लागू होता है।

जैसे—२५ कमरोंके विस्तारवाली दालान कब होती है? यदि वे कमरे क्रमानुसार एक-दूसरेसे पृथक् हों तब। उसी प्रकार आत्मामें असंख्यप्रदेशी विस्तारवाला क्षेत्र कब होता है? जब कि एक

प्रदेशका दूसरे प्रदेशमे अभाव हो और वे समस्त प्रदेश विस्तारक्रम-में अखण्डरूपसे एक-दूसरेके साथ सम्बन्धित हों ।

इसी प्रकार (–प्रदेशोंके विस्तारक्रमकी भाँति) द्रव्यका अनादि-अनंत लम्बा प्रवाहक्रम कब होता है । जब कि एक परिणाम-का दूसरे परिणाममें अभाव हो तब । पहला परिणाम दूसरे परिणाम में नही है, दूसरा तीसरेमें नही है—इस प्रकार परिणामोंमें व्यतिरेक होनेसे द्रव्यमें प्रवाहक्रम है । द्रव्यके अनादि-अनत प्रवाहमे एकके बाद एक परिणाम क्रमशः होते रहते हैं; ऐसे द्रव्य सो ज्ञेय है। ज्ञेय द्रव्यकी यथावत् प्रतीति करनेसे श्रद्धामें निर्विकल्पता और वीतरागता हो वह मोक्षका मार्ग है ।

अहो ! एक ही द्रव्यके एक परिणाममें दूसरे परिणामका भी जहाँ अभाव है वहाँ एक द्रव्यकी अवस्थामे दूसरा द्रव्य कुछ करे —यह तो बात ही कहाँ रहती है ? एक तत्त्व दूसरे तत्त्वमें कुछ करता है अथवा एक द्रव्यके क्रमपरिणामोमे परिवर्तन किया जा सकता है—ऐसा जो मानता है उसे ज्ञेयतत्त्वकी खबर नही है और ज्ञेयोको जाननेवाले अपने ज्ञानतत्त्वकी भी खबर नही है ।

कोई ऐसा माने कि 'मैने अपनी बुद्धिसे पैसा कमाया' तो ऐसा नही है; क्योकि बुद्धिके जो परिणाम हुऐ वह आत्माके प्रवाहक्रम-में आया हुआ परिणाम है और पैसा आया वह पुद्गलके प्रवाहक्रम-मे आया हुआ पुद्गलका परिणाम है। दोनों द्रव्य अपने अपने प्रवाह-क्रममे भिन्न भिन्नरूपसे वर्त रहे है । आत्मा अपने परिणामप्रवाह-मे स्थिर है, और जड़ पदार्थ जडके परिणामप्रवाहमें स्थित है। दोनों पदार्थोंका अस्तित्व भिन्न भिन्न है । जिसने पदार्थोंका ऐसा स्वरूप जाना उसके 'मैं परमे कुछ फेरफार करता हूँ या परके कारण मुझ-में कुछ फेरफार होता है—ऐसी मिथ्याबुद्धि तो दूर हो गई, इसलिये वह समस्त द्रव्योका ज्ञाता रह गया । केवली भगवान वीतरागरूप-से सबके ज्ञाता है; उसी प्रकार यह भी ज्ञाता ही है। अभी साधक

है इसलिये अस्थिरताके राग-द्वेष होते है किन्तु वह भी ज्ञाताका ज्ञेय है। ज्ञान और रागकी एकतापूर्वक राग-द्वेष नही होते किन्तु ज्ञानके ज्ञेयरूपसे राग-द्वेष होते है। इसलिये अभिप्रायसे (श्रद्धासे) तो वह साधक भी पूर्ण ज्ञाता ही है।

यथार्थ वस्तु स्वरूपको जाननेसे स्वयं छहो द्रव्योका ज्ञाता हो गया और छहों द्रव्य ज्ञानमे ज्ञेय हुए। इस ओर स्वय एक ज्ञाता और सामने छहों द्रव्य-ज्ञेय;—ऐसा ज्ञातापना वतलानेके लिये 'स्वात्मानुभव मनन'मे कहा है कि—आत्मा सप्तम द्रव्य हो जाता है।

अहो! ज्ञान ज्ञातास्वरूपसे है, उस ज्ञानकी प्रतीति निर्विकल्पसम्यक्त्वका कारण है। प्रतिसमय उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप ऐसे द्रव्यस्वभावको निश्चय करे तो ज्ञान जाननेका ही कार्य करे; और ज्ञेयमे 'ऐसा क्यो' ऐसा मिथ्याबुद्धिका विकल्प न आये। अस्थिरताका विकल्प आये वह तो ज्ञानका ज्ञेय हो जाता है, क्योंकि ज्ञानमे स्व-परप्रकाशक सामर्थ्य प्रगट हो गया है इसलिये वह रागको भी ज्ञानसे भिन्न ज्ञेयरूपसे जानता है, इसलिये उस विकल्पमे 'ऐसा विकल्प क्यो ?' ऐसा विकल्पका जोर नही आता, किन्तु 'यह राग भी ज्ञेयरूपसे सत् है'—ऐसा ज्ञान जान लेता है इसलिये ज्ञान की ही अधिकता रहती है,—दूसरे प्रकारसे कहा जाये तो ज्ञान और रागका भेदज्ञान हो जाता है। और पश्चात् भी ऐसे ज्ञानस्वभावके आधारसे ज्ञेयोको जाननेसे उस ज्ञानका विकास होकर उसकी सूक्ष्मता और वीतरागता बढ़ती जाती है, और क्रमश: पूर्ण वीतरागता और केवलज्ञान होनेसे संपूर्ण लोकालोक ज्ञेयरूपसे एक साथ ज्ञानमें डूब जाता है।—ऐसा यह अधिकार है।

यहाँ आत्मामे केवलज्ञानका सारा दल, और सामने लोकालोक ज्ञेयका दल। बस! ज्ञेय-ज्ञायकस्वभाव रह गया। ज्ञेय-ज्ञायकपनेमे राग-द्वेष या फेरफार करना कहाँ रहा ? अहो! ऐसे स्वभावको

स्वीकार तो कर ! इसकी स्वीकृतिमे वीतरागी श्रद्धा है और उसीमे वीतरागता तथा केवलज्ञानके बीज है ।

❀

दो बाते हुई हैं—(१) प्रथम तो, क्षेत्रके दृष्टान्तसे द्रव्यके अनादि-अनन्त प्रवाहकी एक समग्रवृत्ति बतलाई, और इस प्रवाह-क्रमके सूक्ष्म अंश सो परिणाम है—ऐसा बतलाया । इस प्रकार द्रव्यको सत् सिद्ध किया । 'उसमे, अखण्ड अस्तित्वकी अपेक्षासे एकत्व और परिणामोकी अपेक्षासे अनेकत्व—इस प्रकार सत्मे एकत्व-अनेकत्व भी सिद्ध किया ।

(२) उसके पश्चात् परिणामोका परस्पर व्यतिरेक सिद्ध किया ।

इस प्रकार दो बाते सिद्ध की; अब उनका विस्तार करके उसमें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य निकालते हैं ।

'जिस प्रकार वे प्रदेश अपने स्थानमे स्व-रूपसे उत्पन्न और पूर्वरूपसे विनष्ट होनेसे तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूतिसे रचित एक वास्तुपने द्वारा अनुत्पन्न—अविनष्ट होनेसे उत्पत्ति-संहार-ध्रौव्यात्मक है, उसी प्रकार वे परिणाम अपने अवसरमें स्व-रूपसे उत्पन्न और पूर्वरूपसे विनष्ट होनेसे तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूतिसे रचित एक प्रवाहपने द्वारा अनुत्पन्न-अविनष्ट होनेसे उत्पत्ति-सहार-ध्रौव्यात्मक है ।'

इसमे प्रदेशोकी बात दृष्टान्तरूप और परिणामोकी बात सिद्धान्तरूप है ।

प्रश्न—यह कौनसा विषय चल रहा है ?

उत्तर—यह वस्तुस्वभावकी बात हो रही है । उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप परिणाम—वह पदार्थोका स्वभाव है, और उस स्वभावमें सदैव स्थित द्रव्य सत् है—यह बात यहाँ सिद्ध करना है । उसमें प्रथम इतनी बात तो सिद्ध कर चुके है कि—द्रव्यकी वृत्ति अनादि-अनन्त अखण्डरूपसे एक होने पर भी, उसके प्रवाहक्रमका अंश सो परिणाम है । वे-वे परिणाम एक दूसरेमे नही वर्तते किन्तु उनका एक-दूसरे-

मे अभाव है। उसमेसे अब विस्तार करके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य निकालते है। उसमे भी प्रथम क्षेत्रका दृष्टान्त देते है।

सपूर्ण द्रव्यके एक क्षेत्रको ले तो उसके प्रदेश उत्पत्ति-विनाश रहित है, और उन प्रदेशोका परस्पर व्यतिरेक होनेसे, वे अपने अपने स्वक्षेत्रमे अपनेसे सत् और पूर्व प्रदेशरूपसे असत् है;—अर्थात् वे प्रदेश अपनेसे उत्पादरूप है और पूर्वके प्रदेशकी अपेक्षा-से व्ययरूप है; इस प्रकार समस्त प्रदेश उत्पाद-व्ययरूप है और सर्व प्रदेशोका विस्तार साथमे ले लेनेसे द्रव्यके प्रदेश ध्रौव्यरूप है। इस प्रकार समस्त प्रदेश एक समयमे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप है। (यहाँ प्रदेशोके जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य कहे है वे क्षेत्र अपेक्षासे समझना।) इस उदाहरणके अनुसार समय समयके परिणामोमे भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यपना है। अनादि-अनन्त एक प्रवाहकी अपेक्षा-से परिणाम उत्पत्ति-विनाशरहित ध्रुव है, और वे परिणाम अपने अपने स्वकालमे उत्पादरूप है तथा पूर्वपरिणामकी अपेक्षासे व्यय-रूप है। इस प्रकार समस्त परिणाम उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप है और ऐसे उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप परिणाम वह वस्तुका स्वभाव है।

यहाँ प्रथम समुच्चय क्षेत्रकी और समुच्चय परिणामो-की इकट्ठी बात लेकर उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सिद्ध किये है। एक परि-णाम पृथक् करके उसकी बात फिर करेगे। यह बात अकेले आत्मा की नही किन्तु समस्त द्रव्योके स्वभावकी है। किन्तु यहाँ आत्मा की मुख्यतासे बातकी जाती है।

जिस प्रकार आत्माके असंख्य प्रदेशोमे एक समयमे क्षेत्र अपेक्षासे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य लागू होता है, उसी प्रकार आत्माके प्रवाहक्रममे वर्तनेवाले समस्त परिणाम अपने अपने अवसरमे स्व-रूपसे उत्पन्न है, पूर्वरूपसे विनष्ट है और अखण्ड धारावाहीप्रवाह-रूपसे वे उत्पन्न या विनष्ट नही है, इसलिये वे परिणाम उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप है।

प्रदेशोके उदाहरणमें क्षेत्र-अपेक्षासे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य है और सिद्धान्तमे परिणाम-अपेक्षासे (प्रवाह-अपेक्षासे, काल-अपेक्षासे) उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य है।

देखो तो! क्रमबद्ध अपने अवसरमें समस्त परिणामोके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य कहकर पूर्ण त्रैकालिक द्रव्यको ज्ञेयरूपसे सामने रख दिया है। सर्वज्ञकी और ज्ञानस्वभावकी प्रतीतिके विना किसी प्रकार यह वात भीतर नही जम सकती। इसकी प्रतीति-मे सम्यग्दर्शन है, और चौसठपुटी पीपर घुंट रही हो इस प्रकार इसके घोटनेमे अकेली वीतरागता ही घुंटती है। अहो! अद्भुत बात रखी है।

द्रव्यके समस्त परिणाम अपने अपने अवसरमें स्व-रूपसे उत्पन्न है, पूर्वरूपसे विनष्ट है, और एक अखण्डप्रवाहकी अपेक्षासे वे उत्पत्ति-विनाश रहित ध्रौव्य है।

यहाँ परिणागोका स्वअवसर कहकर आचार्यदेवने अद्भुत बातकी है। जितने एक द्रव्यके परिणाम उतने ही तीनकालके समय, और जितने तीनकालके समय उतने ही एक द्रव्यके परि-णाम। वस! इतना निश्चित करे तो अपने ज्ञायकपनेकी प्रतीति हो जाये। द्रव्यके प्रत्येक परिणामका अपना अपना अवसर भिन्न है। तीनकालके परिणाम एक साथ ज्ञेय है और यहाँ आत्मा उनका ज्ञाता है। ऐसे ज्ञेय-ज्ञायकपनेमे वीचमे राग नही रहा, अकेली वीतरागता ही आई। प्रथम ऐसी श्रद्धा करनेसे वीतरागी श्रद्धा होती है और पश्चात् ज्ञानस्वभावसे स्थिरता होनेसे वीतरागी चारित्र होता है।

अहो! द्रव्यके परिणामोका स्वअवसर कहो अथवा क्रम-वद्धपरिणाम कहो, उसकी प्रतीति करनेसे परिणामी-ऐसे त्रिकाली द्रव्य पर ही दृष्टि जाती है। परिणामोके स्वअवसरकी यह वात स्वीकार करनेसे तो—'निमित्त आये तो परिणाम होता है, या निमित्त-

के कारण यहाँ परिणाममे फेरफार होता है, कर्मके उदयसे विकार होता है, या व्यवहार करते करते परमार्थ प्रगट होता है, अथवा तो पर्यायके आधारसे पर्याय होती है'—ऐसी कोई बात बनी ही नहीं रहती। समस्त परिणाम अपने अपने अवसरमें द्रव्यमेसे प्रगट होते है। जहाँ द्रव्यका प्रत्येक परिणाम अपने अपने अवसरमे 'सत्' है वहाँ निमित्तके सन्मुख देखना ही कहाँ रहा ?—और 'मै परमे फेर-फार करूँ या परसे मुझमें फेरफार हो'—यह बात भी कहाँ रही ? —मात्र ज्ञाता और ज्ञेयपना ही रहता है, यही मोक्षमार्ग है, यही सम्यक् पुरुपार्थ है।

तो तीनकालके परिणाम है वे द्रव्यके प्रवाहरूपी साकल-की कडियाँ है। जिस प्रकार सांकलकी कडियाँ आगे-पीछे नही होती, जैसी है वैसी ही रहती है; उसीप्रकार द्रव्यके अनादि-अनन्त परि-णाम अपने अवसरसे आगे-पीछे नही होते, प्रत्येक परिणाम अपने अपने अवसरमे सत् है। इसमे तीनकालके परिणामोकी एक अखण्ड सांकर लेकर उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यकी वात है। द्रव्य अपने परिणाम-स्वभावमें स्थित है। इस समय परिणामका स्वभाव क्या है वह वात चल रही है। प्रथम परिणामोका उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वभाव सिद्ध करते है, और पश्चात् द्रव्य उस परिणामस्वभावमे स्थित होने-से वह द्रव्य भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त सत् है—ऐसा अन्तमे सिद्ध करेंगे। ज्ञाता, वस्तुके ऐसे स्वभावको जाने और ज्ञेयोमे फेरफार करना न माने वह सम्यक्त्व है, और पदार्थोंके स्वभावका ज्ञाता रहे उसमे वीतरागता है।

इस प्रवचनसारमे पहले तो ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापनमें आत्माका ज्ञानस्वभाव निश्चित् किया है, और पश्चात् दूसरे अधिकारमे ज्ञेयतत्त्वो-का वर्णन किया है। आत्माका स्वभाव ज्ञान ही है, और जीव—अजीवमे अपने अपने अवसरमे होनेवाले तीनकालके परिणाम ज्ञेय है;—ऐसी प्रतीति करनेसे कही फेरफार या आगे-पीछे करने

की बुद्धि नहीं रही, इसलिये ज्ञान स्वमें स्थिर हुआ। यही वीतरागता और केवलज्ञानका कारण है।

पदार्थोंका जैसा सत्स्वभाव हो वैसा माने तो सत्मान्यता कहलाये; किन्तु पदार्थोंके सतस्वभावसे अन्य प्रकार माने तो वह मान्यता मिथ्या है। यह 'सत्' की श्रद्धा कराते हैं। 'सत्' द्रव्यका लक्षण है और वह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाला है। द्रव्यके ऐसे सत्-स्वभावकी प्रतीति करना सो सम्यग्दर्शन है। यही सच्चा 'तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' है। इस समय बात तो परिणामों की चल रही है, किन्तु परिणामके निर्णयमें परिणामी द्रव्यका निर्णय भी आ जाता है। परिणाम तो क्षणिक है, किन्तु वह परिणाम किसके ! कहते हैं कि-त्रिकाली द्रव्यके। परिणाम अद्रव्यसे नहीं होते किन्तु परिणामीके परिणाम हैं; इसलिये परिणामका निर्णय करनेमें परिणामी द्रव्यका ही निर्णय होता है, और अकेले परिणामके ऊपरसे रुचि हटकर त्रिकाली द्रव्यस्वभावकी ओर रुचि और ज्ञान झुकता है;—यही सम्यग्दर्शन और वीतरागताका मूल है।

यह ९९ वी गाथा अत्युत्तम है; इसमें वस्तुस्थितिके स्वरूपका अलौकिक रीतिसे वर्णन किया है। समस्त द्रव्य 'सत्' है, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यसहित परिणाम उसका स्वभाव है, और ऐसे स्वभावमें सदैव प्रवर्तमान होनेसे द्रव्य भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाला है;—ऐसा इस गाथामें सिद्ध करना है।

(१) टीकामें, प्रथम तो द्रव्यमें समग्रपने द्वारा अनादि—अनन्त प्रवाह की एकता, और प्रवाहक्रमके सूक्ष्म अंश सो परिणाम—ऐसा बतलाया।

(२) फिर प्रवाहक्रममें प्रवर्तमान परिणामोंका परस्पर व्यतिरेक सिद्ध किया।

(३) पश्चात् समुच्चयरूपसे सम्पूर्ण द्रव्यके त्रिकाली परिणामोंको उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक सिद्ध किया। (उसके दृष्टान्त,

में, द्रव्यके समस्त प्रदेशोंको क्षेत्र-अपेक्षासे उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यात्मक सिद्ध किया।)

(४) तत्पश्चात् एक ही परिणाममें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकपना वतलाया। (उसके दृष्टान्तमे, प्रत्येक प्रदेशमे क्षेत्र-अपेक्षासे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य वतलाये।)

(५) इस प्रकार परिणामके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सिद्ध करनेके पश्चात् अन्तमें—उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकपरिणामके प्रवाहमे निरन्तर वर्त रहा है इसलिये द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सहित होनेसे सत् है—इस प्रकार सम्पूर्ण द्रव्य लेकर उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सिद्ध किये है।

ऊपर जो पाँच वोल कहे हैं, उनमेसे इस समय यह तीसरे वोलका विवेचन हो रहा है। अपने अपने अवसरमे त्रैकालिक समस्त परिणामोके उत्पाद-व्यय–ध्रौव्यकी एक ही साथ बात करके यहाँ अकेला ज्ञायकभाव ही वतलाया है। यहाँ सम्पूर्ण ज्ञायकभाव और सामने सम्पूर्ण ज्ञेय एकसाथ ले लिया है।

यहाँ परिणामोंमें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य समझानेके लिये प्रदेशोका उदाहरण लिया है। कोई ऐसा कहे कि—दूसरा कोई सरल उदाहरण न देकर आचार्यदेवने प्रदेशोका ऐसा सूक्ष्म उदाहरण क्यो दिया?—तो कहते है कि—भाई! तू शान्त हो! आचार्यदेवने प्रदेशोका उदाहरण योग्य ही दिया है। क्योकि द्रव्यका सारा क्षेत्र एकसाथ अक्रमसे फैला पड़ा है और परिणामोकी व्यक्ता तो क्रमशः होती है, इसलिये प्रदेशोका उदाहरण शीघ्र ही समझमे आ सकता है, और परिणामोंकी वात उससे सूक्ष्म है। यहाँ परिणामोके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यकी सूक्ष्म एवं गम्भीर बात समझाना है इसलिये उदाहरण भी प्रदेशोका सूक्ष्म ही लेना पड़ा है। यदि बाह्य—स्थूल उदाहरण दे तो सिद्धान्तकी जो सूक्ष्मता और गम्भीरता है वह ख्यालमे नही आयेगी; इसलिये ऐसे सूक्ष्म उदाहरणकी ही यहाँ आवश्यकता है।

आत्मा ज्ञानस्वभाव है। उस ज्ञानका स्वभाव 'जानना' है, अर्थात् ज्ञान जाननेका ही कार्य करता है। आत्मामे और परमें क्रमशः जो अवस्था हो वह ज्ञेय है, उसे जैसी हो वैसा मात्र जानना ज्ञानका स्वभाव है किन्तु उसमे कुछ भी फेरफार करे ऐसा ज्ञानका स्वभाव नही है। ज्ञान करे क्या ? ज्ञान तो जानता है। जाननेके अतिरिक्त अन्य कोई ज्ञानका कार्य नही है। रागादि परिणाम हुए उन्हे भी जानना ज्ञानका कार्य है, किन्तु उस रागको अपना त्रिकाली-स्वभाव माने या हितकर माने ऐसा ज्ञानका कार्य नही है, और उस रागपरिणामको बदलकर आगे-पीछे करे ऐसा भी ज्ञानका कार्य नही है। बस ! स्व या पर, विकारी या अविकारी, समस्त ज्ञेयोको जानना ही ज्ञानका कार्य है; मैं रागादि परिणामो जितना ही हूँ—ऐसा ज्ञान नही मानता।—ऐसे ज्ञानस्वभावकी प्रतीति ही वीतरागताका मूल है।

इस जगतमें अनंत जीव, अनंत पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और असख्यात कालाणु—ऐसे छह प्रकारके पदार्थ हैं। उनमेसे प्रत्येक आत्माका ज्ञानगुण छहो पदार्थोंकी क्रमशः होनेवाली समस्त अवस्थाओंको तथा द्रव्य-गुणको जाननेवाला है; ऐसा प्रत्येक आत्माका ज्ञानस्वभाव है। ऐसे ज्ञातास्वभावको जो जानता है वह जीव रागपरिणामको जानता अवश्य है, किन्तु उस रागको अपना मूल स्वरूप नही मानता,—रागको धर्म नही मानता, रागको उपादेय नही मानता और रागपरिणामको आगे-पीछे करनेवाला भी स्वभाव नही मानता। उसके अवसरमे वह रागपरिणाम भी सत् है, और उसे जाननेवाला ज्ञान भी सत् है; द्रव्यके त्रिकाली प्रवाहक्रममे वह रागपरिणाम भी सत्‌रूपसे आ जाता है, इसलिये वह भी ज्ञानका ज्ञेय है। राग था इसलिये रागका ज्ञान हुआ—ऐसा नहीं है किन्तु ज्ञानका ही स्वभाव जाननेका है। पूर्ण स्वज्ञेयको जाननेवाला ज्ञान उस रागको भी स्वज्ञेयके अंशरूपसे जानता है ; त्रिकाली अंशीके ज्ञानसहित अंशका भी ज्ञान करता

है। यदि रागको स्वज्ञेयके अंशरूपसे सर्वथा न जाने तो उस ज्ञान-मे संपूर्ण स्वज्ञेय पूर्ण नही होता, इसलिये वह ज्ञान सच्चा नही होता; और यदि उस रागरूप अंशको ही पूर्ण स्वज्ञेय मान ले और त्रिकाली द्रव्य–गुणको स्वज्ञेय न बनाये तो वह ज्ञान भी मिथ्या है। द्रव्य–गुण और समस्त पर्याये–यह तीनो मिलकर स्वज्ञेय पूरा होता है; उसमे अंशी–त्रिकाली द्रव्य–गुणकी रुचि सहित अशको और परज्ञेयको जाननेका कार्य सम्यग्ज्ञान करता है। यथार्थ ज्ञानमे ज्ञेयोका स्वभाव कैसा ज्ञात होता है उसका यह वर्णन है।

समस्त पदार्थोका स्वभाव उत्पाद–व्यय–ध्रौव्ययुक्त है; प्रत्येक पदार्थमें प्रतिसमय परिणाम होते है, वे परिणाम क्रमानुसार अनादि–अनन्त होते रहते है, इसलिये स्वअवसरमे होनेवाले परिणामो-का प्रवाह अनादि–अनन्त है। उस प्रवाहक्रमका छोटेसे छोटा प्रत्येक अंश भी उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यरूप स्वभाववाला है। अनादि–अनन्त कालके प्रत्येक समयमें उस–उस समयका परिणाम स्वय सत् है। ऐसे सत् परिणामोको ज्ञान जानता है किन्तु उनमे कुछ भी फेरफार नही कर सकता। जैसे–अग्नि या बरफ आदि पदार्थोको आँख देखती है किन्तु उनमे कुछ भी फेरफार नही करती; उसी प्रकार ज्ञान-की पर्याय भी ज्ञेयोको सत्‌रूपसे जैसे है वैसा जानती ही है, उनमे कुछ फेरफार नही करती। स्वअवसरमे जब जो परिणाम है उस समय वही परिणाम होता है–अन्य परिणाम नही होते–ऐसा जहाँ ज्ञानमे निश्चित् किया वहाँ किसी भी ज्ञेयको उल्टा–सीधा करने-की मिथ्याबुद्धिपूर्वकके राग-द्वेष नही होते।

अहा! देखो तो! क्रमबद्धपर्यायके निर्णयमे कितनी गभीरता है! द्रव्यकी पर्याय परसे बदलती है—यह बात तो है ही नही, किन्तु द्रव्य स्वयं अपनी पर्यायको उल्टा–सीधा करना चाहे तो भी नही हो सकती। जिस प्रकार त्रिकाली द्रव्य पलटकर अन्यरूप नही हो जाता, उसी प्रकार उसका प्रत्येक समयका अंश—परिणाम भी बदलकर अन्यरूप नही होता। 'मैं जीव नही रहना चाहता किन्तु

अजीव हो जाना है'–इस प्रकार जीवको बदलकर कोई अजीव करना चाहे तो क्या वह बदल सकता है ? नही बदल सकता। जीव पलट-कर कभी भी अजीवरूप नही होता। जिस प्रकार त्रिकाली सत् नही बदलता उसी प्रकार उसका वर्तमान सत् भी नही बदलता। जिस प्रकार त्रिकाली द्रव्य नही बदलता उसी प्रकार उसकी प्रत्येक समय की अनादि–अनन्त अवस्थाये भी जिस समय जो है उनमें फेरफार या आगा–पीछा नही हो सकता। त्रिकाली प्रवाहके वर्तमान अश अपने अपने कालमें सत् है। बस, परमे या स्वमे कही भी फेरफार करनेकी वुद्धि न रही इसलिये ज्ञान ज्ञाता ही रह गया। पर्यायबुद्धि-मे रुकना न रहा। इस प्रकार ज्ञान जाननेका कार्य करता है;— ऐसे ज्ञानस्वभावकी प्रतीति करना सो सम्यग्दर्शन है। अभी केवल-ज्ञान होनेसे पूर्व वह जीव केवलीभगवानका लघुनन्दन हो गया। श्रद्धा अपेक्षासे तो वह साधक भी सर्वका ज्ञायक हो गया है।

समस्त पदार्थोंके उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यस्वभावको निश्चित् करनेसे स्वमे या परमें फेरफार करनेकी बुद्धि नही रही किन्तु ज्ञानमें जाननेका ही कार्य रहा। इसलिये ज्ञानमेसे 'ऐसा क्यो'— ऐसी हाय–हाय (–खलबलाहट) निकल गई और ज्ञान ज्ञाता होकर अपनेमे स्थिर हुआ—इसीमें ज्ञानका परमपुरुषार्थ है; इसीमे मोक्ष-मार्गका और केवलज्ञानका पुरुषार्थ आ जाता है। परमे कर्तृत्व-बुद्धिवालेको ज्ञानस्वभावकी प्रतीति नही बैठती, और न उसे ज्ञान-के स्वभावका—ज्ञायकपनेका पुरुषार्थ भी ज्ञात होता है।

अहो ! समस्त द्रव्य अपने अपने अवसरमे होनेवाले परि-णामोमे वर्त रहे है; उसमे तू कहाँ परिवर्तन करेगा ? भाई ! तेरा स्वभाव तो देखनेका है। तू देखनेवालेको दृष्टा ही रख; दृष्टाको हाय–हाय करनेवाला न बना। दृष्टास्वभावकी प्रतीति ही सम्यग्दर्शन है। मै परमें फेरफार करता हूँ और पर मुझमे फेरफार करता है— ऐसा मिथ्यादृष्टिका भाव है, उसे ज्ञान और ज्ञेयके स्वभावकी प्रतीति

नहीं है। जगतके जड़ या चेतन समस्त द्रव्य अपने प्रवाहमें वर्तते हैं, उनमें जो-जो अंश वर्तमानमें वर्त रहा है उसे कोई आगे-पीछे नहीं कर सकता। मै ध्यान रखकर शरीरको बराबर रखूँ-ऐसा कोई माने तो मिथ्यादृष्टि है। शरीरका प्रत्येक परमाणु उसके अपने प्रवाहक्रममें वर्त रहा है, उसके क्रमको कोई बदल नही सकता। कहीं भी फेरफार करनेका आत्माके किसी भी गुणका कार्य नही है, किन्तु स्वको जानते हुए परको जाने-ऐसा उसके ज्ञान-गुणका स्व-परप्रकाशक कार्य है। इसकी प्रतीति ही मुक्तिका कारण है।

प्रत्येक द्रव्य त्रिकाल परिणमित होता रहता है; उसके त्रिकालके प्रवाहमे स्थित समस्त परिणाम उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप हैं। अपने स्वकालमें वे सब परिणाम अपनी अपेक्षासे उत्पादरूप है; पूर्वके परिणामकी अपेक्षासे व्ययरूप है और परस्पर सम्बन्धवाले अखण्डप्रवाहकी अपेक्षासे वे ध्रौव्य है। द्रव्यके समस्त परिणाम अपने अपने कालमें सत् है। वे परिणाम स्वयं अपनी अपेक्षासे असत् (व्ययरूप) नही है, किन्तु अपने पहलेके-पूर्वपरिणामकी अपेक्षासे वे असत् (व्ययरूप) हैं। और प्रथम पश्चात्के भेद किये विना अखण्डप्रवाहको देखो तो समस्त परिणाम ध्रौव्य है। जब देखो तब द्रव्य अपने वर्तमान परिणाममें वर्त रहा है। द्रव्य त्रिकाल होने पर भी जब देखो तब वह वर्तमान परिणाममे वर्त रहा है—कही भूतमे या भविष्यमे नही वर्तता। द्रव्यके तीनोकालके जो वर्तमान परिणाम है वे अपनेसे पहलेके परिणामके अभावस्वरूप है, और स्वपरिणामरूपसे उत्पादरूप है, तथा वे ही अखण्डप्रवाहरूपसे ध्रौव्यरूप है।

देखो, इसमे यह बात आ गई कि पूर्वके परिणाम अभावस्वरूप वर्तमान परिणाम है इसलिये पूर्वके संस्कार वर्तमान पर्यायमे नही आते, और न पूर्वका विकार वर्तमान मे आता है; पहले विकार

किया था इसलिये इस समय विकार हो रहा है-ऐसा नही है। वर्तमान परिणाम स्वतन्त्रतया द्रव्यके आश्रयसे होते है। यह निर्णय होनेसे ज्ञान और श्रद्धा द्रव्यस्वभावोन्मुख हो जाते है। जिस प्रकार त्रिकाली जड़ द्रव्य बदलकर चेतन या चेतन द्रव्य बदलकर जड नही होता उसी प्रकार उसका वर्तमान प्रत्येक अंश भी बदलकर दूसरे अंशरूप नही होता। जिस-जिस समयका जो अंश है उस-उस रूप ही सत् रहता है। बस, भगवान सर्वज्ञरूपसे ज्ञाता है उसी प्रकार ऐसी प्रतीति करनेवाला स्वयं भी प्रतीतिमें ज्ञाता ही रहा।

परके कारण परमे कुछ होता है-यह बात तो दूर रही, परन्तु द्रव्य स्वयं अपने अंशको आगे-पीछे करे ऐसी उस द्रव्यकी शक्ति नही है; पहलेका अश पीछे नही होता, पीछेका अंश पहले नही होता।—ऐसा निर्णय करनेवालेको अंशबुद्धि दूर होकर अंशीकी दृष्टि होनेसे सम्यक्त्वपरिणामका उत्पाद और मिथ्यात्वपरिणामका व्यय हो जाता है।

प्रभु! तू आत्मा वस्तु है, तेरा ज्ञानगुण तेरे आधारसे टिका है वह ज्ञाता स्वभाववाला है। और तेरे तीनकालके परिणाम अपने अवसरके अनुसार द्रव्यमेसे होते रहते है। तेरे अपने वर्तमानमें प्रवर्तमान अंशको कम-अधिक या आगे-पीछे कर सके-ऐसा तेरा स्वभाव नही है; और न परके परिणाममे भी फेरफार हो सकता है। स्व-पर समस्त ज्ञेयोको यथावत् जाननेका ही तेरा स्वभाव है। ऐसे ज्ञातास्वभावकी प्रतीतिमे ही आत्माका सम्यक्त्व है।

प्रश्नः—मिथ्यात्वपरिणामको बदलकर सम्यक्त्व करूँ—ऐसा तो लगता है न?

उत्तरः—देखो, ज्ञातास्वभावकी प्रतीति करनेसे सम्यग्दर्शन हुआ उसमे मिथ्यात्व दूर हो ही गया है। सम्यक्त्वपरिणामका उत्पाद हुआ उस समय मिथ्यात्वपरिणाम वर्तमान नही होते, इस-

लिये उन्हें बदलना भी कहाँ रहा ? मिथ्यात्वको हटाकर सम्यक्त्व करूँ—ऐसे लक्षसे सम्यक्त्व नही होता, किन्तु द्रव्यसन्मुख दृष्टि होनेसे सम्यक्त्वका उत्पाद होता है उसमें पूर्वके मिथ्यात्वपरिणामका अभाव हो ही गया है। इसलिये उस परिणामको भी बदलना नही रहता। मिथ्यात्व दूर होकर सम्यक्त्वपर्याय प्रगट हुई उसे भी आत्मा जानता है, किन्तु परिणामके किसी भी क्रमको वह आगे-पीछे नहीं करता।

अहो ! जिस-जिस पदार्थका जो वर्तमान अंश है वह कभी नही बदलता।—इसमे अकेला वीतरागीविज्ञान ही आता है। पर्यायको बदलनेकी बुद्धि नही है और 'ऐसा क्यो'—ऐसा विषमभाव नही है इसलिये श्रद्धा और चारित्र दोनोका मेल बैठ गया। इस ९९ वी गाथामें दो नौ इकट्ठे होते है और उनमेसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्चारित्र दोनों इकट्ठे हो जाये ऐसा उच्च भाव निकलता है। जिस प्रकार नौ का अंक अफर (जो फिर न सके) माना जाता है उसीप्रकार यह भाव भी अफर है।

त्रिकाली द्रव्यके प्रत्येक समयके परिणाम सत् है—ऐसा सर्वज्ञदेवने कहा है; द्रव्य सत् है और पर्याय भी सत् है; यह 'सत्' जिसे नही बैठा और पर्यायोमे फेरफार करना मानता है उसे वस्तुके स्वभावकी, सर्वज्ञदेवकी, गुरुकी या शास्त्रकी बात नही जमी है, और वास्तवमे उसने उन किसीको नही माना है।

त्रिकाली वस्तुका वर्तमान कब नही होता ?—सदैव होता है। वस्तुका कोई भी वर्तमान अंश ख्यालमे लो वह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप है। वस्तुको जब देखो तब वह वर्तमानमे वर्त रही है। इस वर्तमानको यहाँ स्वयसिद्धि सत् सिद्ध करते है। जिस प्रकार त्रिकाली सत् पलटकर चेतनमेसे जड नही हो जाता, उसी प्रकार उसका प्रत्येक वर्तमान अंश है वह सत् है, वह अंश भी पलटकर आगे-पीछे नही होता। जिसने ऐसे वस्तुस्वभावको जाना उसको अपने अकेले

ज्ञायकपनेकी प्रतीति हुई, वही धर्म हुआ। और उसने देव-गुरु-शास्त्र-को भी यथार्थरूपसे माना कहा जायेगा।

तीनोकालके समयमे तीनोंकालके परिणाम उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य है; कोई भी एकसमयका जो परिणाम है वह पहले नही था और फिर उत्पन्न हुआ, इसलिये पूर्वपरिणामके पश्चात्‌रूपसे वह उत्पादरूप है, और उस परिणामके समय पूर्वके परिणामका व्यय है,—पूर्वपरिणामका व्यय होकर वह परिणाम उत्पन्न हुआ है इसलिये पूर्वपरिणामकी अपेक्षा वही परिणाम व्ययरूप है, और तीनोकालके परिणामके अखण्डप्रवाहकी अपेक्षासे वह परिणाम उत्पन्न भी नहीं हुआ है और विनाशरूप भी नही है—है वैसा है अर्थात् ध्रौव्य है। इस प्रकार अनादि-अनंत प्रवाहमें जब देखो तब प्रत्येक परिणाम उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वभावरूप है।

किसी भी वस्तुकी पर्यायमे फेरफार करनेकी उमंग सो पर्यायबुद्धिका मिथ्यात्व है; उसे ज्ञानस्वभावकी प्रतीति नहीं है और ज्ञेयोके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वभावकी भी खबर नही है। अरे भगवान ! वस्तु 'सत्' है न ? तो तू उस सत्‌के ज्ञानके अतिरिक्त दूसरा उसमे क्या करेगा ? तू सत्‌में फेरफार करना मानेगा तो सत् तो नहीं बदलेगा किन्तु तेरा ज्ञान असत् होगा। जिस प्रकार वस्तु सत् है उसी प्रकार उसे भगवानने केवलज्ञानमें जाना है, वही वाणी द्वारा कहा गया है—नवीन नही कहा गया। भगवानने तो जैसा सत् था वैसा मात्र ज्ञान किया है; वाणी जड़ है उसे भी भगवानने नही निकाला भगवानका आत्मा अपने केवल ज्ञानपरिणाममे वर्त रहा है, और वाणीकी पर्याय परमाणुओके परिणमनप्रवाहमें वर्त रही है, तथा समस्त पदार्थ अपने सत्‌मे वर्त रहे है। ज्ञायकमूर्ति आत्मा तो जानने-का कार्य करता है कि—'सत् ऐसा है।' बस, इसीका नाम सम्यग्दर्शन और वीतरागताका मार्ग है।

भगवान कैसे है ?—'सर्वज्ञ'—सर्वके ज्ञाता; किसीमें राग-द्वेष या फेरफार करनेवाले नही है। भगवानकी भाँति मेरे आत्माका

स्वभाव भी जाननेका है—इस प्रकार तू भी अपने ज्ञातास्वभावकी श्रद्धा कर और पदार्थोंमें फेरफार करनेकी बुद्धि छोड ! जिसने अपने ज्ञानस्वभावकी श्रद्धा की वह अस्थिरताके राग-द्वेषका भी ज्ञाता ही रहा। जिसने ऐसे ज्ञानस्वभावको माना, उसीने अरिहंतदेव-को माना, उसीने आत्माको माना, उसीने गुरुको तथा शास्त्रको माना, उसीने नवपदार्थोंको माना, उसीने छह द्रव्योंको तथा उनके वर्तमान अंगको माना; उसीका नाम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।

'जानना' आत्माका स्वभाव है। बस, जानना ही आत्मा-का पुरुषार्थ है, वही आत्माका धर्म है, उसीमे मोक्षमार्ग और वीतरागता है। अनन्त सिद्धभगवत भी प्रतिसमय पूर्ण जाननेका ही कार्य कर रहे है।

ज्ञानमे स्व-पर दोनो ज्ञेय है। 'ज्ञान ज्ञाता है'-ऐसा जाना वहाँ ज्ञान भी स्वज्ञेय हुआ। ज्ञानको रागादिका कर्ता माने या बदलनेवाला माने तो उसने ज्ञानके स्वभावको नही जाना है—स्वयं अपनेको स्वज्ञेय नही बनाया इसलिये उसका ज्ञान मिथ्या है। वस्तुके समस्त परिणाम अपने अपने समयमे सत् है—ऐसा कहते ही अपना स्वभाव ज्ञायक ही है—ऐसा उसमें आ जाता है।

❀

इस गाथामे क्षेत्रका उदाहरण देकर पहले द्रव्यका त्रिकाली सत्पना वतलाया, उसके त्रिकाली प्रवाहक्रमके अंग वतलाये, और उन अंशोमे (परिणामोमे) अनेकतारूप प्रवाहक्रमका कारण उनका परस्पर व्यतिरेक है—ऐसा सिद्ध किया। तत्पश्चात् सम्पूर्ण द्रव्यके समस्त परिणामोंको स्व-अवसरमे वर्तनेवाला, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप वतलाया। इतनी वात पूर्ण हुई।

अव, प्रत्येक समयके वर्तमान परिणामको लेकर उसमें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यपना वतलाते है। पहले समय परिणामोकी वात थी और अव यहाँ एक ही परिणामकी वात है। और फिर अन्तमे

परिणामी द्रव्यकी ही बात लेकर द्रव्यके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य बतलायेंगे।

पुनश्च, 'जिस प्रकार वस्तुका जो छोटेसे छोटा (अन्तिम) अंश पूर्वप्रदेशके विनाशरूप है वही (अंश) तत्पश्चात्‌के प्रदेशके उत्पादस्वरूप है तथा वही परस्पर अनुस्यूतिसे रचित एकवास्तुपने द्वारा अनुभयस्वरूप है (अर्थात् दोमेंसे एक स्वरूप भी नही है।) उसी प्रकार प्रवाहका जो छोटेसे छोटा अंश पूर्वपरिणामके विनाशस्वरूप है वही तत्पश्चात्‌के परिणामके उत्पादस्वरूप है तथा वही परस्पर अनुस्यूतिसे रचित एक प्रवाहपने द्वारा अनुभयस्वरूप है।'

असंख्यप्रदेशी आत्माका कोई भी एक प्रदेश लो तो वह प्रदेश, क्षेत्र अपेक्षासे पूर्वके प्रदेशके व्ययरूप है, स्वयं अपने क्षेत्रके उत्पादरूप है और अखण्ड क्षेत्र अपेक्षासे वही ध्रौव्य है।—यह दृष्टान्त है। उसी प्रकार अनादि-अनन्त प्रवाहक्रममें वर्तमान प्रवर्तित कोई भी एक परिणाम पूर्वके परिणामके व्ययरूप है, तत्पश्चात्‌के परिणामकी अपेक्षासे उत्पादस्वरूप है, और पहले-पीछेका भेद किये बिना सम्पूर्ण प्रवाहक्रमके अंशरूपसे देखे तो वह परिणाम ध्रौव्यरूप है। इस प्रकार प्रत्येक परिणाममें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य है।

समस्त परिणामोके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यकी बात ली तब 'अपने अपने अवसरमें'—ऐसा कहकर उस प्रत्येकका स्वतंत्र स्वकाल बतलाया था। और यहाँ एक परिणामकी विवक्षा लेकर बात करनेसे उन शब्दोंका उपयोग नही किया; क्योकि वर्तमान एक ही परिणाम लिया उसीमे उसका वर्तमान स्वकाल आ गया।

वर्तमान वर्तनेवाला परिणाम पूर्वपरिणामके अभावरूप ही है; इसलिये पूर्वके विकारका अभाव करूं—यह बात नही रहती; और वर्तमानमें सत्‌रूप है इसमे भी फेरफार करना नही रहता। ऐसा समझने पर मात्र वर्तमान परिणामकी दृष्टिसे परिणाम और परिणामीकी एकता होने पर सम्यक्त्वका उत्पाद होता है, उसमे पूर्व-

के मिथ्यात्वका व्यय है ही, मिथ्यात्वको दूर नही करना पडता। किसी भी परिणामको मै नही बदल सकता, मात्र जानता हूँ—ऐसा मेरा स्वभाव है;—इस प्रकार ज्ञानस्वभावकी प्रतीतिमे सम्यक्त्व-परिणामका उत्पाद और उसीमे मिथ्यात्वका व्यय है ही। इस-लिये मिथ्यात्वको दूर करूँ और सम्यक्त्व प्रगट करूँ—यह बात ही नही रहती। जहाँ ऐसी बुद्धि वहाँ उस समयका सत्‌परिणाम स्वय ही सम्यक्त्वके उत्पादरूप और मिथ्यात्वके व्ययरूप है, तथा एक-दूसरे-के साथ सबन्धित परिणामोके अखण्डप्रवाहरूपसे वह परिणाम ध्रौव्य है। इस प्रकार प्रत्येक परिणाम उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त सत् है।

जिस प्रकार वस्तु सत् है उसी प्रकार उसका वर्तमान भी सत् है। वस्तुके त्रिकाली प्रवाहमे प्रत्येक समयका अश सत् है; वर्तमान समयका परिणाम पूर्वके कारण नही है किन्तु पूर्वके अभावसे ही अपनेरूपसे सत् है। वह वर्तमान अश परसे नही किन्तु अपनेसे है। प्रत्येक समयका वर्तमान अश निरपेक्षरूपसे अपनेसे ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सत् है।

सर्वज्ञके अतिरिक्त वस्तुस्वरूपका ऐसा वर्णन अन्यत्र नही हो सकता। भाई! तू क्या करेगा? जगतके तत्त्व सत् है, उनकी पहली पर्यायके कारण भी दूसरी पर्याय नही होती, तब फिर तू उसमे क्या करेगा? तू तो मात्र ज्ञाता रह! इसके अतिरिक्त दूसरा कुछ मानेगा तो, वस्तुमे तो कुछ भी फेरफार नही होगा किन्तु तेरा ज्ञान मिथ्या होगा।

वस्तुका वर्तमान अश है वह सत् है;—इस प्रकार यहाँ तो वर्तमान प्रत्येक समयके परिणामको सत् सिद्ध करना है। द्रव्यके आधारसे अंश है—यह बात इस समय नही लेना है। यदि द्रव्य-के कारण परिणामका सत्‌पना हो तब तो सभी परिणाम एक-समान ही हो; इसलिये द्रव्यके कारण परिणामका सत् है ऐसा

न लेकर प्रत्येक समयका परिणाम स्वय सत् है द्रव्य, ही उस वर्तमान परिणामरूपसे वर्तता हुआ सत् है —ऐसा लिया है। प्रवाह-का वर्तमान अश उस अंशके कारण ही है। अहो ! प्रत्येक समय-का अकारणीय सत् सिद्ध किया है। समय समयका सत् अहेतुक है। समस्त पदार्थोके तीनोकालके वर्तमानका प्रत्येक अश निरपेक्ष सत् है, ज्ञान उसे जैसेका तैसा–यथावत्–जानता है, किन्तु बदलता नही है। ज्ञानने जाना इसलिये वह अश वैसा है—ऐसी बात नही है। वह स्वय सत् है।

वर्तमान परिणाम पूर्व परिणामके व्ययरूप है, इसलिये वर्तमान परिणामको पूर्व परिणामकी भी अपेक्षा नही रही, तब फिर परपदार्थके कारण उसमे कुछ हो यह बात कहाँ रही। केवली-भगवानको पहले समय केवलज्ञान हुआ इसलिये दूसरे समय वह केवलज्ञान रहा–ऐसा नही है, किन्तु दूसरे समयके उस वर्तमान परिणामका केवलज्ञान उस समयके अशसे ही सत् है। पहले समय-के सत्के कारण दूसरे समयका सत् नही है। इसी प्रकार सिद्धभगवान-को पहले समयकी सिद्धपर्याय थी इसलिये दूसरे समय सिद्धपर्याय हुई—ऐसा नही है। सिद्धमे और समस्त द्रव्योमे प्रत्येक समयका अंश सत् है।

यहाँ एक अशके परिणामके उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यमें 'अपने अवसरमे'—ऐसी भाषाका उपयोग नही किया; क्योंकि वर्त-मान प्रवर्तित एक परिणामकी बात है, और वर्तमानमें जो परिणाम वर्तता है वही उसका स्वकाल है। तीनोकालके प्रत्येक परिणामका जो वर्तमान है वह वर्तमान ही उसका स्वकाल है। अपने वर्तमानको छोडकर वह आगे–पीछे नही होता। इस प्रकार वर्तमान प्रत्येक परिणामका उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यस्वभाव है।

❀ ❀ ❀

इस गाथामे अभी तक चार बोल आये:—

(१) द्रव्यका अखण्ड प्रवाह एक है और उसके क्रमशः होनेवाले अश सो परिणाम है।

(२) उन परिणामोमे अनेकता है, क्योकि परस्पर व्यतिरेक है।

(३) तीनोकालके परिणामोका पूरा दल लेकर समस्त परिणामोमे सामान्यरूपसे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यपना कहा

(४) सम्पूर्ण प्रवाहका एक अंश लेकर प्रत्येक परिणाममे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य कहे।

—ऐसे चार प्रकार हुए। इस प्रकार परिणामका उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यपना निश्चित् करके, अब अन्तमे परिणामी द्रव्यमे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सिद्ध करते है।

इस प्रकार स्वभावसे ही त्रिलक्षण परिणामपद्धतिमे (परिणामोकी परम्परामे) प्रवर्तमान द्रव्यस्वभावका अतिक्रमण न करनेसे सत्त्वको त्रिलक्षण ही अनुमोदना।

द्रव्यके समस्त परिणाम उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप है, और उन परिणामोके क्रममे प्रवर्तमान द्रव्य भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यगुक्त ही है। यदि परिणामकी भाँति द्रव्य भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त न हो तो वह परिणामोकी परम्परामे वर्त ही नही सकता। जो द्रव्य है सो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप समस्त परिणामोकी परम्परामे वर्तता है इससे उसके भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य है। परिणामोकी पद्धति कही है अर्थात् जिस प्रकार साकलकी कड़ियाँ आगे-पीछे नही होती, उसी प्रकार परिणामोका प्रवाहक्रम नही बदलता, जिस समय द्रव्यका जो परिणाम प्रवाहक्रममे हो उस समय उस द्रव्यका वही परिणाम होता है—दूसरा परिणाम नही होता। देखो, यह वस्तुके सत् स्वभावका वर्णन है। वस्तुका सत्‌स्वभाव है, सत् उत्पाद-

यव्य-ध्रौव्ययुक्त परिणाम है, और उसे भगवान द्रव्यका लक्षण कहते है—'सत् द्रव्य लक्षण ।' तेरा स्वभाव जाननेका है । जैसा सत् है वैसा तू जान । सत्‌को उलटा-सीधा करनेकी वुद्धि करेगा तो तेरे ज्ञानमे मिथ्यात्व होगा । वस्तुएं सत् है और मै उनका ज्ञाता हूँ—ऐसी श्रद्धा होनेके पश्चात् अस्थिरताका विकल्प उठता है, किन्तु उसमे मिथ्यात्वका जोर नही आता । इसलिये ऐसी ज्ञान और ज्ञेय-की श्रद्धाके बलसे उस अस्थिरताका विकल्प भी टूटकर वीतरागता और केवलज्ञान होगा ही !—ऐसी यह अलौकिक वात है ।

यह विषय अत्यन्त सूक्ष्म, परम सत्य एवं गम्भीर है ।

सर्वज्ञदेवने केवलज्ञानमे वस्तुका स्वभाव जैसा है वैसा पूर्ण जाना, और वैसा ही वाणीमे आ गया । जैसा वस्तुका स्वभाव है वेसा जानकर माने तो ज्ञान और श्रद्धा सम्यक् हो; वस्तुके स्वभाव-को यथावत् न जाने तथा अन्य रीतिसे माने तो सम्यक्‌ज्ञान और सम्यक्‌श्रद्धा नही होते, और उनके बिना व्रत-तपादि सच्चे नही होते । वस्तुके स्वभावकी स्थिति क्या है और उसके नियम कैसे सत्य है, उसका यह वर्णन है । इसे समझनेके लिये ज्ञानमे एकाग्र होनेकी आवश्यकता है ।

देखो, अभीतक क्या कहा गया है ? प्रत्येक चेतन और जड पदार्थ स्वयं सत् है, उसमे एक-एक समयमे परिणाम होता है; वह परिणाम उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त है । मूल वस्तु त्रिकाल है, वह वस्तु असंयोगी—स्वयसिद्ध है, वह किसीसे निर्मित नही है और न कभी उसका नाश होता है; जव देखो तव वह सत्‌रूपसे वर्तमान वर्त रही है ।

प्रत्येक समयके परिणाममे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य होता है उसमे वस्तु वर्त रही है । प्रत्येक द्रव्यमे तीनकालके जितने समय है उतने ही परिणाम है । जैसे—स्वर्णके सौ वर्ष लिये जाये तो उन सौ वर्षोमे हुई कड़ा, कुंडल हार इत्यादि समस्त अवस्थाओका एक पिंड सोना है; उसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य तीनकालके समस्त परिणामोंका

पिण्ड है। वे परिणाम क्रमश —एकके वाद एक होते है। तीनकालके समस्त परिणामोका प्रवाह वह द्रव्यका प्रवाहक्रम है, और उस प्रवाहक्रमका एक समयका अंग सो परिणाम है। तीनकालके जितने समय हैं उतने ही प्रत्येक द्रव्यके परिणाम है। उस प्रत्येक परिणाममे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य-ऐसे तीन प्रकार सिद्ध किये है। अपने अपने निश्चित् अवसरमे प्रत्येक परिणाम उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाला है। किसीसे किसीके परिणामका उत्पाद हो या कोई परिणाम आगे-पीछे हो—यह बात तो यहाँसे कही दूर उड गई, कोई परिणाम आगे-पीछे नही होते इस निर्णयमे तो सर्वज्ञताका निर्णय और ज्ञायक द्रव्यकी दृष्टि हो जाती है।

आत्मामे वर्तमान जो ज्ञानअवस्था ह उस अवस्थामे ज्ञानगुण वर्त रहा है, दूसरी अवस्था होगी तव उसमें वतमान वर्तेगा। और तीसरी अवस्थाके समय उसमे भी वर्तमान वर्तेगा। इस प्रकार दूसरी-तीसरी-चौथी सभी अवस्थाओके प्रवाहका पिण्ड सो ज्ञानगुण है। ऐसे अनन्तगुणोका पिण्ड सो द्रव्य है। द्रव्यके प्रतिसमय जो परिणाम होते है वे परिणाम अपनी अपेक्षासे उत्पादरूप है, पूर्वके अभावकी अपेक्षासे व्ययरूप है, और अखण्ड प्रवाहमे वर्तनेवाले अंशरूपसे ध्रौव्य है। ऐसा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाला परिणाम है वह प्रत्येक द्रव्यका स्वभाव है, और ऐसे स्वभावमे द्रव्य नित्य प्रवर्तमान है इसलिये द्रव्य स्वय भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वभाववाला है—ऐसा अनुमोदन करना।

प्रत्येक वस्तु पलटती हुई-नित्य ह। यदि वस्तु अकेली 'नित्य' ही हो तो उसमें सुख-दु.ख इत्यादि कार्य नही हो सकते; और यदि वस्तु एकान्त 'पलटती' ही हो तो वह त्रिकालस्थायी नही रह सकती, दूसरे ही क्षण उसका सर्वथा अभाव हो जायेगा। इसलिये वस्तु अकेली नित्य, या अकेली पलटती नही है, किन्तु नित्यस्थायी रहकर प्रतिक्षण पलटती है। इस प्रकार नित्य पलटती हुई वस्तु कहो या 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त सत्' कहो, उसका यह वर्णन है। अल्प-

से अल्पकालमें होनेवाले परिणाममे वर्तता-वर्तता द्रव्य नित्यस्थायी है। उसके प्रत्येक परिणाममें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यपना है-यह बात हो गई है। और वह द्रव्य स्वय भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाला है। —यह बात चल रही है।

समस्त पदार्थ सत् है। पदार्थ 'है'—ऐसा कहते ही उसका सत्पना आ जाता है। पदार्थोका सत्पना पहले (७८ वीं गाथामें) सिद्ध कर चुके है। पदार्थ सत् है और सत् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यसहित है। कोई भी वस्तु हो वह वर्तमान—वर्तमानरूपसे वर्तती रहेगी न ? कही भूत या भविष्यमे नही रहेगी। वस्तु तो वर्तमानमे ही वर्तती है और वह प्रत्येक समयका वर्तमान भी यदि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-वाला न हो तो वस्तुका त्रिकाल परिवर्तनपना सिद्ध नही होगा। इस लिये प्रतिसमय होने वाले उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाले परिणाममें ही वस्तु वर्तती है। जिस प्रकार द्रव्य त्रिकाली सत् है उसी प्रकार उसके तीनोंकालके परिणाम भी प्रत्येक समयका सत् है। प्रत्येक परिणाम को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त सत् सिद्ध करके, यहाँ परिणाममे वर्तने-वाले द्रव्यको उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त सिद्ध करते हैं।

द्रव्यका एक वर्तमान प्रवर्तित परिणाम अपनेसे उत्पादरूप हैं, अपने पहलेके परिणामकी अपेक्षासे व्ययरूप है और अखण्ड प्रवाहमे वह ध्रौव्य है।—इस प्रकार परिणाम उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-वाला है और उस परिणाममें द्रव्य वर्तता है इसलिये द्रव्य भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाला ही है। परिणामके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सिद्ध करनेसे, उस परिणाममे वर्तनेवाले परिणामीके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सिद्ध हो जाते है इसलिये कहा है कि द्रव्यको त्रिलक्षण अनुमोदना। अनुमोदना अर्थात् रुचिपूर्वक मानना, सानंद समत करना।

यदि समय-समयके परिणामकी यह बात समझ ले तो पर-में खटपट करनेका अहंकार न रहे और अकेले रागादि परिणामों पर

भी दृष्टि न रहे किन्तु परिणामी ऐसे त्रिकाली द्रव्यकी दृष्टि हो जाये; और द्रव्यदृष्टि होनेसे आनन्दका अनुभव हुए विना न रहे। इसलिये कहा है कि....'सानंद नमन करना।'

जिस प्रकार त्रिकाली सत्में जो चैतन्य है वह चैतन्य ही रहता है और जड है वह जड ही रहता है; चैतन्य मिटकर जड नहीं होता और न जड मिटकर चैतन्य होता है। उसी प्रकार एक समयके सत्मे भी—जो परिणाम जिस समयमे सत् है वह परिणाम उसी समय होता है-आगे-पीछे नही होता। जिस प्रकार त्रिकाली सत् है उसी प्रकार वर्तमान भी सत् है। जिस प्रकार त्रिकाली सत् पलटकर अन्यरूप नही हो जाता उसी प्रकार वर्तमान सत् पलटकर भी भूत या भविष्यरूप नही हो जाता। तीनो कालके समय समयके वर्तमान परिणाम अपना स्वसमय (स्व-काल) छोडकर पहले या पीछेके समय नही होते। जितने तीन कालके समय है उतने ही द्रव्यके परिणाम है; उनमें जिस समयका जो वर्तमान परिणाम है वह परिणाम अपना वर्तमानपना छोडकर भूत या भविष्यमे नही होता। बस, प्रत्येक परिणाम अपने अपने कालमे वर्तमान सत् है। उस सत्को कोई बदल नही सकता। सत्को बदलना माने वह मिथ्यादृष्टि है; उसे ज्ञातास्वभावकी प्रतीति नही है। जिस प्रकार चेतनको बदलकर जड़ नही किया जा सकता उसी प्रकार द्रव्यके त्रिकाली प्रवाहमें उस-उस समयके वर्तमान परिणामको आगे-पीछे नही किया जा सकता। अहो! लोगोको अपने ज्ञानस्वभावकी प्रतीति नही है इसलिये ज्ञेयोके ऐसे व्यवस्थित स्वभावकी प्रतीति नही बैठती।

जिस प्रकार वस्तु अनादि-अनन्त है उसी प्रकार उसका प्रत्येक समयका वर्तमान भी प्रवाहरूपसे अनादि-अनत है। वस्तु और वस्तुका वर्तमान—वह पहले-पीछे नही है। वस्तुका वर्तमान कब नही होता? कभी भी वर्तमान विना वस्तु नही होती। दोनो ऐसेके ऐसे अनादि-अनत है। तीनो कालमेसे एक भी समयके वर्तमानको

निकाल दे तो त्रिकाली वस्तु ही सिद्ध नही हो सकती। तीनों कालके वर्तमानका पिण्ड सो सत् द्रव्य है, और उन तीनो कालका प्रत्येक वर्तमान परिणाम अपने अवसरमें सत् है, वह अपनेसे उत्पादरूप है, पूर्वकी अपेक्षासे व्ययरूप और अखण्ड वस्तुके वर्तमानरूपसे ध्रौव्यरूप है। ऐसे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त परिणाम सो सत् है और वह द्रव्यका स्वभाव है। ऐसे सत्को कौन बदल सकता है? सत्को जैसेका तैसा जान सकता है किन्तु उसे कोई बदल नही सकता।

वस्तुके द्रव्य-गुण-पर्यायका जैसा स्वभाव है वैसा ज्ञान जानता है। अंशको अंशरूपसे जानता है और त्रिकालीको त्रिकाली-रूपसे जानता है;—ऐसा स्वभाव जानने पर अकेले अंशकी रुचि न रहनेसे त्रिकाली स्वभावकी रुचिकी ओर श्रद्धा ढल जाती है। अंशको अंशरूपसे और अंगीको अंशीरूपसे श्रद्धामे लेने पर श्रद्धाका सारा बल अंश परसे हटकर त्रिकाली द्रव्य-गुणकी ओर ढल जाता है। यही सम्यग्दर्शन है।

द्रव्य, गुण और पर्याय-यह तीनों स्वज्ञेय है। एक समयमें द्रव्य-गुण-पर्यायका पिण्ड वह सम्पूर्ण स्वज्ञेय है। उसमें पर्याय एक समयपर्यन्तकी है-ऐसा जाननेसे उसपर एक समयपर्यतका ही बल रहा; और द्रव्य भी त्रिकाली जाननेसे उसपर त्रिकाली बल आया, इसलिये उसकी मुख्यता हुई और उसकी रुचिमे श्रद्धाका बल ढल गया। इस प्रकार स्वज्ञेयको जाननेसे सम्यक्त्व आ जाता है। इसलिये इस ज्ञेय-अधिकारका दूसरा नाम सम्यक्त्व-अधिकार भी है।

स्वज्ञेय परज्ञेयसे बिलकुल भिन्न है। यहाँ राग भी स्वज्ञेयमें आता है। समयसारमे द्रव्यदृष्टिकी प्रधानतासे कथन है, वहाँ स्वभावदृष्टिमे रागकी गौणता हो जाती है, इसलिये वहाँ तो 'राग आत्मामें होता ही नही, राग जडके साथ तादात्म्यवाला है'—ऐसा कहा जाता है। वहाँ दृष्टि अपेक्षासे रागको परमें डाल दिया और द्रव्यकी दृष्टि कराई। और यहाँ, इस प्रवचनसारमें ज्ञान अपेक्षा-

से कथन है, इसलिये सम्पूर्ण स्वज्ञेय बतानेके लिये रागको भी स्वज्ञेयमें लिया है। दृष्टि अपेक्षासे राग परमे जाता है और ज्ञान-अपेक्षासे वह स्वज्ञेयमे आता है; परन्तु रागमे ही स्वज्ञेय पूरा नही हो जाता। रागरहित द्रव्य-गुण-स्वभाव भी स्वज्ञेय है। इस प्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय तीनोको स्वज्ञेयरूपसे जाना वहाँ रागमेसे एकत्वबुद्धि छूटकर रुचिका बल द्रव्यकी ओर ढल गया। अकेले रागको सम्पूर्ण तत्त्व स्वीकार करनेसे स्वज्ञेय सम्पूर्ण प्रतीतिमें नही आता था। और द्रव्य-गुण-पर्यायरूप सम्पूर्ण स्वज्ञेयकी प्रतीति होनेसे उस प्रतीतिका बल त्रिकालीकी ओर बढ जाता है, इस-लिये त्रिकालीकी मुख्यता होकर उस ओर रुचिका बल ढलता है। इस प्रकार इसमे भी द्रव्यदृष्टि आ जाती है।

स्वद्रव्य-गुण-पर्याय यह सब मिलकर स्वज्ञेय है; राग भी स्वज्ञेय है। किन्तु ऐसा जाननेसे रुचिका बल रागसे हटकर अन्तर-मे ढल जाता है। त्रिकाली तत्त्वको भूलकर मात्र अशको ही स्वीकार करती थी, वह मिथ्यारुचि थी; द्रव्य-गुण-पर्याय तीनोको ज्ञेयरूप जानकर अव्यक्त—शक्तिरूप अतरस्वभावोन्मुख हो जाता है तभी स्वज्ञेयको पूर्ण प्रतीतिमे लिया है और तभी उसने भगवान कथित द्रव्य-गुण-पर्यायका स्वरूप सुना—ऐसा कहा जाता है।

जैसे—गुडको गुड़रूपसे जाने और विषको विषरूपसे जाने तो वह ज्ञान बराबर है, किन्तु गुडको विषरूपसे जाने और विष-को गुड़रूपसे जाने तो वह ज्ञान मिथ्या है। उसी प्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय तीनो मिलकर एक समयमे सम्पूर्ण स्वज्ञेय है, उसमे द्रव्य-को द्रव्यरूपसे जाने, गुणको गुणरूपसे जाने और पर्यायको पर्यायरूपसे जाने तो ज्ञान सच्चा हो; किन्तु जैसा है वसा न जाने या क्षणिक पर्यायको ही सम्पूर्ण तत्त्व मान ले अथवा तो क्षणिक पर्यायको को सर्वथा ही न जाने-तो वह ज्ञान सच्चा नही होता। पदार्थके सच्चे ज्ञान बिना श्रद्धा भी सच्ची नही होती, और ज्ञान-श्रद्धान बिना सम्यक्चारित्र, वीतरागता या मुक्ति नही होती।

त्रिकाली तत्त्वकी रुचिकी ओर उन्मुख होकर सम्पूर्ण स्वज्ञेय प्रतीतिमे आया तब परज्ञेयको जाननेकी ज्ञानकी यथार्थ शक्ति विकसित हुई। ज्ञानकी वर्तमान दशा रागसन्मुख रुककर उसे सम्पूर्ण स्वज्ञेय मानती थी वह ज्ञान मिथ्या था, उसमे स्व-परप्रकाशक ज्ञान-सामर्थ्य नही था। और ज्ञानकी वर्तमानदशामे अन्तरकी सम्पूर्ण वस्तुको ज्ञेय बनाकर उस ओर उन्मुख हो जानेसे वह ज्ञान सम्यक् हुआ, और उसमे स्व-परप्रकाशकशक्ति विकसित हुई।

परिणामके प्रवाहक्रममे वर्तनेवाला द्रव्य है—ऐसा निश्चित किया वहाँ रुचिका बल उस द्रव्यकी ओर ढलनेसे रुचि सम्यक् हो गई। उस पर्यायमे रागका अंश वर्तता है वह भी ज्ञानके ख्याल-से बाहर नही है, ज्ञान उसे स्वज्ञेयरूपसे स्वीकार करता है। इस प्रकार सम्पूर्ण स्वज्ञेयको (द्रव्य-गुणको तथा विकारी-अविकारी पर्यायोको) स्वीकार करनेसे रुचि तो द्रव्य-गुण-पर्यायकी ओर उन्मुख होकर सम्यक् हो गई और ज्ञानमे द्रव्य-गुण-पर्याय तीनोका ज्ञान सच्चा हुआ।—ऐसा इस ज्ञेय अधिकारका वर्णन है।

ज्ञेयके तीनो अंशोको (—द्रव्य-गुण-पर्यायको) स्वीकार करे वह ज्ञान सम्यक् है, एक अंशको ही (रागको ही) स्वीकार करे तो वह ज्ञान मिथ्या है, और सर्वथा रागरहित स्वीकार करे तो वह ज्ञान भी मिथ्या है, क्योकि रागपरिणाम भी साधकके वर्तते है, उन रागपरिणामोको स्व-ज्ञेयरूपसे न जाने तो राग-परिणाममें वर्तनेवाले द्रव्यको भी नही माना।

रागपरिणाम भी द्रव्यके तीनकालके परिणामकी पद्धति-मे आ जाता है; रागपरिणाम कही द्रव्यके परिणामकी परम्परासे पृथक् नही है। तीनोकालके परिणामोकी परम्परामे वर्त कर ही द्रव्य स्थित है।

निगोद या सिद्ध—कोई भी परिणाम उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप है, और उस परिणाममे द्रव्य वर्त रहा है। परिणामकी जो रीति

है—जो क्रम है–जो परम्परा है–जो स्वभाव है, उसमे द्रव्य अवस्थित है। वह द्रव्य अपने उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यरूप परिणामस्वभावका अतिक्रम नही करता। यहा 'स्वभाव' कहनेसे शुद्ध परिणाम ही नही समझना किन्तु विकारी या अविकारी समस्त परिणाम द्रव्यका स्वभाव है, और वह स्वज्ञेयमे आ जाता है। और जो ऐसा जानता है उसे शुद्ध परिणामकी उत्पत्ति होने लगती है। स्वज्ञेयमे पर-ज्ञेय नही है और पर-ज्ञेयमे स्वज्ञेय नही है—ऐसा जाननेमे ही वीतरागी श्रद्धा आ जाती है। क्योकि मेरा स्व-ज्ञेय पर-ज्ञेयो से भिन्न है—ऐसा निर्णय करनेसे किसी भी पर-ज्ञेयके अवलम्बनका अभिप्राय नही रहा इसलिये स्व–द्रव्यके अवलम्बनसे सम्यक्श्रद्धा हुई। सम्पूर्ण द्रव्य सो परिणामी और उसका अ श सो परिणाम; उसमे पूर्ण परिणामीकी अन्तर्दृष्टि विना परिणामका सच्चा ज्ञान नही होता। परिणामोकी परम्पराको द्रव्य नही छोडता किन्तु उस परम्परामे ही वर्तता है, —इसलिये लक्षका वल कहाँ गया ?–द्रव्य पर। इस प्रकार इसमे भी द्रव्यदृष्टि आ जाती है।

द्रव्य तो अनन्त शक्तिका त्रिकाली पिण्ड है, और परिणाम तो एक समयपर्यन्तका अ श है,—ऐसा जाना वहाँ श्रद्धाका बल अनत शक्तिके पिण्डकी ओर ढल गया इससे द्रव्यकी प्रतीति हुई, और द्रव्य–पर्याय दोनोका यथार्थ ज्ञान हुआ।

प्रत्येक वस्तु अपने परिणामस्वभावमे वर्त रही है, उस परिणामके तीन लक्षण (उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक) है; इसलिये उस परिणाममें प्रवर्तित वस्तुमे भी यह तीनो लक्षण आ जाते है, क्योकि वस्तुका अस्तित्व परिणामस्वभावसे पृथक् नही है। वस्तु 'है' ऐसा कहते ही उसमे उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य आ जाते है। उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य बिना 'वस्तु है'—ऐसा सिद्ध नही होता। परिणाम 'है' ऐसा कहनेसे वह परिणाम भी उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यवाला है। 'अस्तित्व (–सत्)' उत्पाद-व्यय–ध्रौव्यके बिना नही होता। इसलिये सत्त्वको त्रिलक्षण अनुमोदना।

पहले यथार्थ श्रवण करके वस्तुको बराबर जाने कि–'यह ऐसा ही है' तो ज्ञान निःशंक हो, और ज्ञान निःशंक हो तभी अन्तरमें उसका मथन करके निर्विकल्प अनुभव करे। किन्तु जहाँ ज्ञान ही मिथ्या हो और 'ऐसा होगा या वैसा'–ऐसी शंकामें झूलता हो वहाँ अन्तरमें मथन कहाँसे होगा ? निःशंक ज्ञानरहित मथन भी मिथ्या होता है अर्थात् मिथ्या ज्ञान और मिथ्याश्रद्धा होती है। पहले वस्तु-स्थिति क्या है वह बराबर ध्यानमें लेना चाहिये। वस्तुको बराबर ध्यानमें लिये बिना किसका मथन करेगा ?

वस्तु परिणामका उल्लंघन नहीं करती, क्योंकि परिणाम सत् है। यदि वस्तु परिणामका उल्लंघन करे तब तो 'सत्' का ही उल्लंघन करे, इसलिये 'है' ऐसा सिद्ध न हो। वस्तु तीनों काल-के परिणामके प्रवाहमें वर्तती है।

अहो, यह तो सम्पूर्ण ज्ञेयका पिण्ड प्रतीतिमें लेनेका मार्ग कहो अथवा पूर्ण ज्ञायकपिण्डकी दृष्टि कहो, सम्यक् नियतवाद कहो या यथार्थ मोक्षमार्गका पुरुषार्थ कहो, वीतरागता कहो अथवा तो धर्म कहो;—वह सब इसमें आ जाता है।

श्री आचार्यदेव कहते हैं कि वस्तुका स्वभाव ही यह (उपरोक्तानुसार) है; ऐसा वस्तुस्वभाव आनन्दपूर्वक मानना—संमत करना। जो ऐसे वस्तुस्वभावको जाने उसे अपूर्व आनन्द हुए बिना न रहे। जहाँ वस्तुको त्रिलक्षण जाना वहाँ आत्मा स्वयं सम्यक् स्वभावमें ढले बिना नहीं रहता,—वस्तु सम्यक्-स्वभावरूप परिणमित होने पर अपूर्व आनन्दका अनुभव होता ही है। इसलिये यहाँ कहा है कि ऐसे वस्तुस्वभावको आनन्दसे मान्य करना।

देखो, उस-उस परिणामका वस्तु उल्लंघन नहीं करती, इसलिये दृष्टि कहाँ गई ? वस्तु पर दृष्टि गई, परिणाम-परिणामीकी एकता हुई, इसलिये सम्पूर्ण सत् एकाकार हो गया,—सम्पूर्ण स्वज्ञेय अभेद हो गया। ऐसे स्वज्ञेयको जाने और माने वहाँ वस्तुस्वभावकी सम्यक्प्रतीति और अपूर्व आनन्दका अनुभव हुए बिना नहीं रहता।

जिस प्रकार केवलज्ञानी लोकालोक—ज्ञेयको सत् रूपसे जानता है, उसी प्रकार सम्यक्‌दृष्टि भी उसे ज्ञेयरूपसे स्वीकार करता है, और उसे जाननेवाले अपने ज्ञानस्वभावको भी वह स्वज्ञेयरूपसे स्वीकार करता है। वहाँ उसकी रुचि स्वभाववान् ऐसे अन्तरद्रव्यकी ओर ढलती है, उस रुचिके बलसे निर्विकल्पता हुए बिना नही रहती; निर्विकल्पतामे आनन्दका अनुभव भी साथ ही होता है।

प्रश्न—कितने कालमे कितने जीव मोक्षमे जाते है-ऐसी तो कोई बात इसमे नही आई ?

उत्तर—इतने कालमे इतने जीव मोक्ष जाते है-ऐसी गिनती की यहाँ मुख्यता नही है, किन्तु मोक्ष कैसे हो? उसकी मुख्य बात है। स्वय ऐसे यथार्थ स्वभावको पहिचाने तो अपनेको सम्यक्त्व और वीतरागता हो, और मोक्ष हो जाये। आत्माका मोक्ष कब होता है—ऐसी कालकी मुख्यता नही है, किन्तु आत्माका मोक्ष किस प्रकार होता है यही मुख्य प्रयोजन है और इसीकी यह बात चल रही है।

जिस प्रकार सत् है उसी प्रकार स्वीकार करे तो ज्ञान सत् हो और शाति आये। इस गाथामे दो सम-अक [९९] है और वह भी दो नौ। नव प्रकारके क्षायिकभाव है इसलिये नवका अंक क्षायिकभाव सूचक है और दो नव इकट्ठे हुए इसलिये समभाव—वीतरागता बतलाते है,—क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र-दोनो साथ आ जाये ऐसी अपूर्व बात है। अक तो जो है सो है, किन्तु यहाँ अपने भावका आरोप करना है न!

वर्तमान—प्रवर्तित परिणाम—मे वस्तु वर्त रही है, इसलिये सम्पूर्ण वस्तु ही वर्तमानमे वर्तती है। वह वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाली है। यहाँ उत्पाद व्यय-ध्रौव्य कहकर सत् सिद्ध करते है।

आत्मा सत्, जड सत्, एक द्रव्यके अनन्त गुण सत, तीन कालके स्व-अवसरमें होनेवाले परिणाम सत्, प्रत्येक समयके परिणाम उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक सत् ! बस इस सत्में कोई फेरफार नही होता।—ऐसा स्वीकार किया वहाँ 'मिथ्यात्वको बदलकर सम्यक्त्व करूँ'—यह बात नही रही। क्योकि जिसने ऐसा स्वीकार किया उसने अपने ज्ञायकभावको स्वीकार किया और वह जीव द्रव्यस्वभावोन्मुख हुआ वहाँ वर्तमान परिणाममे सम्यक्त्वका उत्पाद हुआ, और उस परिणाममे पूर्वके मिथ्यात्वपरिणामका तो अभाव ही है। पूर्वके तीव्र पापपरिणाम वर्तमान परिणाममें बाधक नही होते, क्योकि वर्तमानमे उनका अभाव है। 'पूर्वके तीव्र पापके परिणाम इस समय बाधक होगे'—ऐसा जिसने माना उसको वह विपरीत मान्यता बाधक होती है, किन्तु पूर्वके पाप तो उसको भी बाधक नही है। 'पूर्वके तीव्र पापके परिणाम इस समय बाधक होगे'-ऐसा जिसने माना उसने द्रव्यको त्रिलक्षण नही जाना। यदि 'त्रिलक्षण द्रव्यके वर्तमान उत्पादपरिणाममे पूर्व परिणामका व्यय है, इसलिये पूर्व परिणाम बाधा देते है'—ऐसा वह न माने, किन्तु प्रतिसमयके वर्तमान परिणामको स्वतन्त्र सत् जाने और उसकी दृष्टि, वे परिणाम जिसके है ऐसे द्रव्य पर जाये, इसलिये द्रव्यदृष्टिमें उसे वीतरागताका ही उत्पाद होता जाये।—इसप्रकार इसमे मोक्षमार्ग आ जाता है।

वीतराग या राग, ज्ञान या अज्ञान, सिद्ध या निगोद किसी भी एक समयके परिणामको यदि निकाल दे तो द्रव्यका सत्पना ही सिद्ध नही होता; क्योकि उस-उस समयके परिणाममे द्रव्य वर्त रहा है, इसलिये अपने क्रमबद्धपरिणामोके प्रवाहमे वर्तमान वर्त रहे द्रव्यको उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाला ही आनन्दसे मानना।

स्वभावमे अवस्थित द्रव्य सत् है—यह बात सिद्ध करनेके लिये प्रथम तो उत्पाद व्यय-ध्रौव्ययुक्त परिणाम कहकर स्वभाव सिद्ध किया, और उस स्वभावमे द्रव्य नित्य अवस्थित है—ऐसा अभी सिद्ध किया।

पहले परिणामोके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सिद्ध करनेके लिये प्रदेशोंका उदाहरण था, वह परिणामकी बात पूर्ण हुई। और अब द्रव्यके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य मोतियोके हारका दृष्टान्त देकर समझायेगे।

पहले 'वर्तमान'को सिद्ध किया और फिर उस 'वर्तमानमें वर्तनेवाला' सिद्ध किया। परिणाम किसके ? परिणामीके। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त वर्तमान परिणाम और उस परिणाममे वर्तनेवाला उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त द्रव्य वह सम्पूर्ण स्वज्ञेय है। इसको प्रतीति सो सम्पूर्ण स्वज्ञेयकी प्रतीति है। सम्पूर्ण स्वज्ञेयकी प्रतीति करनेसे रुचिका बल वर्तमान अश परसे हटकर त्रिकाली द्रव्यकी ओर ढलता है—यही सम्यग्दर्शन है।

परिणाममे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य निश्चित् करनेसे भी दृष्टि द्रव्य पर जाती है, क्योकि द्रव्य अपने परिणामस्वभावको नही छोड़ता।

परिणामस्वभावमें कौन वर्तता है ?—द्रव्य।

परिणामको कौन नही छोडता ?—द्रव्य।

इसलिये ऐसा निश्चित् करनेसे दृष्टि द्रव्य पर जाती है, और द्रव्य-दृष्टि होते ही परिणाममे सम्यक्त्वका उत्पाद और मिथ्यात्वका व्यय हो जाता है। इस प्रकार द्रव्यकी दृष्टिमे ही सम्यक्त्वका पुरुषार्थ आ जाता है। इसके अतिरिक्त मिथ्यात्व दूर करनेके लिये और सम्यक्त्व प्रगट करनेके लिये दूसरा कोई अलग पुरुषार्थ करना नही रहता। द्रव्यदृष्टि ही सम्यक्दृष्टि है।

❀

जिसे धर्म करना हो उसे कैसा वस्तुस्वरूप जानना चाहिए-उसकी यह वात है। धर्म आत्माकी पर्याय है इसलिये वह आत्मामें ही होता है। आत्माका धर्म परसे नही होता और न परके द्वारा

ही होता है । और पर्यायका धर्म पर्यायमेंसे नही होता किन्तु द्रव्य-मेंसे होता है; धर्म तो पर्यायमें ही होता है किन्तु उस पर्याय द्वारा (पर्याय-सन्मुख देखनेसे या पर्यायका आश्रय करनेसे) धर्म नहीं होता, किन्तु द्रव्यकी सन्मुखतासे पर्यायमें धर्म होता है । परका तो आत्मामें अभाव है इसलिये परसन्मुख देखनेमे धर्म नहीं होता ।

अब, जिसे अपनी अवस्थामें धर्म करना है उसे अधर्मको दूर करना है और धर्मरूप होकर आत्माको अखण्ड बनाये रखना है । देखो, इसमे 'धर्म करना है' ऐसा कहनेसे उसमे नवीन पर्यायके उत्पादकी स्वीकृति आ जाती है; 'अधर्मको दूर करना है'—उस-में पूर्व पर्यायके व्ययकी स्वीकृति आ जाती है; और 'आत्माको अखण्ड बनाये रखना है'—इसमे अखण्ड प्रवाहकी अपेक्षासे ध्रौव्य-का स्वीकार आ जाता है । इस प्रकार धर्म करनेकी भावनामे वस्तु-के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वभावकी स्वीकृति आ जाती है । यदि वस्तु में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य न हों तो अधर्म दूर होकर धर्मकी उत्पत्ति न हो और आत्मा अखण्ड स्थित न रहे । और वे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य भी यदि कालके छोटेसे छोटे भागमे न हों तो एक समयमें अधर्म दूर करके धर्म न हो सके । इसलिये धर्म करनेवालेको वस्तुको प्रति-समय उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वभाववाली जानना चाहिये ।

द्रव्य-गुण नित्य है और पर्याय क्षणिक है; उन तीनोंको जानकर नित्यस्थायी द्रव्यकी ओर वर्तमान पर्यायको उन्मुख किये विना धर्म नही होता । वस्तुमे अवस्था तो नवीन-नवीन होती ही रहती है । यदि नवीन अवस्था न हो तो धर्म कैसे प्रगट हो ? और यदि पुरानी अवस्थाका अभाव न हो तो अधर्म कैसे दूर हो ? तथा परिणामोमे अखण्डरूपसे ध्रौव्यता न रहती हो तो द्रव्य स्थित कहाँ रहे ? इसलिये वस्तुमे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य यह तीनो जानना चाहिये । उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य यह लक्षण है और परिणाम लक्ष्य है, तथा परिणाममे वस्तु वर्तती है इसलिये वह वस्तु भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य ऐसे त्रिलक्षणवाली ही है ।

कोई भी परिणाम लो तो प्रवाहकी अखण्ड धारामें वह ध्रौव्य है, अपने स्वकाल-अपेक्षासे उत्पादरूप है और पूर्व परिणाम-अपेक्षासे व्ययरूप है। इस प्रकार परिणाम उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त सत् है। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य लक्षण है और परिणाम लक्ष्य है। परिणाम किसी अन्य पदार्थके कारण नही होते किन्तु वे स्वय अपने अवसरमे सत् है। भगवानकी वीतरागी मूर्तिके कारण या गुरुके उपदेशके कारण जीवको रागके अथवा ज्ञानके परिणाम हुए–ऐसा नही है, तथा पर जीव दु.खी है इसलिये अपनेको अनुकम्पाके भाव उत्पन्न हुए ऐसा भी नही है। किन्तु जीवके प्रवाहक्रममे उस–उस भाववाले परिणाम सत् है। किसी भी द्रव्यके परिणामकी अखण्ड धारामे एक भी समयका खण्ड नही पडता। यदि इस प्रकार परिणामोको जाने तो उन परिणामोके प्रवाहमे प्रवर्तमान द्रव्यको भी पहिचान ले, क्योंकि अपने परिणामके स्वभावको कोई द्रव्य नही छोड़ता–उल्लघन नही करता।

ऐसा वस्तुस्वभाव समझे बिना कही बाहरसे धर्म नही आ जायेगा। जैसे—लकड़ीके भारे बेचेनसे लखपति नही हुआ जा सकता किन्तु हीरा–माणिककी परख करना सीखे तो उसके व्यापारसे लखपति होता है। (यह तो दृष्टान्त है।) उसी प्रकार अन्तरके चैतन्य–हीरेको परखनेकी कलामें ही धर्मकी कमाई हो सकती है। इसके अतिरिक्त किन्ही बाह्य क्रिया–काण्डोसे या शुभरागसे धर्मकी कमाई नही होती। देखो, यह तो द्रव्यानुयोगका सूक्ष्म विपय है, इसलिये अन्तरमे सूक्ष्म दृष्टि करे तो समझमे आ सकता है।

वस्तुमें जिस कालमें जो परिणाम होता है वह सत् है; तीन कालके परिणाम अपने अपने कालमे सत् है और ऐसे परिणामोमे द्रव्य वर्तमान वर्त रहा है। वह द्रव्य उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य ऐसे त्रिलक्षणवाला है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ऐसे तीन भिन्न भिन्न लक्षण नही है किन्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य यह तीनो मिलकर द्रव्यका एक लक्षण है।

भाई ! अपने ज्ञानमे तू ऐसा निर्णय कर कि द्रव्यमें जिस समय जो परिणाम है उस समय वही सत् है, उसका मैं ज्ञाता हूँ, उसमे कोई फेरफार करनेवाला नही हूँ ।—ऐसा जाननेसे पर्यायके रागका स्वामित्व और अंशबुद्धि दूर हो जाती है और ध्रौव्यके लक्ष-से सम्यक्त्व एवं वीतरागता होती है-यही धर्म है ।

प्रत्येक द्रव्य भिन्न-भिन्न है; भिन्न-भिन्न द्रव्यके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य द्वारा उस-उस द्रव्यकी सत्ता पहिचानी जाती है । एक द्रव्यके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य द्वारा दूसरे द्रव्यकी सत्ता नही जानी जाती । शरीरमे रोटी नही आई उस परिणाम द्वारा पुद्गल द्रव्यकी सत्ता जानी जाती है, किन्तु उसके द्वारा जीवके धर्मपरिणाम नही पहिचाने जा सकते । रोटी नही आई वहाँ पुद्गल द्रव्य ही अपनी परिणामधारामे वर्तता हुआ उस परिणाम द्वारा लक्षित होता है और उस समय आत्मा अपने ज्ञानादि परिणामो द्वारा लक्षित होता है । जिस द्रव्यके जो परिणाम हो उनके द्वारा द्रव्यको पहि-चानना चाहिए; उसके बदले एक द्रव्यके परिणाम दूसरे द्रव्यने किये-ऐसा जो मानता है उसने वस्तुके परिणामस्वभावको नही जाना अर्थात् सत्को नही जाना है । वस्तु सत् है और सत्का लक्ष उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य है, इसलिये वस्तुमे स्वभावसे ही प्रति-समय उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य होते रहते है, तो दूसरा उसमें क्या करेगा ? —या तो ज्ञाता रहकर वीतरागभाव करेगा, या फेरफार करनेका अभिमान करके मिथ्याभाव करेगा, किन्तु पदार्थमें तो कुछ भी फेर-फार नही कर सकता ।

'जीवके व्रत करनेके भावोके कारण द्वारिका नगरी जलने-से बच गई, और कोई व्रत करनेवाला नहीं रहा इसलिये द्वारिका नगरी जल गई'—ऐसा जो मानता है उसे वस्तुके स्वभावकी खबर नही है । अथवा तो—किसी जीवके क्रोधके कारण द्वारिका नगरी जल गई—ऐसा भी नही है । द्वारिका नगरीका प्रत्येक पुद्गल अपने

परिणामकी धारामे वर्त रहा द्रव्य है। अपने प्रवाहक्रममे अपने स्वकालमे उसके परिणाम हुए है। और व्रत या क्रोधादि जीवके परिणाम हुए उसमें वह जीवद्रव्य वर्तता है। समस्त द्रव्य अपने अपने परिणाममे भिन्न-भिन्न वर्तते है। उनमे एकके परिणामके कारण दूसरेके परिणाम हो या रुके—ऐसा माननेवाला मूढ़ है; भगवान कथित त्रिलक्षण वस्तुस्वभावको उसने नही जाना है।

वस्तु प्रतिसमय अपने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यको करेगी या परके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य करने जायेगी? परवस्तु भी अपने स्वभावसे ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाली है। वस्तु अपने वर्तमान परिणामका उल्लघन करके दूसरेके परिणाम करने जाये—ऐसा कभी नही हो सकता। निमित्तके बलसे उपादानके परिणाम हो यह बात इसमे कही नही रहती। प्रत्येक वस्तु स्वय नित्य परिणामी स्वभाववाली है—'परिणमन करता हुआ-परिणमन करता हुआ ही नित्य' स्वभाव है। ऐसे स्वभावमे सदैव विद्यमान वस्तु स्वय उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सहित है—ऐसा सानन्द मानना-अनुमोदन करना।

❀

अब, मोतियोके हारका दृष्टान्त देकर वस्तुके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य समझाते है.—

जिस प्रकार—'जिसने (अमुक) लम्बाई ग्रहण की है ऐसे लटकते हुए मोतीके हारमे, अपने अपने स्थानमे प्रकाशित समस्त मोतियोमें, पीछे-पीछेके स्थानोमे पीछे-पीछेके मोती प्रगट होनेसे और पहले-पहलेके मोती प्रगट न होनेसे तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूतिका रचयिता डोरा अवस्थित होनेसे त्रिलक्षणपना प्रसिद्धि पाता है....'

हारमे एक-दो मोती नही है किन्तु अनेक मोतियोका हार है। और वह हार जैसा-तैसा नही पड़ा है किन्तु 'लटकता' हुआ लिया है। १०८ मोतियोका हार लिया जाय तो उसमें सभी मोती अपने-

अपने स्थानमे प्रकाशित है और पीछे-पीछेके स्थानमे पीछे-पीछेका मोती प्रकाशित होता है, इसलिये उन मोतियोकी अपेक्षासे हारका उत्पाद है। तथा एकके बाद दूसरे मोतीको लक्षमे लेनेसे पहलेका मोती लक्षमेसे छूट जाता है इसलिये पहलेका मोती दूसरे स्थान पर प्रकाशित नही होता—इस अपेक्षासे हारका व्यय है। और सभी मोतियोमे परस्पर सम्बन्ध जोडनेवाला अखण्ड डोरा होनेसे हार ध्रौव्यरूप है।—इस प्रकार हार उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य ऐसे त्रिलक्षणवाला निश्चित् होता है। हारका प्रत्येक मोती अपने-अपने स्थानमे है; पहला मोती दूसरे नही होता, दूसरा मोती तीसरे नही होता। जो जहाँ है वहाँ वही है, पहले स्थानमे पहला मोती है, दूसरे स्थानमे दूसरा मोती है, और हारका अखण्ड डोरा सर्वत्र है। मोतीकी माला फेरते समय पीछे-पीछेका मोती अंगुलीके स्पर्शसे आता जाता है उस अपेक्षासे उत्पाद, पहले-पहलेका मोती छूटता जाता है उस अपेक्षासे व्यय, और मालाके प्रवाहरूपसे प्रत्येक मोतीमे वर्तती हुई माला ध्रौव्य है। इसप्रकार उसमे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप त्रिलक्षणपना प्रसिद्धि पाता है। इस प्रकार दृष्टांत कहा, अब सिद्धान्त कहते है.—

'मोतीके हारकी भाँति, जिसने नित्यवृत्ति ग्रहण की है ऐसे रचित (परिणमित) द्रव्यमे, अपने अपने अवसरोमे प्रकाशित होते हुए (प्रगट होते हुए) समस्त परिणामोमे, पीछे-पीछेके परिणाम प्रगट होनेसे और पहले-पहलेके परिणाम प्रगट न होनेसे तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूति रचयिता प्रवाह अवस्थित (-स्थायी) होनेसे त्रिलक्षणपना प्रसिद्धि पाता है।

दृष्टान्तमे अमुक लम्बाईवाला हार था, सिद्धान्तमे नित्यवृत्तिवाला द्रव्य है।

दृष्टान्तमे लटकता हार था, सिद्धान्तमे परिणमन करता हुआ द्रव्य है।

दृष्टान्तमें मोतियोका अपना–अपना स्थान था, सिद्धान्तमें परिणामोंका अपना–अपना अवसर है।

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वभाववाला सम्पूर्ण द्रव्य सत् है, उसमें कही फेरफार नही होता।—इस प्रकार सम्पूर्ण सत् लक्षमें आये बिना ज्ञानमें धैर्य नही होता। जिसे परमें कही फेरफार करनेकी बुद्धि है उसका ज्ञान अधीर–आकुल-व्याकुल है और सत् जाननेसे कही भी फेरफारकी बुद्धि नही रही इसलिये ज्ञान धीर होकर अपनेमे स्थिर हुआ–ज्ञातारूपसे रह गया। ऐसेका ऐसा सम्पूर्ण द्रव्य उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यस्वभावसे सत् पडा है–इसप्रकार द्रव्य पर दृष्टि जानेसे सम्यक्त्वका उत्पाद और मिथ्यात्वका व्यय हुआ; और तत्पश्चात् भी उस द्रव्यकी सन्मुखतासे क्रमश' वीतरागताकी वृद्धि होती जाती है।—ऐसा धर्म है।

प्रत्येक द्रव्य नित्य-स्थायी है; नित्य-स्थायी द्रव्य लटकते हुए हारकी भांति सदैव परिणमित होता है; उसके परिणाम अपने–अपने अवसरमे प्रकाशित होते है। जिसप्रकार मालामें मोतियोका क्रम निश्चित जमा हुआ है; माला फिरानेसे वह क्रम उल्टा–सीधा नही होता। उसी प्रकार द्रव्यके तीनकालके परिणामोंका निश्चित् स्व-अवसर है, द्रव्यके तीनकालके परिणामोंका अपना-अपना जो अवसर है उस अवसरमें ही वे होते है; आगे-पीछे नहीं होते। ऐसा निश्चय करते ही ज्ञानमे वीतरागता होती है। यह निश्चित करनेसे अपना वीर्य परसे विमुख होकर द्रव्योन्मुख हो गया, पर्यायमूढता नष्ट हो गई, और द्रव्यकी सन्मुखतासे वीतरागताकी उत्पत्ति होने लगी। सामनेवाले पदार्थके परिणाम उसके अवसरके अनुसार और मेरे परिणाम मेरे अवसरके अनुसार,—ऐसा निश्चित किया इसलिये परमें या स्वमे कही भी परिणामके फेरफारकी बुद्धि न रहनेसे ज्ञान ज्ञानमे ही एकाग्रताको प्राप्त होता है। उसीको धर्म और मोक्षमार्ग कहते हैं।

एक ओर केवलज्ञान और सामने द्रव्यके तीनकालके स्व-

अवसरमें होनेवाले समस्त परिणाम, इनमे फेरफार होता ही नहीं। लोग भी 'हाथ पर आम नही उगते'—ऐसा कहकर वहाँ धैर्य रखनेको कहते है; उसी प्रकार 'द्रव्यके परिणाममे फेरफार नही होता'—ऐसी वस्तुस्थितिकी प्रतीति करनेसे ज्ञानमें धैर्य आ जाता है। और जहाँ ज्ञान धीर होकर स्वोन्मुख होने लगा वहां मोक्षपर्याय होते देर नही लगती। इस प्रकार क्रमबद्धपर्यायकी प्रतीतिमें मोक्षमार्ग आ जाता है।

द्रव्यके समस्त परिणाम स्व-अवसरमे प्रकाशित होते है, यह सामान्यरूपसे बात की, उसमे अब उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यको उतारते है। द्रव्य जव देखो तब वर्तमान परिणाममे वर्तता है। वर्तमानमें उस कालके जो परिणाम है उस कालमे वही प्रकाशित होते है—उनके पहलेके परिणाम उस समय प्रकाशित नही होते। पहले परिणामके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सिद्ध करते समय 'वर्तमान परिणाम पूर्वपरिणामके व्ययरूप है'–ऐसा कहा था, और यहा द्रव्यके उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य सिद्ध करनेमे कथनशैलीमे परिवर्तन करके ऐसा कहा कि 'वर्तमान परिणामके समय पूर्वके परिणाम प्रगट नही होते;' इसलिये उन पूर्व परिणामोंकी अपेक्षासे द्रव्य व्ययरूप है। जिस परिणाममें द्रव्य वर्त रहा हो उस परिणामकी अपेक्षा द्रव्य उत्पाद–रूप है, उसके पूर्वके परिणाम—जो कि इस समय प्रगट नही है—की अपेक्षासे द्रव्य व्ययरूप है, और समस्त परिणामोमे अखण्ड वहते हुए द्रव्यके प्रवाहकी अपेक्षासे वह ध्रौव्यरूप है, इस प्रकार द्रव्यका त्रिलक्षणपना ज्ञानमे निश्चित् होता है। ऐसा ज्ञेयोका निर्णय करने वाला ज्ञान स्वमे स्थिर होता है, उसका नाम 'तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' है।

मोतियोकी माला लेकर जप कर रहा हो, उसमे पहले एक मोती अंगुलीके स्पर्शमे आता है और फिर वह छूटकर दूसरा मोती स्पर्शमे आता है, इस समय पहला मोती स्पर्शमे नही आता, इसलिये

पहले मोतीके स्पर्शकी अपेक्षासे मालाका व्यय हुआ, दूसरे मोती स्पर्शकी अपेक्षा मालाका उत्पाद हुआ, और 'माला' रूपसे प्रवाह चालू रहा इसलिये माला ध्रौव्य रही। इस प्रकार एकके पश्चात् एक—क्रमश: होनेवाले परिणामोमे वर्तनेवाले द्रव्यमें भी उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य समझना।

कोई कहे कि 'उत्पाद-व्यय तो पर्यायके ही होते है और द्रव्य तो ध्रौव्य ही है, उसमे परिणमन नही होता।' तो ऐसा नही है। द्रव्य एकान्त नित्य नहीं है किन्तु नित्य—अनित्यस्वरूप है, इसलिये परिणाम वदलनेसे उन परिणामोंमें वर्तनेवाला द्रव्य भी परिणमित होता है। यदि परिणामका उत्पाद होनेसे द्रव्य भी नवीन परिणाम-रूपसे उत्पन्न होता हो तो द्रव्य भूतकालमें रह जायेगा अर्थात् वह वर्तमान-वर्तमानरूप नही वर्त सकेगा, और उसका अभाव ही हो जायेगा। इसलिये परिणामका उत्पाद-व्यय होनेसे द्रव्य भी उत्पाद-व्ययरूप परिणमित होता ही है। द्रव्यके परिणमनके बिना परिणाम-के उत्पाद-व्यय नही होगे और द्रव्यकी अखण्ड ध्रौव्यता भी निश्चित् नही होगी, इसलिये द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाला ही है। 'पर्याय-में ही उत्पाद-व्यय है और द्रव्य तो ध्रौव्य ही रहता है, उसमें उत्पाद-व्यय होते ही नही'—ऐसा नहीं है। परिणामके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-से प्रवर्तमान द्रव्य भी एक समयमें त्रिलक्षणवाला है।

अहो! स्व या पर प्रत्येक द्रव्यके परिणाम अपने-अपने कालमें होते है। पर-द्रव्यके परिणाम उस द्रव्यके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यसे होते हैं, और मेरे परिणाम मेरे द्रव्यमेसे क्रमानुसार होते है।—ऐसा निश्चित् करनेसे पर द्रव्यके ऊपरसे दृष्टि हट गई और स्वोन्मुख हुआ। अब, स्वमें भी पर्याय परसे दृष्टि हट गई क्योकि उस पर्यायमेंसे पर्याय प्रगट नही होती किन्तु द्रव्यमेसे पर्याय प्रगट होती है, इसलिये द्रव्य पर दृष्टि गई। उसे त्रिकाली सत्की प्रतीति हुई। ऐसी त्रिकाली सत्की प्रतीति होनेसे द्रव्य अपने परिणाममे

स्वभावकी धारारूप वहता, और विभावकी धाराका नाश करता हुआ परिणमन करता है । इसलिये द्रव्यको त्रिलक्षण अनुमोदना ।

पहले परिणामके उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यकी वात की थी, और यहाँ द्रव्यके उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यकी वात की है ।

द्रव्यकी सत्ता अर्थात् द्रव्यका अस्तित्व उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यवाला है। मात्र उत्पादरूप, व्ययरूप या ध्रौव्यरूप द्रव्यकी सत्ता नहीं है, किन्तु उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य ऐसी तीन लक्षणवाली ही द्रव्यकी सत्ता है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य—ऐसी तीन पृथक्–पृथक सत्ताये नही है किन्तु वे तीनो मिलकर एक सत्ता है ।

पहले तो जो परिणाम उत्पन्न हुए वे अपनी अपेक्षासे उत्पादरूप, पूर्वकी अपेक्षासे व्ययरूप और अखण्ड प्रवाहकी अपेक्षासे ध्रौव्यरूप—ऐसी परिणामकी वात थी; और यहाँ तो अव अन्तिम योगफल निकालकर द्रव्यमें उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य उतारते हुए ऐसा कहा है कि द्रव्यमे पीछे–पीछेके परिणाम प्रगट होते है इससे द्रव्यका उत्पाद है, पहले–पहलेके परिणाम उत्पन्न नही होते इसलिये द्रव्य व्ययरूप है, और सर्वपरिणामोमें अखण्डरूपसे प्रवर्तमान होनेसे द्रव्य ही ध्रौव्य है । इस प्रकार द्रव्यको त्रिलक्षण अनुमोदना ।

अहो ! समस्त द्रव्य अपने वर्तमान परिणामरूपसे उत्पन्न होते है, पूर्वके परिणाम वर्तमानमे नही रहते इसलिये पूर्व परिणामरूपसे व्ययको प्राप्त है और अखण्डरूपसे समस्त परिणामोके प्रवाहमे द्रव्य ध्रौव्यरूपसे वर्तते है । वस, उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यरूपसे वर्तते हुए द्रव्य टंकोत्कीर्ण सत् है । ऐसे सत्मे कुछ भी आगे–पीछे नही होता । अपने ज्ञानमे ऐसे टंकोत्कीर्ण सत्को स्वीकार करनेसे, फेरफार करनेकी बुद्धि तथा 'ऐसा क्यो' ऐसी विस्मयता दूर हुई, उसीमें सम्यक्श्रद्धा और वीतरागता आ गई। इसलिये ज्ञायकपना मोक्षका मार्ग हुआ ।

यह 'वस्तुविज्ञान' कहा जा रहा है। पदार्थका जैसा स्वभाव है वैसा ही उसका ज्ञान करना सो पदार्थविज्ञान है। ऐसे पदार्थविज्ञान के विना कभी शाति नही होती। जहाँ, प्रत्येक वस्तु उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यस्वभाववाली है–ऐसा जाना वहाँ वस्तुके भिन्नत्वकी वाड़ बँध गई। मेरे उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यमे परका अभाव है और परके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमे मेरा अभाव है, मेरे द्रव्य-गुण-पर्यायमे मै, और पर के द्रव्य-गुण-पर्यायमे पर—ऐसा निश्चित करनेसे परके द्रव्य-गुण-पर्यायका स्वामित्व छोडकर स्वय अपने द्रव्य-गुण-पर्यायका रक्षक हुआ अर्थात् ध्रौव्य द्रव्यके आश्रयसे निर्मल पर्यायका उत्पाद होने लगा, वही धर्म है। पहले, परको मैं वदल दूँ—ऐसा मानता था तब पराश्रयवुद्धिसे विकारभावोकी ही उत्पत्ति होती थी और अपने द्रव्य-गुण-पर्यायकी रक्षा नही करता था;—इसलिये वह अधर्म था।

आचार्यभगवानने इस गाथामे सत्‌को उत्पाद–व्यय–ध्रौव्ययुक्त वतलाकर अद्‌भुत वात की है। वर्तमान-वर्तमान समयके परिणामकी यह वात है, क्योकि सम्पूर्ण द्रव्य वर्तमान परिणाममे साथ ही वर्त रहा है। [यहाँ पूज्य स्वामीजीका आशय यह समझानेका है कि परिणाम और द्रव्य दोनो साथ ही है। द्रव्य कभी भी परिणामसे रहित नही होता, परिणाम कभी भी द्रव्यसे रहित नही होता। परिणाम इस समय हुए और द्रव्य गतकालमे रह जाये ऐसा नही होता; और द्रव्य है किन्तु परिणाम नही है—ऐसा भी नही होता। इसलिये परिणाम और द्रव्य दोनो वर्तमानमे साथ ही है-ऐसा समझना] द्रव्यमे स्वकालमे सदैव वर्तमान परिणाम होते है; जब देखो तव द्रव्य अपने वर्तमान परिणाममे ही वर्त रहा है; ऐसे वर्तमानमें प्रवर्तमान द्रव्यकी प्रतीति सो वीतरागताका मूल है।

'परिणामका स्व–अवसर' कहा वहाँ परिणामका जो वर्तन है वही उसका अवसर है; अवसर और परिणाम दो पृथक् वस्तुये

नही है। जिसका जो अवसर है उस समय वही परिणाम वर्तता है, उस परिणाममे वर्तता हुआ द्रव्य उत्पादरूप है, उससे पूर्वके परिणाममे द्रव्य नही वर्तता इससे वह व्ययरूप है और सर्वत्र अखण्डपनेकी अपेक्षासे द्रव्य ध्रौव्य है। इस प्रकार उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यरूप त्रिलक्षणपना प्रसिद्धि पाता है।

जीव और अजीव समस्त द्रव्य और उनके अनादि–अनन्त परिणाम सत् है, वह सत् स्वयसिद्ध है, उसका कोई दूसरा रचयिता या परिणमन करानेवाला नही है। जिसप्रकार कोई द्रव्य अपना स्वरूप छोड़कर अन्यरूप नही होता, उसी प्रकार द्रव्यके कोई परिणाम भी आगे-पीछे नही होते। द्रव्यमे अपने कालमे प्रत्येक परिणाम उत्पन्न होता है, पूर्वके परिणाम उत्पन्न नही होते और द्रव्य अखण्ड धारारूप बना रहता है।—ऐसे उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यस्वभाववाले द्रव्यको जाननेसे, अपने ज्ञायकस्वभावकी प्रतीति होती है, और उस ज्ञायकस्वभावकी सन्मुखतासे भगवान आत्मा स्वभावधारामे बहता है, विभावधारासे व्ययको प्राप्त होता है, और उस प्रवाहमें स्वयं अखण्डरूपसे ध्रुव रहता है, इस प्रकार वीतरागता होकर केवलज्ञान और मुक्ति होती है।

अहो! मुक्तिके कारणभूत ऐसा लोकोत्तर वस्तुविज्ञान समझानेवाले संतोको शत-शत वदन हो!

[गाथा ९९ टीका समाप्त]

भव्य श्रोताजनोंको तत्कालबोधक भगवान
श्रीगुरुवाणी माताकी जय हो!

पदार्थका परिणामस्वभाव

❀ प्रवचनसार गाथा ९९ भावार्थ ❀

'प्रत्येक द्रव्य सदैव स्वभावमे रहता है इसलिये 'सत्' है। वह स्वभाव उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप परिणाम है।' प्रत्येक वस्तु तीनोंकाल अपने स्वभावमे अर्थात् अपने परिणाममे रहती है। सुवर्ण अपने कुण्डल, हार आदि परिणाममे वर्तता है; कुण्डल, हार आदि परिणामोसे सुवर्ण पृथक् नही वर्तता। उसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ अपने वर्तमान वर्तते हुए परिणाममे वर्तता है, अपने परिणामसे पृथक् कोई द्रव्य नही रहता। कोई भी पदार्थ अनने परिणामस्वभाव-का उल्लंघन करके परके परिणामका स्पर्श नही करता, और पर-वस्तु उसके परिणामका उल्लघन करके अपनेको स्पर्श नही करती। प्रत्येक वस्तु भिन्न-भिन्न अपने-अपने परिणाममे ही रहती है। आत्मा अपने ज्ञान या रागादि परिणाममें स्थित है, किन्तु शरीरकी अवस्था-में आत्मा विद्यमान नही है। शरीरकी अवस्थामे पुद्गल विद्यमान है। शरीरके अनन्त रजकणोमे भी वास्तवमे प्रत्येक रजकण भिन्न-भिन्न अपनी अपनी अवस्थामे विद्यमान है। ऐसा वस्तुस्वभाव देखने-वालेको परमें कही भी एकत्वबुद्धि नही होती और पर्यायबुद्धिके राग-द्वेष नही होते।

आत्मा और प्रत्येक पदार्थ प्रतिसमय अपनी नई अवस्थारूप उत्पन्न होता है, पुरानी अवस्थारूपसे व्ययको प्राप्त होता है और अखण्ड वस्तुरूपसे ध्रौव्य रहता है। प्रत्येक समयके परिणाम उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सहित है—ऐसे परिणाम सो स्वभाव है और वस्तु स्वभाववान् है। स्वभावान्-द्रव्य अपने परिणामस्वभावमे स्थित है। कोई भी वस्तु अपना स्वभाव छोडकर दूसरेके स्वभावमे वर्ते अथवा तो दूसरेके स्वभावको करे-ऐसा कभी नही होता। शरीरकी जो अवस्थाये है वे पुद्गलके परिणाम है, उनमे पुद्गल वर्तते है, आत्मा

उनमें नही वर्तता; तथापि आत्मा उस शरीरकी अवस्थामें कुछ करता है—ऐसा जिसने माना उसकी मान्यता मिथ्या है। जिस प्रकार अफीमकी कड़वाहट आदिके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यपरिणाममे अफीम ही विद्यमान है, उसमे कही गुड विद्यमान नही है, और गुड़के मिठास आदिके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यपरिणाममे गुड ही विद्यमान है, उसमे कही अफीम विद्यमान नही है। उसी प्रकार आत्माके ज्ञान आदिके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यपरिणामस्वभावमे आत्मा विद्यमान है, उनमे कही इन्द्रियाँ या शरीरादि विद्यमान नही हैं; इसलिये उनसे आत्मा ज्ञात नही होता और पुद्गलके शरीर आदिके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यपरिणामस्वभावमे पुद्गल ही विद्यमान है, उनमे कही आत्मा विद्यमान नही है, इसलिये आत्मा शरीरादिकी क्रिया नही करता। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ अपने अपने स्वभावमे ही विद्यमान है। वस, ऐसे पदार्थके स्वभावको जानना सो वीतरागी विज्ञान है, उसीमे धर्म आता है।

प्रत्येक पदार्थकी मर्यादा—सीमा अपने-अपने स्वभावमे रहनेकी है; अपने स्वभावकी सीमासे बाहर निकलकर परमे कुछ करे—ऐसी किसी पदार्थकी शक्ति नही है।—ऐसी वस्तुस्थिति हो तभी प्रत्येक तत्त्व अपने स्वतत्र अस्तित्त्वरूपसे रह सकता है। यही बात अस्ति-नास्तिरूप अनेकान्तसे कही जाये तो, प्रत्येक पदार्थ अपने स्वचतुष्टयसे (द्रव्य-क्षेत्र-काल और भावसे) अस्तिरूप है, और परके चतुष्टयसे वह नास्तिरूप है। इस प्रकार प्रत्यक तत्त्व भिन्न-भिन्न स्थित है—ऐसा निश्चित् करनेसे स्वतत्त्वको परतत्त्वसे भिन्न जाना, और अपने स्वभावमें प्रवर्तमान स्वभाववान् द्रव्यकी दृष्टि हुई, यही सम्यक्रुचि, सम्यक्ज्ञान और वीतरागताका कारण है।

जैसी वस्तु हो उसे वैसा ही जानना सो सम्यग्ज्ञान है। जिस प्रकार लौकिकमे गुडको गुड जाने और अफीमको अफीम जाने तो गुड और अफीमका सच्चा ज्ञान है, किन्तु यदि गुड़को अफीम जाने

या अफीमको गुड जाने तो वह मिथ्याज्ञान है। उसी प्रकार जगतके पदार्थोंमें जड-चेतन प्रत्येक पदार्थ स्वयं अपने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-स्वभावसे स्थित है—ऐसा जानना सो सम्यक्ज्ञान है, और एक पदार्थमें दूसरे पदार्थके कारण कुछ होता है—ऐसा माने तो वह मिथ्याज्ञान है; उसने पदार्थके स्वभावको जैसा है वैसा नही जाना, किन्तु विपरीत माना है।

आत्माका 'ज्ञायक' स्वभाव है और पदार्थोका 'ज्ञेय' स्वभाव है; पदार्थोमे फेरफार—आगेपीछे हो ऐसा उनका स्वभाव नही है; और उनके स्वभावमें कुछ फेरफार करे ऐसा ज्ञानका स्वभाव नही है। जिस प्रकार आँख अफीमको अफीमरूपसे और गुडको गुडरूपसे देखती है; किन्तु अफीमको बदलकर गुड नही बनाती और गुडको बदलकर अफीम नही बनाती; और वह अफीम भी अपना स्वभाव छोडकर गुडरूप नही होती तथा गुड भी अपना स्वभाव छोड़कर अफीम-रूप नही होता। उसी प्रकार आत्माका ज्ञानस्वभाव समस्त स्व-पर ज्ञेयोंको यथावत् जानता है, किन्तु उनमे कही कुछ भी फेरफार नही करता। और ज्ञेय भी अपने स्वभावको छोडकर अन्यरूप नहीं होते। बस, ज्ञान और ज्ञेयके ऐसे स्वभावकी प्रतीति सो वीतरागी श्रद्धा है, ऐसा ज्ञान सो वीतरागी विज्ञान है।

स्वतत्र ज्ञेयोंको यथावत् जानना सो सम्यक्ज्ञानकी क्रिया है। ज्ञान क्या कार्य करता है ?—जाननेका कार्य करता है। इसके अति-रिक्त कही फेरफार करनेका कार्य ज्ञान नही करता। प्रत्येक पदार्थ स्वयंसिद्ध सत् है, और उसमे पर्यायधर्म है; वे पर्याये उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यस्वभाववाली है। इसलिये पदार्थमे प्रतिसमय पर्यायके उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य होते है उनमे वह पदार्थ वर्त रहा है। इस प्रकार स्वतंत्रता-को न जाने तो उसने द्रव्यकी स्वतत्रताको भी नही जाना है; क्योकि 'सत्' अपने परिणाममे वर्तता हुआ स्थित है यदि वस्तु स्वय स्थित रहनेके लिये दूसरेके परिणामका आश्रय माँगे तो वह वस्तु ही 'सत्'

नहीं रहती । 'सत्'का स्वभाव अपने ही परिणाममें प्रवर्तन करनेका है । सत् स्वयं उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यात्मक है । सत्के अपने परिणामका उत्पाद यदि दूसरेसे होता हो तो वह स्वयं 'उत्पाद–व्यय–ध्रौव्ययुक्तं सत्' ही नही रहता । इसलिये उत्पाद–व्यय–ध्रौव्ययुक्त सत् है—ऐसा मानते ही परिणामकी स्वतन्त्रताकी स्वीकृति तो आ ही गई । और, परिणाम परिणाममेंसे नहीं, किन्तु परिणामी (द्रव्य)मेंसे आते हैं इसलिये उसकी दृष्टि परिणामी पर गई, वह स्व–द्रव्यके सन्मुख हुआ, स्व-द्रव्यकी सन्मुखतामें सम्यक्‌श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रकी उत्पत्ति होती है, वह मोक्षका कारण है ।

प्रश्न:—सोना और ताँवा—दोनोंका मिश्रण होने पर तो वे एक-दूसरेमें एकमेक हो गये है न ?

उत्तर—भाई ! वस्तुस्थितिको समझो । सोना और ताँबा कभी एकमेक होते ही नही । संयोगदृष्टिसे सोना और ताँबा एकमेक हुए ऐसा कहा जाता है, किन्तु पदार्थके स्वभावकी दृष्टिसे तो सोना और ताँबा कभी एकमेक हुए ही नही है, क्योंकि जो सोनेके रजकण है वे अपने सुवर्ण-परिणाममें ही वर्तते है और जो ताँबेके रजकण हैं वे अपने ताँबा-परिणाममें ही वर्तते हैं; एक रजकण दूसरे रजकणके परिणाममें नही वर्तता । सोनेके दो रजकणोंमेंसे भी उसका एक रजकण दूसरेमें नही वर्तता । यदि एक पदार्थ दूसरेमें और दूसरा तीसरेमें मिल जाये, तब तो जगतमें कोई स्वतंत्र वस्तु ही न रहे । सोना और ताँबा 'मिश्र हुआ' ऐसा कहनेसे भी उन दोनोंकी भिन्नता ही सिद्ध होती है, क्योंकि 'मिश्रण' दो का होता है, एकमें 'मिश्रण' नही कहलाता । इसलिये मिश्रण कहते ही पदार्थोंका भिन्न–भिन्न अस्तित्व सिद्ध हो जाता है ।

प्रत्येक वस्तु अपने स्वभावरूपसे सत् रहती है, दूसरा कोई विपरीत माने तो उससे कही वस्तुका स्वभाव बदल नहीं जाता । कोई

अफीमको गुड माने तो उससे कही अफीमकी कड़वाहट दूर नहीं हो जायेगी; अफीमको गुड मानकर खाये तो उसे कडवाहटका ही अनुभव होगा। उसी प्रकार तत्त्वको जैसाका तैसा स्वतन्त्र न मानकर परके आधारसे स्थित माने तो, कही वस्तु तो पराधीन नहीं हो जाती, किन्तु उसने सत्को विपरीत माना इसलिये उसका ज्ञान मिथ्या होता है; और उस मिथ्याज्ञानके फलमें उसे चौरासीका अवतार होता है। कोई जीव पुण्यका शुभराग करके ऐसा माने कि मैं धर्म करता हूँ, तो कही उसे रागसे धर्म नही होगा, किन्तु उसने वस्तुस्वरूपको विपरीन जाना है, इसलिये उस अज्ञानके फलमें उसे चौरासीके अवतारमे परिभ्रमण करना पडेगा।

परिणाम स्वभाव है और स्वभाववान् द्रव्य है;—ऐसा जानकर स्वभाववान् द्रव्यकी रुचि होते ही सम्यक्त्वका उत्पाद, उसी समय मिथ्यात्वका व्यय और अखण्डरूपसे आत्माकी ध्रुवता है।

प्रत्येक वस्तु 'सत्' है, 'सत्' त्रिकाल स्वयसिद्ध है। यदि सत् त्रिकाली न हो तो वह असत् सिद्ध होगा। किन्तु वस्तु कभी असत् नही होती। वस्तु त्रिकाल है इसलिये उसका कोई कर्ता नही है, क्योंकि त्रिकालीका रचयिता नही होता। यदि रचयिता कहो तो उससे पूर्व वस्तु नही थी-ऐसा सिद्ध होगा, अर्थात् वस्तुका नित्यपना नही रहेगा। वस्तु त्रिकाली सत् है, और वह वस्तु परिणामस्वभाववाली है; त्रिकाली द्रव्य ही अपने तीनोकालके वर्तमान-वर्तमान परिणामोंकी रचना करता है, वे परिणाम भी स्व-अवसर में सत् है, इसलिये उन परिणामोका रचयिता भी दूसरा कोई नही है। जिस प्रकार त्रिकाली द्रव्यका कर्ता कोई-ईश्वर आदि-नही है, उसी प्रकार उस त्रिकाली द्रव्यके वर्तमान परिणामका कर्ता भी कोई दूसरा (निमित्त, कर्म या जीव आदि) नही है। अपने प्रत्येक समयके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमे स्थित रहता है इसलिये द्रव्य सत् है। यदि द्रव्य दूसरेके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यका अवलम्बन करे तो वह स्वयं सत् नही रह सकता। इसलिये जो जीव द्रव्यको यथार्थतया 'सत्'

जानता हो वह द्रव्यका या द्रव्यकी किसी पर्यायका कर्ता दूसरे को नहीं मानता; द्रव्यका या द्रव्यकी किसी पर्यायका कर्ता दूसरेको माने उस जीवने वास्तवमें 'सत्'को नही जाना है।

अहो! वस्तुके सत् स्वभावको जाने विना वाह्य क्रिया-काण्डके लक्षसे अनन्तकाल विता दिया, किन्तु वस्तुका स्वभाव सत् है उसे नहीं जाना इसलिये जीव संसारमें परिभ्रमण कर रहा है।

वस्तु परिणाममें परिणमन करती है, वह परिणामसे पृथक् नही रहती। प्रत्येक समयके परिणामके समय सम्पूर्ण वस्तु साथमें वर्त रही है—ऐसा जाने तो अपनेको क्षणिक राग जितना मानकर उस समय सम्पूर्ण वस्तु रागरहित विद्यमान है—उसका विश्वास करे; इससे रागकी रुचिका बल टूटकर सम्पूर्ण वस्तु पर रुचिका बल ढला, अर्थात् सम्यक्रुचि उत्पन्न हुई; राग और आत्मा-का भेदज्ञान हुआ। मैं परमें नही वर्तता, मेरे परिणाममें पर वस्तु नहीं वर्तती, किन्तु मैं अपने परिणाममें ही वर्तता हूँ;—इस प्रकार परिणाम और परिणामीकी स्वतंत्रता जाननेसे रुचि परमें नही जाती, परिणाम पर भी नही रहती, किन्तु परिणामी द्रव्यमें प्रविष्ट हो जाती है, अर्थात् सम्यक्रुचि होती है।

'वस्तु परिणाममें वर्तती है।' वस! ऐसा निश्चित् करनेमें पर्यायवुद्धि दूर होकर वस्तुदृष्टि हो जाती है; उसीमें वीतरागता विद्य-मान है। मेरी भविष्यकी केवलज्ञानपर्यायमें भी यह द्रव्य ही वर्तेगा;—इसलिये भविष्यकी केवलज्ञानपर्यायको देखना नही रहा, किन्तु द्रव्यसन्मुख ही देखना रहा। द्रव्यकी सन्मुखतामें अल्पकालमें केवलज्ञान हुए बिना नही रहता।

अहो! मैं अपने परिणामस्वभावमें हूँ, परिणाम उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यस्वरूप है, उसीमें आत्मद्रव्य वर्तता है—इस प्रकार स्व-वस्तुकी दृष्टि होनेसे परसे लाभ-हानि माननेका मिथ्याभाव नही रहा, वहाँ सम्यग्ज्ञान पर्यायरूपसे उत्पाद है, मिथ्याज्ञान पर्यायरूपसे

व्यय है और ज्ञानमें अखण्ड परिणामरूपसे ध्रौव्यता है। इस प्रकार
इसमे धर्म आता है।

'परिणामीके परिणाम हैं'—ऐसा न मानकर जिसने परके
कारण परिणामोंको माना उसने परिणामीको दृष्टिमे नही लिया,
किन्तु अपने परिणामको पर करता है—ऐसा माना इसलिये स्व-पर
को एक माना; इसलिये वह मिथ्यादृष्टि है। परिणाम परिणामीके
हैं—इस प्रकार परिणाम और परिणामीकी रुचिमे स्वद्रव्यकी
सम्यक्रुचि उत्पन्न होकर मिथ्यारुचिका नाश हो जाता है।

देखो, यह वस्तुस्थितिका वर्णन है। जैनदर्शन कोई वाड़ा या
कल्पना नही है किन्तु वस्तुये जिस स्वभावसे है वैसी सर्वज्ञ भगवान
ने देखी हैं, और वही जैनदर्शनमे कही है। जैनदर्शन कहो या वस्तु-
का स्वभाव कहो।—उसका ज्ञान कर तो तेरा ज्ञान सच्चा होगा और
भवका परिभ्रमण दूर होगा। यदि वस्तुके स्वभावको विपरीत
मानेगा तो असत् वस्तुकी मान्यतासे तेरा ज्ञान मिथ्या होगा और
परिभ्रमणका अंत नही आयेगा; क्योकि मिथ्यात्व ही सबसे महान
पाप माना गया है; वही अनन्त ससारका मूल है।

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त परिणाम है वह स्वभाव है, और
स्वभाव है वह स्वभाववान्के कारण है।—इस प्रकार स्वभाव और
स्वभाववान्को दृष्टिमे लेनेसे, परके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यको मै करूँ
या मेरे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यको पर करे यह बात नही रहती,
इसलिये स्वयं अपने स्वभाववान्की ओर उन्मुख होकर सम्यग्ज्ञान हो
जाता है, उसीमे धर्म आ गया। लोगोने बाह्यमे धर्म मान रखा है,
किन्तु वस्तुस्थिति अंतरकी है। लोगोके माने हुए धर्ममे और
वस्तुस्थितिमे पूर्व-पश्चिम दिशा जितना अंतर है।

'वस्तु' उसे कहते है जो अपने गुण-पर्यायमें वास करे; अपने
गुण-पर्यायसे बाहर वस्तु कुछ नही करती, और न वस्तुके गुण-
पर्यायको कोई दूसरा करता है। ऐसे भिन्न-भिन्न तत्त्वार्थका श्रद्धान

सो सम्यग्दर्शन है। प्रथम सम्यग्दर्शन होता है, तत्पश्चात् श्रावक और मुनिके व्रतादि होते है। सम्यग्दर्शनके विना व्रतादि माने वह तो 'राख पर लीपन' मानना है। आत्माकी प्रतीति हुए विना कहाँ रहकर व्रतादि करेगा ?

जिस प्रकार गाड़ीके नीचे चलने वाला कुत्ता मानता है कि—गाडी मेरे कारण चल रही है; किन्तु गाड़ीके परिणाममें उसका प्रत्येक परमाणु वर्त रहा है, और कुत्तेके रागादि परिणाममें कुत्ता है; गाडी और कुत्ता—कोई एक-दूसरेके परिणाममें नही वर्तते। तथापि कुत्ता व्यर्थ मानता है कि 'मुझसे गाड़ी चल रही है।' उसी प्रकार पर वस्तुके परिणाम स्वय उसके अपनेसे होते हैं; उसे देखकर अज्ञानी जीव व्यर्थ ही ऐसा मानता है कि परके परिणाम मुझसे होते है। किन्तु ऐसा नही होता। प्रत्येक तत्त्वके परिणाम सत् है, उसमे कोई दूसरा क्या करेगा ? ऐसा स्वतंत्र वस्तुका स्वभाव है, वही सर्वज्ञ भगवानने ज्ञानमें देखा है। कही भगवानने देखा इसलिये वस्तुका ऐसा स्वभाव है–ऐसा नहीं है, और ऐसा वस्तुका स्वभाव है इसलिये भगवानको उसका ज्ञान हुआ ऐसा भी नही है। ज्ञेय वस्तुका स्वभाव सत् है, और ज्ञान भी सत् है। प्रथम ऐसे सत्स्वभावको समझो ! जो ऐसे स्वभावको समझ ले उसीने वस्तुको वस्तुरूपसे जाना है—ऐसा कहा जाये।

कर्म-परिणाममें पुद्गल वर्तते है और आत्माके परिणाममें आत्मा वर्तता है; कोई एक–दूसरेके परिणाममे नही वर्तते; इसलिये कर्म आत्माको परिभ्रमण नही कराते। अपने स्वतंत्र परिणामको न जानकर, कर्म मुझे परिभ्रमण कराते है—ऐसा माना है उस विपरीत मान्यतासे ही जीव भटक रहा है, किन्तु कर्मोंने उसे नही भटकाया। उस परिभ्रमणके परिणाममे आत्मा वर्त रहा है। प्रतिसमय उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य होनेका प्रत्येक वस्तुका स्वभाव है–यह समझे तो परिणामी द्रव्य पर दृष्टि जाती है, और द्रव्यदृष्टिमें सम्यक्त्व और वीतरागताका उत्पाद होता है, वह धर्म है।

यदि द्रव्यके एक समयका सत् दूसरेसे हो तो उस द्रव्यका वर्तमान सत्पना नही रहता; और वर्तमान सत्का नाश होनेसे त्रिकाली सत्का भी नाश हो जाता है अर्थात् वर्तमान परिणामको स्वतन्त्र सत् माने विना त्रिकाली द्रव्यका सत्पना सिद्ध नही होता; इसलिये द्रव्यका वर्तमान दूसरेसे (-निमित्तसे) होता है—इस मान्यतामें मिथ्यात्व होता है, उसमें सत्का स्वीकार नही आता। सत्का नाश नही होता किन्तु जिसने सत्को विपरीत माना है उसकी मान्यतामे सत्का अभाव होता है। त्रिकाली सत् स्वतन्त्र, किसीके बनाये बिना है, और प्रत्येक समयका वर्तमान सत् भी स्वतत्र किसीके बनाये बिना है। ऐसे स्वतत्र सत्को विपरीत-पराधीन मानना सो मिथ्यात्व है, वही महान अधर्म है। लोग काला बाजार आदिमें तो अधर्म मानते हैं, किन्तु विपरीत मान्यतासे सम्पूर्ण वस्तुस्वरूपका घात कर डालते हैं उस विपरीत मान्यताके पापकी खबर नही है। मिथ्यात्व तो धर्मका महान काला बाजार है, उस काले बाजारसे चौरासीके अवतारकी जेल है। सत्को जैसे का तैसा माने तो मिथ्यात्वरूपी काले बजारका महान पाप दूर हो जाये और सच्चा धर्म हो। इसलिये सर्वज्ञदेव कथित वस्तुस्वभावको बराबर समझना चाहिये।

*

अहो ! वीतरागी तात्पर्य

प्रत्येक द्रव्य सदैव स्वभावमे रहता है इसलिये वह 'सत्' है। वस्तु अपने परिणाममे वर्तमान रहती हो तभी सत् रहे न? यदि वर्तमान परिणाममे न रहती हो तो वस्तु 'सत्' किस प्रकार रहे? उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाला परिणाम वह वस्तुका स्वभाव है, और उस वर्तमान परिणाममे वस्तु निरन्तर वर्त रही है, उससे वह सत् है।

आत्माका क्षेत्र असख्यप्रदेशी एक है, और उस क्षेत्रका छोटे-से छोटा अश सो प्रदेश है। उसी प्रकार सपूर्ण द्रव्यकी प्रवाहधारा एक है, और उस प्रवाहधाराका छोटेसे छोटा अश सो परिणाम है।

क्षेत्र अपेक्षासे द्रव्यका सूक्ष्म अ श सो प्रदेश है ।

काल अपेक्षासे द्रव्यका सूक्ष्म अश सो परिणाम है ।

यह तो ज्ञायकस्वभावकी दृष्टि करानेके लिये वर्णन है। परिणाम परिणामीमेसे आता है,—ऐसे परिणामी द्रव्यकी दृष्टि कर तो उस परिणामीके आश्रयसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रपरिणाम उत्पन्न हो, स्थिर रहे और वढकर पूर्ण हो ।

प्रत्येक परिणाम अपने स्वकालमे उत्पन्न होता है, पूर्व परिणामसे व्ययरूप है और अखण्डप्रवाहमे वह ध्रौव्य है। केवलज्ञान-परिणामे अपने स्वरूपकी अपेक्षासे स्वकालमे उत्पादरूप है, पूर्वकी अल्पज्ञ पर्याय अपेक्षासे वह व्ययरूप है, और द्रव्यके अखण्डप्रवाहमें तो वह केवलज्ञानपरिणाम ध्रौव्य है; इस प्रकार समस्त परिणाम अपने-अपने वर्तमान कालमे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाले है, और उन-उन वर्तमान परिणामोमे वस्तु वर्त रही है, अर्थात् वस्तु वर्तमानमें ही पूर्ण है । ऐसी वस्तुकी दृष्टि कर तो उसके आश्रयसे धर्म होता है । ज्ञानी केवलज्ञान पर्यायके कालको नही ढूँढ़ते (उस पर दृष्टि नही रखते), क्योकि वह पर्याय इस समय तो सत् नही है, किन्तु भविष्यमे अपने स्वकालमे वह सत् है; इसलिये ज्ञानी तो वर्तमानमे सत्-ऐसे ध्रुव द्रव्यको ही ढूँढ़ते है-(ध्रुव पर दृष्टि रखते है ।) इस अपेक्षासे नियमसारमे उदय-उपशम-क्षयोपशम और क्षायिक— इन चारो भावोको विभावभाव कहा है । जो पर्याय वर्तमान उत्पाद-रूपसे वर्तती है वह तो अंश है, केवलज्ञान पर्याय भी अंश है;—वह वर्तमान प्रगट नही है और भविष्यमे प्रगट होगी—इस प्रकार परिणामके काल पर देखते नही रहना किन्तु वर्तमान परिणामके समय ध्रुवरूपसे सपूर्ण द्रव्य वर्त रहा है उस द्रव्यकी प्रतीति करना इसमे आता है; द्रव्यकी दृष्टि होनेमे वीतरागता होती है । शास्त्रोका तात्पर्य वीतरागता है, वीतरागताको तात्पर्य कहनेसे स्वभावकी दृष्टि करनेका ही तात्पर्य है—ऐसा आया; क्योंकि वीतरागता तो स्वभावकी दृष्टिसे होती है । अंतरमें द्रव्यस्वभाव पर लक्ष रहनेसे वीत-

रागता हो जाती है; इससे ध्रुव द्रव्यस्वभावकी दृष्टि ही कार्यकारी हुई। पर्यायको ढूँढना नहीं रहा अर्थात् पर्यायकी दृष्टि नही रही। ध्रुवस्वभावकी दृष्टि रखकर पर्यायका ज्ञाता रहा, उसमें वीतरागता होती जाती है।

वीतरागता ही तात्पर्य है, किन्तु वह वीतरागता कैसे हो? वीतरागपर्यायको शोधनेसे (उस पर्यायके सन्मुख देखनेसे) वीतरागता नहीं होती किन्तु ध्रुवतत्त्वके आश्रयमें रहनेसे पर्यायमें वीतरागता-रूप तात्पर्य हो जाता है। इसप्रकार द्रव्य पर दृष्टि होनेमें ही तात्पर्य आ जाता है। इसलिये, शास्त्रोंका तात्पर्य वीतरागता है—ऐसा कहो, या शास्त्रका तात्पर्य स्वभावदृष्टि है—ऐसा कहो, दोनों एक ही हैं। श्रीमद् राजचन्द्रजीने कहा है कि—

'जिनपद निजपद एकता, भेदभाव नहि कांई;
लक्ष थवाने तेहनो कह्यां शास्त्र सुखदाई।'

जैसा भगवानका आत्मा, वैसा ही अपना आत्मा, उसके स्वभावमें कोई भेद नही है। ऐसे स्वभावका लक्ष करना ही शास्त्रोंका सार है।

यहाँ परिणामोंके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यकी बात चल रही है, उसमेसे वीतरागी तात्पर्य किस प्रकार निकलता है वह बतलाया है। परिणामोंकी ध्रौव्यता तो अखण्डप्रवाह अपेक्षासे है। अब, परिणामोंका प्रवाहक्रम एकसाथ तो वर्तता नही है, इसलिये परिणामोकी ध्रौव्यता निश्चित करते हुए ध्रुवस्वभाव पर दृष्टि जाती है। ध्रुव स्वभावकी दृष्टि विना परिणामके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य निश्चित नही हो सकते। परिणामको ध्रौव्य कब कहा?—परिणामोंके सम्पूर्ण प्रवाहकी अपेक्षासे उसे ध्रौव्य कहा है; सम्पूर्ण प्रवाह एक समयमें प्रगट नही हो जाता इसलिये परिणामकी ध्रौव्यता निश्चित् करनेवालेकी दृष्टि एक-एक परिणामके ऊपरसे हटकर ध्रुव द्रव्य पर गई। परिणामके ऊपरकी दृष्टिसे (पर्यायदृष्टिसे) परिणामकी ध्रौव्यता

निश्चित नहीं होती। परिणामोंका अखण्ड प्रवाह कहीं एक ही परिणाममें तो नही है, इसलिये अखण्डकी—त्रिकाली ध्रौव्यकी—ध्रुवस्वभावकी दृष्टि हुए विना परिणामके उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य भी ख्यालमे नही आ सकते।

वस्तु एक समयमे पूर्ण है; उसके परिणाममें उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यपना है। वह उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यपना निश्चित करनेसे द्रव्य पर ही दृष्टि जाती है। वर्तमानपरिणामसे उत्पाद है, पूर्वपरिणामसे व्यय है, और अखण्डप्रवाहकी अपेक्षासे ध्रौव्य है। इसलिये अखण्डप्रवाहकी दृष्टिमे ही ध्रुवस्वभाव पर दृष्टि गई, और तभी परिणामके उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य निश्चित् हुए।

इसमे पुरुषार्थ कहाँ काम करता है;—ऐसा निश्चित् किया वहाँ पुरुषार्थ द्रव्यसन्मुख ही कार्य करने लगा, और वीतरागता ही होने लगी। परिणाम अपने स्वकालमें होते है वे तो होते ही रहते है; किन्तु वैसा निश्चित करनेवालेकी दृष्टि ध्रुव पर पडी है। ध्रौव्यदृष्टि हुए विना यह वात नही जम सकती।

इस ज्ञेय–अधिकारमे मात्र पर-प्रकाशककी बात नहीं है परन्तु स्वसन्मुख स्व-प्रकाशकपने सहित पर-प्रकाशककी बात है। जहाँ अपने ध्रुवस्वभावकी सन्मुखतामे स्व-प्रकाशक हुआ वहाँ सम्पूर्ण जगतके समस्त पदार्थ भी ऐसे ही है—ऐसा पर-प्रकाशकपना ज्ञानमें विकसित हो ही जाता है। द्रव्य भी उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यात्मक है। वे उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य कव निश्चित होते है? ज्ञायक चेतन्यद्रव्यकी रुचि तथा उस ओर उन्मुखता होनेसे सव निश्चित हो जाता है, जिस प्रकार स्वके ज्ञानसहित ही परका सच्चा ज्ञान होता है, उसी प्रकार ध्रुवकी दृष्टिसे ही उत्पाद–व्ययका सच्चा ज्ञान होता है।

वस्तुस्वरूप ऐसा है कि कही परके ऊपर तो देखना नही है; और मात्र अपनी पर्यायसन्मुख भी देखना नही है; विकल्पको दूर करके निर्विकल्पता करूँ—ऐसे लक्षसे निर्विकल्पता नही होती किन्तु ध्रुवके लक्षसे निर्विकल्पता हो जाती है; इसलिये पर्यायके उत्पाद–

व्ययके सन्मुख भी देखना नही है । पर्यायोके प्रवाह-क्रममे द्रव्य वर्त रहा है । किस पर्यायके समय सम्पूर्ण द्रव्य नही है ?—जब देखो तब द्रव्य वर्तमानमें परिपूर्ण है; ऐसे द्रव्यकी सन्मुखता होनेसे प्रवाह-क्रम निश्चित् होता है । फिर उस प्रवाहका क्रम बदलनेकी बुद्धि नही रहती, किन्तु ज्ञातापनेका अभिप्राय रहता है । वहाँ वह प्रवाह-क्रम ऐसेका ऐसा रह जाता है और द्रव्यदृष्टि हो जाती है । उस द्रव्यदृष्टिमें क्रमशः वीतरागी परिणामोंका ही प्रवाह निकलता रहेगा । ऐसा इस ९९ वी गाथाका सार है ।

अहो ! अपार वस्तु है; केवलज्ञानका कोठार भरा है । इसमें-से जितना रहस्य निकालो उतना निकल सकता है । भीतर दृष्टि करे तो पार आ सकता है ।

अहो ! आचार्यभगवानने अमृतके ढक्कन खोल दिये है,—अमृतका प्रवाह वहा दिया है ।

(१) सामान्यमेसे विशेष होता है ऐसा कहो,

(२) वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त है ऐसा कहो, अथवा

(३) द्रव्यमेसे क्रमबद्धपर्यायकी प्रवाहधारा वहती है ऐसा कहो; इसका निर्णय करनेमें ध्रुवस्वभाव पर ही दृष्टि जाती है । ध्रुवस्वभावकी रुचिनें ही सम्यक्त्व और वीतरागता होती है । यह तो अन्तरंग रुचिकी और अन्तरदृष्टिकी वस्तु है, मात्र शास्त्रकी, पंडिताईकी यह वस्तु नहीं है ।

यह, वस्तुके समय-समयके परिणाममें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-की सूक्ष्म वात है । कुंभार घडा नही बनाता और कर्म जीवको विकार नहीं कराते—यह तो ठीक, किन्तु यह तो उससे भी सूक्ष्म वात है । सर्वज्ञतामें ज्ञाता हुआ वस्तुस्वभावका एकदम सूक्ष्म नियम यहाँ वतला दिया है । मिट्टी स्वय पिण्डदशाका नाश होकर घटपर्याय-रूप उत्पन्न होती है और मिट्टीपनेके प्रवाहकी अपेक्षा वह ध्रौव्य है; उसी प्रकार समस्त पदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वभाववाले है ।—

ऐसा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वभाव समझनेसे अपनेको पर-सन्मुख देखना नही रहता; क्योंकि परके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यको स्वयं नही करता और अपने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य परसे नही होते, इसलिये अपने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यके लिये कही परसन्मुख देखना नहीं रहता किन्तु स्वसन्मुख देखना ही रहता है। अब, स्वयं अपने परिणामोंको देखते हुए ज्ञान अतरमें परिणामी स्वभावकी ओर उन्मुख होता है, और उस परिणामीके आधारसे वीतरागी परिणामका प्रवाह निकलता रहता है। इस प्रकार ध्रुवके आश्रयसे वीतरागी परिणामका प्रवाह निकलता रहता है।—उसकी यह बात है।

'आत्मा दूसरेका कुछ नही कर सकता।'—ऐसा कहते ही अन्य किसीके सन्मुख देखना नहीं रहता, किन्तु स्वसन्मुख देखना आता है। अपनेमे अपने परिणाम अपनेसे होते है—ऐसा निश्चित करने पर अतरमे जहाँसे परिणामकी धारा बहती है ऐसे ध्रुव-द्रव्य-सन्मुख देखना रहा। और ध्रुव-सन्मुख देखते ही (ध्रुवस्वभाव-की दृष्टि होते ही) सम्यक्पर्यायका उत्पाद होता है। यदि ध्रुव-सन्मुख न देखे तो पर्यायदृष्टिमे मिथ्यापर्यायका उत्पाद होता है। इसलिये वस्तुके ऐसे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वभावको समझनेसे ध्रुवस्वभावकी दृष्टिसे सम्यक् वीतराग पर्यायोका उत्पाद हो-यही सर्व कथनका तात्पर्य है।

चैतन्यतत्त्वकी महिमा और दुर्लभता

अहो! आत्माके शुद्ध स्वभावकी अत्यन्त महिमावाली बात जीवोने यथार्थरूपसे कभी नही सुनी। इस समय चैतन्य-तत्त्वकी महिमाकी बात सुननेको मिलना भी अति दुर्लभ हो गया है। जो जीव अति जिज्ञासु और अत्यन्त योग्य होकर आत्मस्वभावकी यह बात सुने उसका कल्याण हो सकता है।

—प्रवचनमेसे

आत्मा कौन है और कैसे प्राप्त होता है ?

[प्रवचनसारके परिशिष्टमे ४७ नयो द्वारा आत्मद्रव्यका वर्णन किया है, उसपर पूज्य गुरुदेवके विशिष्ट अपूर्व प्रवचनका सार]

* 'प्रभो ! यह आत्मा कौन है और कैसे प्राप्त किया जाता है ?' —ऐसा जिज्ञासु शिष्य पूछता है ।
* उसके उत्तरमे श्री आचार्यदेव कहते है कि 'आत्मा अनत धर्मोवाला एक द्रव्य है और अनन्तनयात्मक श्रुतज्ञानप्रमाण पूर्वक स्वानुभव द्वारा वह ज्ञात होता है ।
* उस आत्मद्रव्यका ४७ नयोसे वर्णन किया है, उसमेसे २५ नयो परके प्रवचन अभीतक आ गये है; उसके आगे यहाँ दिये जा रहे है।

(२६) नियतनयसे आत्माका वर्णन

अनन्तधर्मवाला चैतन्यमूर्ति आत्मा प्रमाणज्ञानसे ज्ञात होता है; उसका २५ नयोसे अनेक प्रकारसे वर्णन किया है । अब नियति, स्वभाव, काल, पुरुषार्थ और देव—इन पाँच बोलोका वर्णन करते है; उनमे प्रथम नियतिनयसे आत्मा कैसा है वह कहते है ।

आत्मद्रव्य नियतनयसे नियतस्वभावरूप भासित होता है; जिस प्रकार उष्णता वह अग्निका नियतस्वभाव है उसी प्रकार नियतिनयसे आत्मा भी अपने नियतस्वभाववाला भासित होता है । आत्माके त्रिकाल एकरूप स्वभावको यहाँ नियतस्वभाव कहा है; उस स्वभावको देखनेवाले नियतनयसे जब देखो तब आत्मा अपने चैतन्यस्वभावरूपसे एकरूप भासित होता है । पर्यायमे कभी तीव्र-राग, कभी मदराग और कभी रागरहितपना, और कभी राग बदल-

कर द्वेष, कभी मतिज्ञान और कभी केवलज्ञान, एक क्षण मनुष्य और दूसरे क्षण देव—इस तरह अनेक प्रकार होते हैं—उनका वर्णन आगे आनेवाले बोलमे आत्माके अनियत स्वभावरूपसे करेंगे। यहाँ आत्माके नियतस्वभावकी बात है। जैसा शुद्ध चैतन्य ज्ञानानन्दस्वभाव है वैसे ही नियतस्वभावरूपसे आत्मा सदैव प्रतिभासित होता है; पर्याय अल्प हो या अधिक हो, विकारी हो या निर्मल हो, परन्तु नियतस्वभावसे तो आत्मा सदैव एकरूप है। ऐसे नियतस्वभावको जो देखता है उसे अकेली पर्यायवुद्धि नही रहेगी किन्तु द्रव्यस्वभावका अवलम्बन होगा। पर्यायबुद्धिवाला जीव आत्माको एकरूप नियतस्वभावसे नही देख सकता और न उसके नियतनय होता है।

यहाँ द्रव्यके त्रिकाली स्वभावको ही नियत कहा है; जिस प्रकार उष्णता वह अग्निका नियतस्वभाव है, अग्नि सदैव उष्ण ही होती है; ऐसा कभी नही हो सकता कि अग्नि उष्णतारहित हो। उसी प्रकार चैतन्यपना आत्माका नियत स्वभाव है; उस स्वभावसे जब देखो तव आत्मा एकरूप चैतन्यस्वरूपमय ज्ञात होता है। यद्यपि पर्यायमे भी नियतपना अर्थात् क्रमवद्धपना है; जिस समय जिस पर्यायका होना नियत है वही होती है; उसके क्रममे परिवर्तन नही होता—ऐसा पर्यायका नियत स्वभाव है; परन्तु इस समय यहाँ उसकी वात नही है; यहाँ तो निमित्तकी अपेक्षारहित आत्माका जो त्रिकाल एकरूप रहनेवाला स्वाभाविक धर्म है उसका नाम नियतस्वभाव है और वह नियतनयका विषय है।

जिस प्रकार अग्निका उष्णस्वभाव है वह नियत ही है,—निश्चित ही है; अग्नि सदैव उष्ण ही होती है। उसी प्रकार आत्माका चैतन्यस्वभाव नियत—निश्चित—सदैव एकरूप है; नियतस्वभावसे आत्मा अनादि—अनन्त एकरूप नियत परम पारिणामिक—स्वभावरूप ही भासित होता है, बंध—मोक्षके भेद भी उसमे दिखाई नहीं देते। बन्ध और मोक्षकी पर्यायें नियत अर्थात् स्थायी एकरूप नही है परन्तु अनियत है। उदय-उपशम-क्षयोपशम या क्षायिक—यह चारों

भाव भी अनियत है; परमपारिणामिक-स्वभाव ही नियत है। आत्माका सहज निरपेक्ष शुद्ध स्वभाव ही नियत है। नियतनय आत्माको सदैव ज्ञायक स्वभावरूप ही देखता है। आत्माका ज्ञायकस्वभाव है वह नियत—निश्चित हुआ अनादि-अनन्त स्वभाव है; उसमे कभी परिवर्तन नही हो सकता। आत्माके ऐसे स्वभावको जाननेवाला जीव पर्यायके अनेक प्रकारोको भी जानता है, तथापि उसे पर्यायबुद्धि नही होती। आत्माके नियत एकरूप ध्रुव स्वभावको जाननेसे उसीका आश्रय होता है; इसके अतिरिक्त किसी निमित्त, विकल्प या पर्यायके आश्रयकी मान्यता उसे नही रहती। इसप्रकार प्रत्येक नयसे शुद्ध आत्माकी ही साधना होती है। जो जीव अन्तरगमे शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्माको नही देखता उसके एक भी सच्चा नय नही होता।

जैसे कोई कहे कि—ऐसा नियम बनाओ जिसमे कभी परिवर्तन न हो। उसीप्रकार यह नियतनय आत्माके स्वभावका ऐसा नियम बाँधता है कि जो कभी पलट न सके, आत्माका नियम क्या है ?—कि अपने शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभावसे त्रिकाल रहना ही उसका नियम है; अपने ज्ञानानन्दस्वभावको वह कभी नही छोडता। जो आत्मस्वभावके ऐसे नियमको जानता है वह नियमसे मुक्ति प्राप्त करता है।

देखो, यह आत्मस्वभावके गीत ! सतोके अन्तर्‌अनुभवमेसे यह झन्कार उठी है कि अरे जीव ! तूने अपने नियत परमानन्दस्वभावको कभी छोड़ा नही है; तेरा सहज ज्ञान और आनन्दस्वभाव तुझमें नियत है; तू सदैव अनाकुल शात रसका कुण्ड है; यदि अग्नि कभी अपनी उष्णताको छोड दे तो भगवान् आत्मा अपने पवित्र चैतन्यस्वभावको छोडे ! परन्तु ऐसा कभी नही होता। केवलज्ञान और परम आनन्द प्रगट होनेके सामर्थ्यसे सदैव परिपूर्ण ऐसा तेरा नियत स्वभाव है, उस स्वभावके अवलम्बनसे ही धर्म प्रगट होता है; इसके अतिरिक्त कही बाह्यसे धर्म नही आता।

एक बार अन्तरमें अपने ऐसे नियत स्वभावको देख !

नियतनयसे देखने पर पवित्रताका पिण्ड आत्मा स्वयं चैतन्यस्वभावसे नियत ज्ञात होता है—ऐसा उसका धर्म है। यह धर्म आत्माको सदैव अपने परम शुद्ध अमृत-रसमें डुबा रखता है; अपने शात उपशम रसमे स्थिर—नियत रखता है। नरकमें या स्वर्गमें, अज्ञानदशाके समय या साधकदशाके समय, निगोदमे था तव या सिद्धदशामे होगा तब—कभी भी वह अपने स्वभावको बदलकर अन्यरूप नही हो जाता—ऐसा आत्माका नियतस्वभाव है। जो ऐसे नियतस्वभावको जाने उसके पर्यायमें भी ऐसा हो नियत होता है कि अल्पकालमे मुक्ति प्राप्त करे।

एक ओर देखनेसे अनुकूलतामे राग और फिर वह बदलकर प्रतिकूलतामे द्वेष—इस प्रकार आत्मा अनियतस्वभावसे लक्षमें आता है; और दूसरी ओरसे देखने पर तीन लोककी चाहे जैसी प्रतिकूलता आ पडे तथापि आत्मा कभी अपने स्वभावको नही छोडता—ऐसा उसका नियतस्वभाव है।—इस प्रकार दोनों स्वभावों-से जो आत्माको जानता है उसे ध्रुव एकरूप स्वभावकी महिमा आकर उसमे अन्तरोन्मुखता हुए बिना नही रहेगी।

जिस प्रकार, अग्निमें उष्णता न हो ऐसा कभी नही हो सकता, उसी प्रकार आत्माका ज्ञानानन्द स्वभाव अनादि-अनंत एकरूप है उसका नाम नियतस्वभाव है। अग्निका स्वभाव ऐसा नियत है कि उसमें उष्णता होती ही है, उसी प्रकार आत्मामें ऐसा नियत धर्म है कि अपने शुद्धचैतन्यस्वभावसे वह कभी पृथक् नही होता। आत्मा-का त्रिकाली स्वभाव अनत सहजानदकी मूर्ति है; स्वभावको देखनेवाले ज्ञानी जीव ऐसा नही मानते कि, किन्ही अनुकूल निमित्तोसे मेरा स्वभाव नवीन उत्पन्न होता है अथवा प्रतिकूल निमित्तोसे मेरा स्वभाव नष्ट हो जाता है या उसमे परिवर्तन हो जाता है। इसलिये उन ज्ञानियोंको चाहे जैसे अनुकूल-प्रतिकूल प्रसगोमे भी अनन्तानुबन्धी राग-द्वेष होते ही नहीं। वे जानते है कि हमारा आत्मा त्रिकाल चैतन्य

ज्ञायकरूपसे नियत है; हमे अपने ज्ञायकस्वभावसे छुडानेकी किन्हीं संयोगोकी तो शक्ति नही है, और पर्यायके क्षणिक विकारमे भी ऐसी शक्ति नही है कि हमे अपने स्वभावसे पृथक् कर दे। जिस प्रकार लोग नियम लेते है कि हम अमुक वस्तु नही खाएँगे; उसी प्रकार आत्माके नियतस्वभावका ऐसा नियम है कि तीनकालमे कभी भी अपने चैतन्यभावको छोडकर विभावरूप नही होना। जो घडी-घडी-में बदले उसे नियम नही कहा जाता।

देखो, यह काहेकी बात चल रही है? यह भगवान आत्मा-के गीत गाए जा रहे है; आत्मामे जो धर्म है उनकी यह महिमा गायी जा रही है। अज्ञानीको अनादिकालसे अपने स्वभावकी महिमा नही रुचती और वह परकी महिमा करता है। जहाँ उच्चप्रकारके हीरे-जवाहिरात या आभूषणोंकी महिमा सुनता है वहाँ उनकी महिमा आ जाती है; परन्तु आत्मा स्वय तीनलोकका प्रकाशक चैतन्यहीरा है उसके स्वभावकी महिमा गायी जा रही है, उसे सुननेमे अज्ञानीको रुचि या उत्साह नही आता। यहाँ तो जिसे आत्माका स्वभाव समझनेकी जिज्ञासा जागृत हुई है उसे आचार्यदेव समझाते है। आत्माका शुद्ध-स्वभाव त्रिकाल नियमित है; उसीके आधार पर्यायमे शुद्धता प्रगट होती है; इसके अतिरिक्त कही बाह्यमेसे, विकारमेंसे या क्षणिक पर्यायमेंसे शुद्ध पर्याय नही आती। भगवान आत्माने अपनी पवित्रता-के पिण्डको कभी छोडा नही है। पर्यायमें जो शुद्धता प्रगट होती है वह तो पहले नही थी और नवीन प्रगट हुई, इसलिये वह अनियत है; और शुद्ध स्वभाव ध्रुवरूपसे सदैव ऐसेका ऐसा ही है; इसलिये वह नियत है। पर्याय जिस समय जो होना हो वही होती है;—इस प्रकारसे पर्यायका जो नियत है उसकी इस नियतनयमें बात नही है परन्तु यहाँ तो द्रव्यके नियतस्वभावकी बात है, क्योकि नियत-के समक्ष फिर अनियतस्वभावका भी कथन करेंगे, उसमे पर्यायकी बात लेगे। पर्यायोके नियतपनेकी (क्रमबद्ध पर्यायकी) जो बात है उसमे नियत और अनियत ऐसे दो प्रकार नही है; उसमे तो नियतका

एक ही प्रकार है कि समस्त पर्यायें नियत ही है—कोई भी पर्याय अनियत नही है। परन्तु इससमय तो आत्मवस्तुमें नियतस्वभाव और अनियतस्वभाव–ऐसे दोनो धर्म उतारना है; इसलिये यहाँ नियत अर्थात् द्रव्यका एकरूप स्वभाव। पर्यायका क्रम नियत है परन्तु पर्यायस्वभाव त्रिकाल एकसमान रहनेवाला नहीं है इसलिये उसे यहाँ अनियत स्वभाव कहा है। जब पर्यायका नियतपना (—क्रमबद्धपना) कहना हो उससमय तो विकार भी नियत कहा जाता है, ज्ञान नियत है, ज्ञेय नियत है, विकार नियत है, सयोग और निमित्त भी नियत हैं, जो हों वही होते है, अन्य नही होते, जिससमय जो होना है वह सब नियत ही है। ऐसे नियतके निर्णयमे भी ज्ञानस्वभावकी ही दृष्टि हो जाती है, और वस्तुका नियत-अनियत स्वभाव कहा उसके निर्णयमें भी ध्रुवस्वभावकी दृष्टि हो जाती है। द्रव्यके नियतस्वभावको जानने पर रागको अनियत धर्मरूपसे जानता है, इसलिये उस रागमे स्वभावबुद्धि नहीं होती, इसप्रकार आत्माके नियतस्वभावको जानने पर रागसे भेदज्ञान हो जाता है।

राग होता है वह आत्माका अनियतस्वभाव है—ऐसा जाने, अथवा रागको उस समयकी पर्यायके नियमरूपसे जाने, तो भी उन दोनोंमे, 'आत्माका नियतस्वभाव उस रागसे भिन्न है'—ऐसा भेदज्ञान होकर स्वभावदृष्टि होती है।

जो जीव त्रिकाली द्रव्यके नियतस्वभावको जाने वही जीव त्रिकालकी पर्यायोके नियतपनेको यथार्थ जानता है, और क्षणिक भावोंके अनियतपनेको भी वही जानता है। पर्यायमे राग हुआ वह आत्माका अपना अनियतधर्म है, इसलिये कर्मके उदयके कारण राग हुआ यह बात नही रहती। आत्माका स्थायी स्वभाव वह नियत है और क्षणिकभाव वह अनियत है। पूर्वे अनादिकालमें आत्मा नरक-निगोद आदि चाहे जिस पर्यायमे रहा तथापि आत्माके नियत-धर्मको उसने अपने शुद्धस्वभावसे एकरूप बना रखा है; जहाँ-जहाँ परिभ्रमण किया वहाँ सर्वत्र अपने शुद्ध चैतन्यस्वभावको अपने

साथ रखकर भटका है। यदि ऐसे अंतर्स्वभावका ज्ञान करे तो वर्तमानमें अपूर्व धर्म होता है।

नियतनयका विषय त्रिकाल एकरूप रहनेवाला द्रव्य है और अनियतनयका विषय पर्याय है। 'अनियत'का अर्थ अक्रमबद्ध-अनिश्चित् अथवा उल्टी-सीधी पर्याय—ऐसा नही समझना; परन्तु पर्याय वह आत्माका त्रिकाल एकरूप रहनेवाला स्वभाव नहीं है किन्तु वह पलट जाता है उस अपेक्षासे उसे अनियत धर्म समझना। पर्याय तो त्रिकालके प्रत्येक समयकी जैसी है वैसी नियत है; उसमें कुछ उल्टा-सीधा नही हो सकता। बस! तू अपने ज्ञानकी प्रतीति करके उसका ज्ञाता रह जा। शरीरादि मेरे है—यह बात भूल जा; और रागको बदलूँ—यह बात भी भूल जा; शरीरादि और रागादि—सबको जाननेवाला तेरा ज्ञानस्वभाव है उसे सँभाल; वह तेरा नियत-स्वभाव है। अपने नियतस्वभावको तूने कभी छोड़ा नही है।

आत्मा त्रिकाल ज्ञानस्वभाव है—इस प्रकार द्रव्यके नियत-स्वभावका निर्णय करे तो वह स्वभावदृष्टिसे रागादिका ज्ञाता हो गया।

द्रव्यके नियतस्वभावको जानने पर, रागको पर्यायके नियत रूपसे जाने तो उसमे भी रागका ज्ञाता हो गया।

राग आत्माका अनियत स्वभाव है अर्थात् वह आत्माका त्रिकाल स्थायी स्वभाव नही है-ऐसा जाने तो उसमें भी राग और स्वभावका भेदज्ञान होकर रागका ज्ञाता रह गया।

—इस प्रकार चाहे जिस रीतिसे समझे परन्तु उसमे ज्ञान-स्वभावकी सन्मुखता करना ही आता है और वही धर्म है।

'नियतवाद' का बहाना लेकर अज्ञानी लोग अनेक प्रकारकी अंधाधुंधी चलाते हैं। सर्वज्ञदेवने जैसा देखा है उसी प्रकार नियमसे होता है—इस प्रकार सर्वज्ञकी श्रद्धापूर्वकके सम्यक् नियतवादको भी अज्ञानी गृहीतमिथ्यात्व कहते है; परन्तु उसमें ज्ञानस्वभावके

निर्णयका महान पुरुषार्थ आता है उसकी उन्हें खबर नही है। तथा दूसरे स्वच्छन्दी जीव, सर्वज्ञके निर्णयके पुरुषार्थको स्वीकार किये बिना अकेला नियतका नाम लेकर पुरुषार्थको उड़ाते है उन्हें भी नियतस्वभावकी खबर नहीं है।

गोम्मटसारमें नियतवादीको गृहीतमिथ्यादृष्टि कहा है। वह जीव तो ज्ञानस्वभावकी प्रतीतिका सम्यक् पुरुषार्थ नही करता, सर्वज्ञकी प्रतीति नही करता; परन्तु विकारका और परका स्वामी होकर कहता है कि 'जो नियत होगा वह होगा।' परन्तु 'जो नियत होगा वह होगा'—ऐसा जाना किसने उसका निर्णय कहाँ किया ?—अपने ज्ञानमे। तो तुझे अपने ज्ञानकी प्रतीति है। ज्ञानकी वड़ाई और महिमाको जानकर, उसके सन्मुख होकर, ज्ञेयोंके नियतको जो जानता है वह तो मोक्षमार्गी साधक हो गया है उसकी गोम्मटसार-मे बात नही है, परन्तु जो मिथ्यादृष्टि जीव ज्ञानस्वभावके सन्मुख हुए बिना और सर्वज्ञकी श्रद्धा किए बिना मात्र परसन्मुख देखकर नियत मानता है वह मिथ्या नियतवादी है और उसीको गोम्मटसार-मे गृहीतमिथ्यादृष्टि कहा है।

सर्वज्ञस्वभावकी श्रद्धापूर्वक अपने ज्ञानस्वभावके सन्मुख होकर ऐसा निर्णय किया कि अहो। सब नियत है; जिस समय जैसा होना है वैसा ही क्रमबद्ध होता है; मैं तो स्व-परप्रकाशी ज्ञाता हूँ। ऐसा निर्णय वह सम्यग्दृष्टिका सम्यक् नियतवाद है। इस नियतमें द्रव्य-पर्याय सबका समावेश हो जाता है; अज्ञानीका नियतवाद ऐसा नही होता। जिसने अपने ज्ञानस्वभावके सन्मुख होकर उसकी रुचि-का सम्यक्-पुरुषार्थ प्रगट किया और शुभ-अशुभ भावोंकी रुचि छोड़ दी है उसीने वास्तवमें सम्यक् नियतवादको माना है; उसमें चैतन्य-का पुरुषार्थ है, मोक्षका मार्ग है। उसका वर्णन स्वामी कार्तिकेयानु-प्रेक्षाकी ३२१-३२२ वी गाथामें है; सम्यग्दृष्टि जीव वस्तुके यथार्थ स्वरूपका कैसा चितवन करता है वह उसमें बतलाया है।

यहाँ प्रवचनसारमे जो नियतधर्म कहा है वह तीसरी बात है। यहां तो आत्माका जो त्रिकाल एकरूप शुद्ध निरपेक्ष चैतन्यस्वभाव है उसका नाम नियतधर्म है। स्वभाववान कभी अपने मूल स्वभावको नही छोड़ता—ऐसा उसका नियतधर्म है। यह नियतधर्म तो ज्ञानी–अज्ञानी सभी जीवोमे है; परन्तु ज्ञानी ही उसे नियतनय द्वारा जानते है। नियतधर्म सभी आत्माओंमे है, परन्तु नियतनय सभी आत्माओके नही होता; जो ज्ञानी आत्माके नियतस्वभावको जाने उसीके नियतनय होता है।

इस प्रकार नियतनयके तीन प्रकार हुए:—

(१) गोम्मटसारमे कहा हुआ ज्ञानकी प्रतीतिरहित गृहीतमिथ्यादृष्टिका नियतवाद।

(२) स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षामे कहा हुआ ज्ञानीका नियतवाद; उसमे सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञानस्वभावकी भावनापूर्वक सर्वज्ञदेवके देखे हुए वस्तुस्वरूपका चितन करता हुआ, जैसा होता है वैसा पर्यायके नियतको जानता है; उसमे विषमभाव नही होने देता। इसलिये यह ज्ञानीका नियतवाद तो वीतरागता और सर्वज्ञताका कारण है।

(३) इस प्रवचनसारमें कहा हुआ नियतस्वभाव; नियतनयसे सभी जीव त्रिकाल एकरूप ज्ञानस्वभावसे नियत है।

उपरोक्त तीन प्रकारोमेसे गोम्मटसारमे जिस नियतवादको गृहीतमिथ्यात्वमें गिना है वह अज्ञानीका है; उसे सर्वज्ञकी श्रद्धा नही है। स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षामे वर्णित नियतवाद तो सर्वज्ञकी श्रद्धा सहित और ज्ञातादृष्टास्वभावकी सन्मुखताके पुरुषार्थ सहित ज्ञानीका सम्यक् नियतवाद है। और प्रवचनसारमे जिस नियतवाद की बात है वह समस्त जीवोका त्रिकाल एकरूप शुद्ध चिदानन्दस्वभाव है उसकी बात है। आत्मा अपने असली चैतन्यस्वभावको कभी नही छोड़ता ऐसा उसका नियतस्वभाव है। जो जीव ऐसे नियतस्वभावको जाने उसे विकार पर बुद्धि नही रहती; क्योकि

विकार आत्माका त्रिकाल स्वभाव नहीं है। इस तीसरे बोलकी अपेक्षासे तो विकार आत्माका 'अनियतभाव' ह, और दूसरे बोलकी अपेक्षासे तो विकारभाव भी 'नियत' है, क्योंकि उस समय उसी पर्यायका क्रम नियत है।

विकार होता है वह आत्माका त्रिकाली स्वभाव नहीं है, इसलिये अनियतरूपसे उसका वर्णन करेंगे; परन्तु उस अनियतका अर्थ ऐसा नही है कि उस समयकी उस पर्यायके क्रममें भंग पड़ा! आत्माकी पर्यायमें कभी विकार होता है और कभी नही होता; और न वह सदैव एक-सा रहता है—इसलिये उसे अनियत कहा है; परन्तु पर्यायके क्रमकी अपेक्षा तो वह भी नियत ही है। वस्तुस्वभाव त्रिकाल व्यवस्थित परिणमित हो रहा है; उसकी तीनों कालकी पर्यायोमें इतनी नियमितता है कि उसके क्रमका भंग करनेमें अनंत तीर्थंकर भी समर्थ नही है। पर्यायोके ऐसे व्यवस्थितपनेका निर्णय करनेवाला जीव स्वयं त्रिकाली द्रव्यके सन्मुख देखकर वह निर्णय करता है इसलिये वह स्वयं स्वभावोन्मुख और मोक्षपथमें बैठा हुआ साधक हो गया है। क्रमरूप पर्यायें एकसाथ नही होती इसलिये उस क्रमकी प्रतीति करनेवालेकी दृष्टि अक्रमरूप द्रव्यस्वभाव पर होती है, और उसीसे मोक्षमार्गका पुरुषार्थ आ जाता है।

धर्मी जीव नियतनयसे ऐसा जानता है कि मैंने अपने स्वभावको सदैव ऐसे का ऐसा नियत बना रखा है; मेरे स्वभावमें कुछ भी न्यूनाधिकता नही; विकारके समय मेरे स्वभावमेंसे कुछ कम नही हो जाता और न केवलज्ञान होनेसे कुछ बढ जाता है; पर्यायमें विहार हो या निर्विकारीपना हो, परन्तु अपने नियतस्वभावमेंसे तो सदैव एकरूप हूँ। इस प्रकार द्रव्यकी अपेक्षासे आत्माका नियतधर्म है परन्तु उसीके साथ पर्याय अपेक्षासे अनियतधर्म भी विद्यमान है उसे भी धर्मी जानता है; उसका वर्णन अगले बोलमें करेंगे।

अग्नि कभी ठण्डी हो और कभी गर्म हो—ऐसे दो प्रकार उसमे नही है; अग्नि गर्म ही होती है—ऐसा एक नियत प्रकार है। उसी प्रकार नियतनयसे आत्मामें भी ऐसा नियतस्वभाव है कि वह सदैव एकरूप शुद्ध चैतन्यस्वरूप ही रहता है। जिस प्रकार अग्नि कभी अपनी उष्णातासे पृथक् नही होती ऐसा उसके स्वभावका नियम है; उसी प्रकार आत्माके स्वभावका ऐसा नियम है कि वह अपने शुद्ध चैतन्यत्वसे पृथक् नही होता।

यहाँ त्रिकाली शुद्धस्वभावके नियमको नियत कहा है गोम्मटसारका नियतवादी तो ज्ञानस्वभावकी प्रतीतिके पुरुषार्थसे रहित है इसलिये वह गृहीतमिथ्यादृष्टि है। और द्वादशानुप्रेक्षामे ज्ञानस्वभावकी प्रतीतिके पुरुषार्थ सहित सम्यग्दृष्टिके सम्यक् नियत-वादका वर्णन है। जिस पदार्थकी जिस समय, जिस प्रकार जिस अवस्थाका होना सर्वज्ञदेवके ज्ञानमे प्रतिभासित हुआ है उस पदार्थ-की उस समय उसी प्रकार वैसी ही अवस्था नियमसे होती है; कोई इन्द्र, नरेन्द्र या जिनेन्द्र भी उसमे फेरफार नही कर सकते—ऐसा वस्तुस्वरूप समझनेवाले सम्यग्दृष्टिको साथमे ऐसी भी प्रतीति है कि मैं ज्ञाता हूँ। इसलिये परसे उदासीन होकर वह उसका ज्ञाता रहा, और अपनी पर्यायका आधार द्रव्य है उस द्रव्यकी ओर उन्मुख हुआ; द्रव्य-दृष्टिसे उसे क्रमशः पर्यायकी शुद्धता होने लगती है।—ऐसा यह सम्यक् नियतवाद है।

देखो, गोम्मटसारमें नियतवादीको गृहीत मिथ्यादृष्टि कहा, और यहाँ सम्यग्दृष्टिके नियतवादको यथार्थ कहा। कहाँ कौन-सी अपेक्षा है वह गुरुगमसे समझना चाहिये।

ज्या ज्यां जे जे योग्य छे तहा समजवुं तेह,
त्या त्या ते ते आचरे आत्मार्थी जन एह।

कुछ लोग तो 'नियत'—ऐसा शब्द सुनकर ही भडक उठते है; परन्तु भाई! तू जरा समझ तो कि ज्ञानी क्या कहते है? 'क्रमबद्ध

जैसा होना नियत है वैसा ही होता है'—ऐसा जाननेका वीड़ा किसने उठाया ? जिस ज्ञानने वह वीडा उठाया है वह अपने ज्ञानसामर्थ्यकी प्रतीतिके विना वह बीडा नही उठा सकता; क्रमवद्ध जैसा होना नियत है वैसा ही होता है–ऐसा वीडा उठानेवाले ज्ञानमें ज्ञानस्वभावकी सन्मुखताका पुरुपार्थ–इत्यादि सभी समवाय आ जाते है ।

(१) यहाँ कहा हुआ नियतधर्म सभी जीवोमे है ।

(२) द्वादशानुप्रेक्षामें कथित सम्यक् नियतवाद सम्यग्दृष्टिके ही होता है ।

(३) गोम्मटसारमें कथित मिथ्या नियतवाद गृहीतमिथ्यादृष्टिके ही होता है ।

—इसलिये नियतका जहाँ जो प्रकार हो वह समझना चाहिए; मात्र 'नियत' शब्द सुनकर भड़कना नहीं चाहिए ।

'नियत स्वभाव' भी आत्माका एक धर्म है; और उस धर्मसे आत्माको जानने पर उसके दूसरे अनन्त धर्मोंकी स्वीकृति भी साथ ही आ जाती है । आत्मामें अनन्त धर्म एकसाथ ही है उनमेंसे एक धर्मकी यथार्थ प्रतीति करनेसे दूसरे समस्त धर्मोंकी प्रतीति भी साथ ही आ जाती है और प्रमाण ज्ञान होकर अनन्त धर्मोंके पिण्डरूप शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्माका अनुभव होता है ।

पाँच समवाय कारणोमें जो भवितव्य अथवा नियति आता है वह सम्यक् नियतवाद है; उसके साथ दूसरे चारों समवाय आ जाते हैं । न होनेवाला हो जाये—ऐसा कभी होता ही नहीं; जो होता है वह सव नियत ही है । परन्तु उस नियतके निर्णयमे ज्ञातास्वभावका 'पुरुषार्थ' है, स्वभावमे सो पर्याय थी वही प्रगट हुई है, इसलिये उसमे 'स्वभाव' भी आ गया; और जितने अंशमे निर्मल पर्याय प्रगट हुई उतने अंशमें कर्मका अभाव है—वह 'निमित्त' है ।—इस प्रकार एक समयमें पाँचो वोल एकसाथ आ जाते हैं । उनमे नियत–अनियतरूप अनेकान्त उतारना हो तो जो भवितव्य है वह 'नियत' और नियत-

के अतिरिक्त अन्य चार बोल है वह 'अनियत'—इस प्रकार नियत अनियतरूप अनेकान्त वह भगवानका मार्ग है। परन्तु उसमें 'अनियत' शब्दका अर्थ 'आगे-पीछे या अनिश्चित'—ऐसा नही समझना चाहिये, किन्तु आत्माके नियत धर्मके अतिरिक्त अन्य धर्मोका नाम 'अनियत' समझना ।

सम्यक् नियतमें तो विकारी-अविकारी और जड़की समस्त पयाये आती हैं; क्योकि समस्त पर्यायोका क्रम नियत ही है; और यहाँ कहे हुए नियतस्वभावसे तो अकेला ध्रुवस्वभाव ही आता है; उसमें पर्याय नही आती।

पर्यायके नियतका निर्णय भी द्रव्यके बिना नही किया जा सकता, क्योकि पर्याये द्रव्यमेसे ही आती है। निश्चित पर्यायका निर्णय करनेमें द्रव्यसन्मुखताका अपूर्व पुरुषार्थ है; वह निर्णय करनेवालेको पर्यायबुद्धि नही रहती। वर्तमान पर्यायकी बुद्धि अंतर्मुख होकर द्रव्यमे प्रविष्ट हो जाये तभी सम्यक् नियतका निर्णय होता है। पर्यायमे समय-समयका विकार है वह मेरे त्रिकाली स्वभावमें नही है—इस प्रकार दोनो धर्मोसे आत्माको जाने तो अवस्था विकारकी ओरसे विमुख होकर चैतन्यस्वभावकी ओर उन्मुख हो जाती है और सम्यग्ज्ञान होता है ।

द्रव्यका त्रिकाल नियत स्वभाव है उसकी दृष्टि करे, या पर्यायके नियतका यथार्थ निर्णय करे अथवा नियत और पुरुषार्थ आदि पाँचों समवाय एक साथ है उन्हें समझे, तो मिथ्याबुद्धि दूर होकर स्वभावोन्मुखता हो जाती है। जिसने नियतका यथार्थ निर्णय किया उसके आत्माके ज्ञानस्वभावका, केवलीभगवानका और पुरुषार्थका विश्वास भी साथ ही है। नियतका निर्णय कहो, केवलज्ञानका निर्णय कहो, पाँच समवायका निर्णय कहो, सम्यक् पुरुषार्थ कहो—वह सब एकसाथ ही है ।

नियतके साथ वाले दूसरे पुरुषार्थ आदि चार बोल है उन्हे नियतमे नही लेते इसलिये उन्हे अनियत कहा जाता है। इस प्रकार

नियत और अनियत–ऐसा वस्तुस्वभाव है। अथवा दूसरे प्रकारसे—द्रव्यका एकरूप स्वभाव वह नियतधर्म है और पर्यायमे विविधता होती है वह अनियतधर्म है;—इसप्रकार नियत और अनियत दोनों धर्म एक साथ विद्यमान हैं। उनमे नियतनयसे आत्माके द्रव्य स्वभावका वर्णन किया; अब अनियतनयसे पर्यायकी बात करेंगे।

—यहाँ २६ वे नियतनयसे आत्माका वर्णन पूरा हुआ।

[२७] अनियतनयसे आत्माका वर्णन

नियतनयसे आत्माके एकरूप द्रव्यस्वभावका वर्णन किया; अब अनियतनयसे पर्यायकी बात कहते है। आत्मद्रव्य अनियतनयसे अनियतस्वभावरूप भासित होता है; जिस प्रकार पानीमे उष्णता नियमित नही है परन्तु अग्निका निमित्त पाकर कभी-कभी उसमे उष्णता आ जाती है; उसीप्रकार अनियतनयसे आत्मा रागादि अनियतस्वभावरूप ज्ञाता होता है।

पानीका स्थायी स्वभाव ठण्डा है वह नियत है, और उष्णता उसके ठण्डे स्वभावसे विपरीत दशा है; वह उष्णता पानीमें नित्यस्थायी रहनेवाली नही है इसलिये अनियत है; उसीप्रकार आत्माकी अवस्थामें रागादि विकारीभाव होते है वे स्थायी रहनेवाले नही है परन्तु क्षणिक है इसलिये वे अनियत हैं। ऐसा अनियतपना भी आत्माका एक धर्म है। परन्तु "होना नही था और हो गया"—ऐसा यहाँ अनियतका अर्थ नही है। रागादिको अनियत कहा इसलिये कहीं पर्यायका क्रम टूट जाता है ऐसा नहीं है; जो रागादि हुए वे कही पर्यायका क्रम टूटकर नही हुए है। पर्यायके क्रमकी अपेक्षासे रागादि भी नियत क्रममें ही हैं; परन्तु रागादि अशुद्ध भाव हैं, वह आत्माका स्थायी स्वभाव नही है इसलिये उसे अनियतस्वभाव कहा है। अनियतनयसे देख तो उसमें भी क्रमबद्धपर्यायका फेरफार होना नहीं आता; पर्यायका क्रम तो नियत ही है।

गोम्मटसारमें एकान्त नियतवादीको मिथ्यादृष्टि कहा है,

यह तो अलग बात है और यहाँ अलग बात है। गोम्मटसारमें जिस नियतवादीको मिथ्यादृष्टि कहा है वह तो नियतके नामसे मात्र स्वच्छन्दका सेवन करता है; परन्तु नियतके साथ अपना ज्ञाता स्वभाव है उसे वह जानता नही है, स्वसन्मुख होनेके पुरुषार्थको और सर्वज्ञको मानता नही है, परसन्मुख ही रुचि रखता है किन्तु अनंतस्वसामर्थ्यमय ज्ञानस्वभावकी रुचि नही करता; स्वभावकी सम्यक्-श्रद्धा-ज्ञानके पुरुषार्थको वह स्वीकार नही करता, अपनी निर्मलपर्यायरूप स्वकालको वह जानता नही है, और निमित्तमें कितने कर्मोका अभाव हुआ है उसे भी वह नही समझता।—इस प्रकार किसी प्रकारके मेल बिना मात्र नियतकी बाते करके स्वच्छन्दी होता है; नियतके साथके पुरुषार्थ आदि समवायोंको वह मानता नही है और श्रद्धा ज्ञानका सम्यक् पुरुषार्थ प्रगट नही करता, इसलिये वह मिथ्यादृष्टि है। परन्तु सम्यक्दृष्टि तो नियतके निर्णयके साथ—साथ सर्वज्ञका भी निर्णय करता है और 'मै ज्ञाता स्वभाव हूं'—ऐसा भी स्वसन्मुख होकर प्रतीति करता है इसलिये नियतके निर्णयमें उसे सम्यक्श्रद्धा-ज्ञानका पुरुषार्थ भी साथ ही है; उस समय निर्मलपर्याय रूप स्वकाल है तथा निमित्तमे मिथ्यात्वादि कर्मका अभाव है; इस प्रकार सम्यग्दृष्टिको एक साथ पॉच समवाय आ जाते है। नियतके निर्णयके सम्बन्धमे मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टिका यह महान अन्तर है वह अज्ञानी नही समझ सकते इसलिये भ्रमसे दोनोमें समानता लगती है, परन्तु वास्तवमे तो उन दोनोंमें आकाल-पाताल जितना अन्तर है।

'मै ज्ञायक हूँ'—इस प्रकार अपने ज्ञानस्वभावकी जिसे प्रतीति नहीं है और जो परमे फेरफार करनेके मिथ्याभिमानका सेवन कर रहा है, वे यह नियतवस्तुस्वभावकी यह बात सुनते ही भड़क उठते है कि 'अरे! क्या सब नियत है!! हमारे पुरुषार्थसे कुछ फेरफार नही हो सकता?' यानी उसे ज्ञाता नही रहना है किन्तु फेरफार करना है;—यह बुद्धि ही मिथ्यात्व है। अज्ञानी मानता है कि वस्तुकी पर्याय नियत नही है, अर्थात् निश्चित नही है; उसमे हम

अपनी इच्छानुसार परिवर्तन कर सकते हैं;—यह उसकी मान्यता मिथ्या है; क्योंकि वस्तुकी पर्यायोंमें ऐसा अनियतपना नहीं है कि वे आगे-पीछे हो जाये ! यहाँ आत्माके अनियतधर्मका वर्णन करते हैं उसमें तो अलग बात है; कहीं उसमें पर्यायके क्रममें परिवर्तन करनेकी बात नही है।

अज्ञानी मानता है कि इस अनियतनयमें तो हमारी मान्यतानुसार वस्तुकी क्रमवद्धपर्यायमें फेरफार होना आयेगा !-परन्तु ऐसा नहीं है; किसी पर्यायका क्रम तो फिरता ही नहीं है—इस नियमको अवाधित रखकर ही सब बात है। द्रव्यस्वभावकी दृष्टिसे देखने पर आत्मा शुद्धरूप दिखाई देता है और पर्यायदृष्टिसे देखने पर अशुद्ध दिखाई देता है, वह अशुद्धता आत्माका अनियतस्वभाव है; क्षणिक अशुद्धताको भी आत्मा स्वयं अपनी पर्यायमें धारण कर रखता है।

आत्माके अनियतधर्मको कौन मान सकता है ?

आत्मा एकान्त शुद्ध है, उसकी पर्यायमें भी विभाव नही है—ऐसा जो माने उसने आत्माके अनियतधर्मको नही जाना है;

अथवा आत्माकी पर्यायमें जो विकार है वह परके कारण होता है—ऐसा माने तो वह भी आत्माके अनियतधर्मको नहीं जानता है;

और पर्यायमें जो क्षणिक विकार है उसीको यदि आत्माका स्थायी स्वभाव मान ले तो उसने भी आत्माके अनियतधर्मको नहीं जाना है;

पर्यायमें जो विकार है वह उसके अपने कारणसे है; परन्तु वह आत्माका त्रिकाल रहनेवाला स्वभाव नहीं है, परन्तु क्षणिक अशुद्धभाव है—ऐसा जो जाने उसीने आत्माके अनियतधर्मको यथार्थरूपसे माना कहा जाता है।

सर्व जीव कर्मके वश है—ऐसा अज्ञानी मानता है; इसलिये कर्म ही जीवको विकार करता है ऐसा वह मानता है, परन्तु आत्माके अनियतधर्मको वह नही जानता है। रागादि विकार होता है वह कहीं जड़कर्मका धर्म नही है, परन्तु वे रागादि आत्माकी ही अवस्थामें होते हैं इसलिये आत्माका ही अनियतधर्म है। तत्त्वार्थ-सूत्रमें भी औदयिकभावको भी आत्माका स्वतत्त्व कहा है। रागादिभाव आत्माका अनियतधर्म है, वह कही कर्मके वश नही है; आत्माका अनियतधर्म कही जडकर्मके कारण नही है।

'आत्माकी पर्यायमें विकार नही होना था, किन्तु बहुतसे कर्मोंका एकसाथ उदय आया इसलिये विकार हुआ'—ऐसा अनियत-पना नहीं है; परन्तु आत्माके स्वभावका जो एकरूप नियम है वैसा पर्यायमे नही है, इसलिये पर्यायके विकारको अनियत कहा है। चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा त्रिकाल है, उसकी अवस्थामें विकार और संसार है वह अनियतस्वभावसे है; एक समय पर्यतका अनिश्चित है, इसलिये वह आत्मामे सदैव नही रहेगा, और शुद्ध स्वभाव तो ज्योका त्यो रहनेवाला है; उस स्वभावकी महिमा करके उसके सन्मुख रहनेसे पर्यायमे अनियत ऐसा ससार दूर हो जायेगा। इसलिये हे जीव! मैं ज्ञायक आनन्दकन्दस्वभावसे नियत हूँ और अवस्थाका विकार वह अनियत है—ऐसी प्रतीति करके स्वभावोन्मुख हो! विकार आत्मामे स्थायी रहनेवाला भाव नही है, इसलिये पर्यायमें भले ही चाहे जितना विकार हो उससे तू अकुलाना मत, परन्तु उस प्रकारकी तुच्छता जान, और नित्यस्थायी शुद्ध नियतस्वभावकी महिमा लाकर उसके सन्मुख दृष्टि करके उसमे स्थिर हो!—ऐसा करनेसे, जैसा नित्यस्थायी शुद्धस्वभाव है वैसी शुद्धता पर्यायमे प्रगट हो।जायेगी और विकार नष्ट हो जायेगा आत्माके शुद्धस्वभावके आश्रयसे अनियत जो विकार है वह दूर हो जाने योग्य है, परन्तु पर्यायके क्षणिक विकारसे कही आत्माके नियतस्वभावका नाश नहीं हो जाता। रागादि विकार तो क्षणिक

अनियत नाशवंत है, वे शरणभूत नहीं हो सकते, और द्रव्यका नियतस्वभाव तो सदा शुद्ध है; उसकी शरणमें जानेसे जीवको शाति और कल्याण होता है। इस प्रकार नियतस्वभाव और अनियत-स्वभाव—इन दोनोंसे आत्माको जानकर उसके ध्रुव स्वभावका आश्रय करना वह प्रयोजन है।

भाई! तेरा द्रव्यस्वभाव शुद्धचैतन्यमय है वह नियत है और पर्यायमे विकारी संसारभाव है वह अनियत है, इसलिये वह दूर हो जायेगा। नियत शुद्धस्वभावकी दृष्टि करनेसे अनियत विकारी भाव दूर हो जायेगा। शुभाशुभ विकार तेरा क्षणिक पर्याय-धर्म है तो भी वह अनियत है, इसलिये वह पानीकी उष्णताकी भाँति दूर हो जाता है। अग्निकी उष्णता वह उसका नियतस्वभाव है इसलिये वह दूर नही होता, परन्तु पानीकी उष्णता अनियत है इसलिये वह दूर हो जाती है। उसी प्रकार आत्माका शुद्धचैतन्य द्रव्यस्वभाव तो नियत है, उसका कभी नाश नही होता, और पर्यायका विकार अनियत-स्वभावरूप है इसलिये वह दूर हो जाता है। इसलिये पर्यायमें एक-समयका विकार देखकर आकुलित मत हो, क्योकि सारा द्रव्य विकार-रूप नही हो गया है; द्रव्य तो नित्य शुद्धस्वभावरूप है ही, उसकी दृष्टि करनेसे विकार दूर हो जायेगा और शुद्धता प्रगट हो जायेगी। पर्यायका स्वभाव अनियत है ऐसा जानकर उसका आश्रय छोड़, और द्रव्यका स्वभाव नियत है—ऐसा जानकर उसका आश्रय कर। अहो! मै सदैव एकरूप परम पारिणामिकभावसे नियत हूँ—ऐसा जानकर स्वाश्रय करनेसे सम्यग्दर्शनादि अपूर्वभाव प्रगट हो जाता है।

आत्मा सदैव चैतन्य प्रभुतासे परिपूर्ण है—ऐसा नियतनय देखता है, और पर्यायमे पामरता है उसे अनियतनय देखता है। यह दोनों धर्म आत्मामें एकसाथ है। आत्माके ऐसे दोनों धर्मोंको जो जानता है उसका वल पूर्णस्वभावकी प्रभुताकी ओर ढले बिना नही रहता, इसलिये द्रव्यकी प्रभुताके वलसे पर्यायकी पामरताका नाश हुए बिना नहीं रहता।

द्रव्यस्वभावमें विकार नही है और पर्यायमें विकार हुआ, तो वह कहाँसे आया ?—क्या कर्मके कारण आया ? नही; विकार भी आत्माका ही अनियत धर्म है; आत्माकी पर्यायमे उस प्रकार की योग्यता है। अग्निके सयोगके समय पानी गर्म हुआ वह अग्निके कारण नही हुआ है परन्तु पानीकी पर्यायमे उस प्रकारकी योग्यता है; वह उष्णता पानीका अनियत धर्म है; उसी प्रकार आत्मामे जो रागादि पर्याय होती है वह उसका अनियत धर्म है। यदि उस एकधर्मको भी निकाल दे या परके कारण माने तो सारी आत्मवस्तु ही सिद्ध नही होती अर्थात् सम्यग्ज्ञान नही होता। जिस प्रकार सौ वर्षकी उम्रका कोई व्यक्ति हो; उसके सौ वर्षमेसे बीचका एक समय भी निकाल दिया जाये तो उस व्यक्तिकी सौ वर्षकी अखण्डता नही रहती, परन्तु उसके दो टुकड़े हो जाते है उसी प्रकार आत्मा अनंतधर्मोका अखण्ड पिण्ड है; उसमेसे उसके एक भी अशको निकाल दे तो अखण्ड वस्तु सिद्ध नही होती।

यहाँ नयसे जिन-जिन धर्मोका वर्णन किया है, वे धर्म आत्माके है इसलिये नयज्ञान स्वकी ओर देखता है। परकी ओर देखनेसे आत्माके धर्मोका यथार्थ ज्ञान नही होता, परन्तु आत्माकी ओर उन्मुख होनेसे ही उसके धर्मोका यथार्थ ज्ञान होता है।

केवली भगवानको तेरहवे गुणस्थानमे योगका कम्पन है, वह उनका अनियतधर्म है; अघातिकर्मके कारण वह कम्पन नही है। योगका कम्पन भी आत्माका अपना औदयिक भाव है; वह भी स्वतत्त्वका धर्म है। द्रव्य और पर्याय दोनों मिलकर प्रमाण है, पर्यायका धर्म भी आत्माका अपना धर्म है; पर्यायका धर्म कही परके आधार पर अवलम्बित नही है। पर्यायमे जो विकार हुआ, उस पर्यायरूपसे कौन भासित होता है ?—अनियतनयसे आत्मद्रव्य स्वयं ही विकाररूप भासित होता है; कही परद्रव्य विकाररूप भासित नहीं होता।

वस्तुके अनन्तधर्मोको सर्वज्ञदेव प्रत्यक्ष जानते हैं; और साधक सम्यग्ज्ञानी उन्हें प्रतीतिमें लेते है । यह धर्म पूर्णरूपसे अपनी आत्माकी प्रतीति कराते है; धर्मी आत्माकी प्रतीतिके बिना धर्मकी प्रतीति नही होती । यह तो वीतरागताके मन्त्र हैं ।

प्रमाणज्ञान करानेके लिये द्रव्य और पर्याय दोनोंकी बात साथ ही साथ ली है । नियतनय, द्रव्य अपेक्षासे आत्माके नियतस्वभावको देखता है और उसी समय पर्यायकी अपेक्षासे आत्मामें अनियतस्वभाव भी है; उसे देखनेवाला अनियतनय है । आत्माकी पर्यायमे भूल और विकार सर्वथा है ही नही—ऐसा नही है, भूल और विकार भी आत्माका अपना अनियतस्वभाव है, और आत्माका स्थायी स्वभाव भूल रहित चैतन्यस्वरूपी है । वस्तुमे जैसा हो वैसा ही यदि न जाने तो ज्ञानकी महिमा क्या ? और प्रमाणता क्या ? आत्माके विकार रहित त्रिकालीस्वभावको ज्ञान जानता है । यदि स्वभाव और विकार—दोनोको न जाने तो विकारमेसे एकाग्रता दूर होकर स्वभावमें एकाग्र होना नही रहता, और सम्यग्ज्ञान भी नहीं होता इसलिये किसी प्रकारका धर्म नही होता ।

द्रव्यरूपसे तो आत्मा सदैव एकरूप नियतस्वभावसे है, और उसकी पर्यायमे हीनाधिकताके अनेक प्रकार होते है इसलिये अनियतपना भी है । पर्यायमें अनेक प्रकार और विकार हैं, उन्हे यदि न जाने तो ज्ञान सम्यक् नही होता । जिस प्रकार अग्निमें उष्णता तो नियत है, और पानीमे उष्णता अनियमित है इसलिये कभी होती है और कभी नहीं भी होती । पानीका स्थायी स्वभाव नित्य ठण्डा होने पर भी उसकी वर्तमान पर्यायमे जो उष्णता है वह उसका अपना अनियतस्वभाव है; उष्णतारूप होनेकी उसकी अपनी क्षणिक योग्यता है; यदि उस अनियत उष्णतास्वभावको न जाने और पानीको एकान्त ठण्डा मानकर पीने लग जाये तो क्या होगा ?—मुँह जल जायेगा ! उसी प्रकार चैतन्यभगवान आत्मा उपशमरसका समुद्र नियतस्वभावसे सदा शुद्ध एकरूप होने पर भी उसकी व्यक्त पर्याय-

में जो रागादि हैं वह भी उसका एकसमयका अनियतस्वभाव है। अपनी पर्यायमें वे रागादि हैं—ऐसा यदि न जाने और आत्माको सर्वथा शुद्ध माने तो उसे शुद्धताका अनुभव तो नही होगा परन्तु मात्र रागादिकी आकुलताका ही अनुभव होगा। आत्माकी पर्यायमें जो क्षणिक विकार होता है वह उसका अनियतस्वभाव है और वह 'अनियतनय' का विषय है, वह आत्माका स्थायी स्वभाव नहीं है। परन्तु यदि वह विकार एकसमयपर्यंत भी पर्यायमें न होता हो तो उसे दूर करके स्वभावमें एकाग्र होनेका प्रयत्न करना नही रहता; अर्थात् मोक्षमार्ग ही नही रहता। इसलिये द्रव्य और पर्याय—दोनोंका यथार्थ ज्ञान हो तभी मोक्षमार्गकी साधना हो सकती है।

वस्तुमें नियत और अनियत दोनों धर्म है। वस्तुका जो सदैव एकरूप रहनेवाला स्वभाव है वह नियत है, और जो क्षणिक स्वभाव हैं वह अनियत है। परन्तु क्रमबद्धपर्यायमें जो पर्याय होना हो उसके बदले उल्टी-सीधी होकर अनियत हो जाये—ऐसा यहाँ अनियतका अर्थ नही है। जिस प्रकार द्रव्य नियत है, उनके जड़-चेतनादि गुण नियत है, उसी प्रकार उनकी समय-समयकी पर्यायें भी नियत हैं। पर्यायोंका क्रम कही अनियत नही है; जिस समय जो पर्याय होना नियत है, उस समय वही पर्याय नियमसे होगी। सर्वज्ञ उसे जानते हैं। सर्वज्ञका ज्ञान अन्यथा नही होगा और वस्तुकी पर्यायोंका क्रम भी नही टूटता। अहो ! इस निर्णयमे स्वतंत्र वस्तु-स्वभावका निर्णय आ जाता है, और पुरुषार्थकी सन्मुखता परकी ओरसे हटकर अपने ज्ञायकस्वाभावकी ओर हो जाती है। यह अंतर्दृष्टिकी बात है। अनेक लोग अपनी कल्पितदृष्टिके अनुसार शास्त्र पढ जाते है, परन्तु पात्रता और गुरुगमके अभावसे अंतर्दृष्टिका यह रहस्य नही समझ सकते। कोई तो ऐसा कहते है कि—'द्रव्योंकी संख्या नियत है, उनके चेतन-अचेतन गुण नियत है, तथा प्रतिक्षण उनका किसी न किसी प्रकारका परिणमन होगा वह भी नियत है; परन्तु अमुक समयमें अमुक ही परिणमन होगा—यह बात नियत नही है; जैसे संयोग

आयेगे वैसी अवस्था होगी ।' देखो, ऐसा कहनेवालेको स्वतंत्र वस्तु-स्वरूपकी कोई खबर नही है और सर्वज्ञकी भी श्रद्धा नहीं है। यह बात पहले कई बार विस्तारपूर्वक कही जा चुकी है। 'द्रव्यकी शक्ति तो नियत है, परन्तु परिणमन किस समय कैसा होगा वह अनियत है;—इस प्रकार नियत-अनियतपना वह जैनदर्शनका अनेकांतवाद है।'—ऐसा अज्ञानी लोग मानते है; परन्तु वह बात मिथ्या है; जैन-दर्शनके अनेकान्तवादका ऐसा स्वरूप नहीं है । नियत और अनियत-का अर्थ तो जैसा कहा है वैसा ही है । द्रव्यस्वभावसे आत्मा नियत शुद्ध एकरूप होने पर भी उसकी पर्यायमें जो विकार होता है वह उसका अनियतस्वभाव है; विकार नित्य एकरूप रहनेवाला भाव नहीं है; इसलिये उसे अनियत कहा है—ऐसा समझना चाहिये ।

नियतधर्मसे देखने पर आत्मा सदैव एकरूप शुद्ध ही भासित होता है और अनियतधर्मसे देखने पर वह विकारी भी हैं, अनेकरूप है । यदि आत्मामें अनियत रूपसे विकार होनेका धर्म न हो तो अनन्तकर्म एकत्रित होकर भी उसे विकारी नही बना सकते । विकार अनियत होने पर भी वह परके कारण नहीं है परन्तु आत्माका अपना भाव हैं। शुद्धस्वभाव त्रिकाल ध्रुव है, उसमें विकार नहीं है और पर्यायमें हुआ इसलिये उसे अनियत कहा है; परन्तु वह विकार होने-वाला नही था और हो गया—ऐसा अनियतस्वभाव नही है । पर्याय-का जो नियतपना है वह बात यहाँ नही ली है, यहाँ तो नियतरूपसे त्रिकाली स्वभावको लिया हैं और अनियतरूपसे पर्यायकी क्षणिक अशुद्धता ली है।

—यहाँ २७ वे अनियतनयसे आत्माका वर्णन पूरा हुआ ।

यहाँ प्रवचनसारके परिशिष्टमें पाँच समवायके बोल लिये हैं परन्तु वे दूसरी शैलीसे लिये है; उनमेसे नियत तथा अनियत धर्म-का वर्णन किया; अब आत्माके स्वभावधर्म और अस्वभावधर्मकी बात करेंगे । पश्चात् काल तथा अकाल तथा पुरुषार्थ और दैवका भी वर्णन करेंगे ।

[३०] कालनयसे आत्माका वर्णन

"आत्मद्रव्य कालनयसे, जिसकी सिद्धि समय पर आधार रखती है ऐसा है,-ग्रीष्म ऋतुके दिवस अनुसार पकनेवाले आम्रफल की भांति। आत्माकी मुक्ति जिस समय होना है उसी समय होती है—ऐसा कालनयसे ज्ञातव्य आत्माका एक धर्म है। जिस काल मुक्ति होती है उस काल भी वह पुरुषार्थ पूर्वक ही होती है; किन्तु पुरुषार्थसे कथन न करके "स्वकालसे मुक्ति हुई"—ऐसा कालनयसे कहा जाता है। स्वकालसे मुक्ति हुई इसलिये पुरुषार्थ उड जाता है-ऐसा नही है; स्वकालसे मुक्ति हुई उसमे भी पुरुषार्थ तो साथ ही है।

जिस समय मुक्ति होना है उसी समय होती है, किन्तु वह मुक्ति कहाँसे होती है ?—द्रव्यमेसे होती है, इसलिये ऐसा निर्णय करनेवालेका लक्ष अकेली मुक्तिकी पर्याय पर नही रहता किन्तु पर्यायके आधारभूत द्रव्य पर उसकी दृष्टि जाती है, "जिस काल मुक्ति होना हो उस काल होती है"—ऐसा धर्म तो आत्मद्रव्यका है, इसलिये आत्मद्रव्य पर जिसकी दृष्टि है वही इस धर्मका निर्णय कर सकता है, इसलिये इस निर्णयमे मुक्तिका पुरुपार्थ आ ही जाता है। अपनी मुक्तिपर्यायके कालको देखनेवाला वास्तवमें द्रव्यकी ओर देखता है, क्योकि "जिसकी सिद्धि समयपर आधारित है"—ऐसा धर्म द्रव्यका है; द्रव्यकी ओर देखा वही अपूर्व पुरुषार्थ है। द्रव्यकी ओर देखनेवालेने निमित्त, विकार या पर्याय परसे दृष्टि उठा ली है, तथा एक-एक गुणके भेद पर भी उसकी दृष्टि नही है; ऐसी द्रव्यदृष्टिमे ही क्रमबद्धपर्यायका निर्णय, स्वकालका निर्णय, भेदज्ञान, मोक्षमार्गका पुरुषार्थ, केवलीका निर्णय—इत्यादि सब कुछ आ जाता है। कालनयका परमार्थ तात्पर्य भी यही है कि स्वद्रव्यकी दृष्टि करना। यह धर्म कही कालके आधारसे नही है किन्तु आत्माके आधारसे है, इसलिये मुक्तिके कालका निर्णय करनेवाला कालकी ओर नही किन्तु आत्माकी ओर देखना है।

केवली भगवानके केवलज्ञानमें जो काल देखा उस काल ही मुक्ति होती है, मुक्तिका काल बदल नही सकता—ऐसा आत्मद्रव्यका एक धर्म है; आत्माके इस धर्मका निर्णय कही परसन्मुख देखनेसे नही होता किन्तु आत्मद्रव्यके समक्ष देखनेसे ही उसके धर्मका निर्णय होता है। कालनय भी किसे देखता है ?—जिसकी सिद्धि काल पर आधार रखती है ऐसे आत्मद्रव्यको ही देखता है; इसलिये जो जीव अंतर्मुख होकर आत्मद्रव्यको देखता है उसीने कालनयको सच्चा माना कहा जाता है और उसका मुक्तिका काल अल्पकालमें ही होना होता है।

देखो, यहाँ एक-एक धर्मको सिद्ध नही करना है किन्तु पूर्ण आत्मद्रव्यको सिद्ध करना है; इसलिये धर्म देखनेवालेको स्वद्रव्याश्रित अनेक धर्मोका निर्णय करनेमे अपना ज्ञान एक अपने आत्मोन्मुख करना है। इस प्रकार द्रव्यदृष्टि करके शुद्ध आत्माको प्रतीतिमें लेना ही इस सबका तात्पर्य है। जो जीव सम्पूर्ण आत्माको तो प्रतीतिमें लेता नही है और एक-एक धर्मको पृथक् करके देखता है, उसके सर्व नय मिथ्या है। प्रमाणज्ञानसे अनन्त धर्मात्मक अखंड आत्माको स्वीकार किये बिना उसके एक-एक धर्मका सच्चा ज्ञान नही होता, अर्थात् नय नही होता।

कालनय कहता है कि आत्मामे जिस समय सम्यग्दर्शन होना है उसी समय होगा, किन्तु ऐसा किसे लगा है ?—जिसने द्रव्यसन्मुख दृष्टि की उसे। इसलिये जिसे यह बात जम गई उसे तो सम्यग्दर्शन-का काल आ ही गया है। आत्माका जो धर्म है वह क्षणिक पर्याय-के आधारसे नही है किन्तु द्रव्यके आधारसे है। पर्याय तो प्रतिसमय चली ही जाती है, एक गुणकी अनेक पर्याये तो एक समयमे होती नही है, और द्रव्य तो सदैव एकरूप है; इसलिये उस द्रव्य पर दृष्टि जाते ही पर्यायके कालका या क्रमबद्धपर्यायका यथार्थ निर्णय होता है।

प्रत्येक समयकी पर्यायका काल व्यवस्थित है। जिस पर्यायका जो काल है उसमे फेरफार नही हो सकता। यदि उसमे फेरफार हो तो वस्तुस्वभाव या केवलज्ञान ही सिद्ध नही होगा, केवलज्ञानको भी अव्यवस्थित मानना होगा, अतः त्रिकालवर्ती पर्यायोके पिण्ड द्रव्य पर दृष्टि रखकर प्रत्येक समयकी पर्याये व्यवस्थित है, प्रत्येक पर्यायका स्वकाल व्यवस्थित है ऐसा निश्चय करनेमे सच्चा पुरुषार्थ भी आ जाता है; क्योकि पर्यायका निर्णय करनेवालेका मुख आत्मद्रव्य पर है, उसकी दृष्टिमें द्रव्यकी ही मुख्यता है; द्रव्य सन्मुख दृष्टिमें उसे पर्याय बदलनेकी बुद्धि नही रहती, किन्तु द्रव्यके आश्रयमे पर्यायका निर्मल परिणमन हो जाता है और अल्पकालमे केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है। और पर्यायको अव्यवस्थित माननेवाला निःशक हो ही नही सकता और व्यवस्थितके निश्चय बिना सच्चा पुरुषार्थ भी उसे नही होता।

अहो! वीतरागी संत चाहे जिस पक्षसे बात समझाये, किन्तु उसमे वस्तुका मूल स्वभाव ही बतलाना चाहते है।

* * *

जो मुक्तिका काल है उसी कालमे मुक्ति होती है—ऐसा कालनयसे आत्माका स्वभाव है। अब, आत्माकी मुक्तिके समयका निर्णय करनेवालेको स्वभावसन्मुख दृष्टिसे ही वह निर्णय होता है, इसलिये स्वभावसन्मुख दृष्टिमे अल्पकालमे मुक्ति हो ऐसा काल उसको होता ही है। सर्वज्ञ भगवानने देखा है तभी मुक्ति होगी—ऐसा कालनयसे आत्माका धर्म है; किन्तु उस धर्मका निर्णय कब होता है? वह धर्म परके आश्रयसे नही है किन्तु आत्माके आश्रयसे ही है, इसलिये जब सपूर्ण आत्माको दृष्टिमे ले ले, तब उसके इस धर्मका निर्णय होगा। और जिसने आत्माको दृष्टिमे लिया उसके अल्पकालमे ही मुक्तिका स्वकाल अवश्य होता है। यह कालनय भी कही पुरुषार्थ उड़ानेके लिये नही है, किन्तु उसमे वीतरागी

ज्ञाताद्दष्टापनेका सम्यक् पुरुषार्थ आ जाता है, वह मोक्षका कारण है। जो अभेद स्वभाव पर दृष्टि करे उसीको यह नय यथार्थरूपसे जमता है; अन्य किसीको यह नय नही जमता।

शका:—कालनयसे आत्माकी सिद्धि समय पर आधार रखती है, इसलिये अब हम क्या करे? हमे तो कालकी ओर देखकर बैठना ही रहा?

समाधान:—ऐसा नही है; सुन भाई! कालनयसे जिसकी सिद्धि समय पर आधार रखती है—ऐसा कौन है?—आत्मद्रव्य! तो यह धर्म माननेवालेको काल सन्मुख देखना नही रहा किन्तु आत्माकी ओर देखना रहा। आत्मस्वभाव पर दृष्टि गई वहाँ स्वकाल अल्पसमयमें पकना ही होता है। यहाँ दृष्टान्तमे भी ऐसा आम लिया है कि जो ग्रीष्मऋतु आने पर पक जाता है; उसी प्रकार सिद्धातमे ऐसा आत्मा लेना चाहिये कि स्वभावका निर्णय करके स्वभावकी ओरके सम्यक् पुरुषार्थसे जिसकी मुक्तिका काल पक जाता है। सर्वज्ञदेवने तो मुक्तिका जो समय है वह देखा है, किन्तु "मैं मुक्त होऊँगा, मुक्त होना मेरे आत्माका स्वभाव है—" ऐसा जिसने निर्णय किया उसे बन्धन, ससार या रागकी रुचि नही रहती; किन्तु जिसमेसे मुक्तदशा आना है ऐसे स्वद्रव्यकी ओर वह देखता है और अल्पकालमे उसकी मुक्तिका स्वकाल पक ही जाता है। जिसे रागकी या निमित्तकी रुचि है उसे वास्तवमें मुक्तिका निर्णय नही है। मुक्तिका निर्णय करनेवाला आत्माको देखता है, क्योकि मुक्ति किसी निमित्तके, रागके या पर्यायके आश्रित नही है किन्तु आत्मद्रव्यके आश्रित है; इसलिये वह आत्मद्रव्यका अवलम्बन करके ज्ञाताद्दष्टा रहता है; उसे पर्यायबुद्धिका अधैर्य या उतावली नही होती, ज्ञाताद्दष्टारूपसे वर्तते हुए अल्पकालमें उसकी मुक्ति हो जाती है।

जिसने अपनी मुक्ति होनेका निर्णय किया कि स्वकालमे

मुक्ति पर्याय होनेका धर्म मेरे आत्मामे है, उसने रागमें एकाग्र होकर वह निर्णय नही किया है किन्तु ज्ञाता द्रव्यमे ज्ञानपर्यायको एकाग्र करके वह निर्णय किया है, इसलिये वर्तमानमे वह साधक हुआ है; अब उसकी दृष्टि आत्मस्वभाव पर है, 'मैं शीघ्र मुक्ति करूँ और ससारको टालूँ'—ऐसी पर्यायदृष्टि उसके नही है, अब स्वभावमें एकाग्र होनेसे अल्पकालमे उसकी मुक्तदशा हो जायेगी।

मै खूब शक्ति लगाकर झट अपनी मुक्ति कर डालूँ; दया, कठिन व्रत-तपादि करके जल्दी मोक्ष प्राप्त कर लूँ;—इस प्रकार पर्याय-सन्मुख देखकर आकुलता करे उसमे तो विपमता है, ऐसी विषमता-से मुक्त नही होती, किन्तु मै तो ज्ञान हूँ,—इस प्रकार ज्ञानस्वभाव-को लक्षमें लेकर उसमे एकाग्र होनेसे मुक्ति हो जाती है। ज्ञाताद्दष्टा स्वभावमे रहनेसे जिस समय मुक्त होना है उस समय हो जाती है; उस मुक्तिका समय आनेमें दीर्घकाल नही होता। अरे! शीघ्र मोक्ष करूँ—यह भी विषमभाव है, क्योकि अवस्था ही वस्तुकी व्यवस्था है। शीघ्र मोक्ष करूँ—ऐसा कहे, किन्तु मोक्ष होनेका उपाय तो स्वद्रव्यका आश्रय करना है; वह उपाय तो करता नही है, फिर मोक्ष कहाँसे होगा? स्वद्रव्यकी दृष्टि करनेसे मोक्ष अल्पकालमे हो जाता है, किन्तु वहाँ मोक्षपर्याय पर दृष्टि नही रहती। स्वभावका अवलंबन रखकर ज्ञाताद्दष्टा हुआ उसमे पर्यायकी उतावली करना रहता ही कहाँ है? क्योकि स्वभावके अवलम्बनसे उसकी पर्यायका विकास होता ही जाता है, अब मुक्ति होनेमे उसे अधिक काल नही लगेगा।

देखो, यह कालनयका रहस्य! जिसने इस कालनयसे भी आत्माका निर्णय किया उसके ज्ञानमे ज्ञाताद्दष्टापनेका धैर्य हो गया, उसके आत्मद्रव्यमे अल्पकालमे मुक्ति होनेका स्वकाल है ही; केवलीभगवानने भी अल्पकालमे उसका मोक्ष देखा है। कालनय-से आत्माकी मुक्ति समय पर आधार रखती है—ऐसा कहा उसमें पुरुषार्थकी निर्वलता नही है किन्तु स्वभावदृष्टिका बल है; इसका

निर्णय करनेवाला जीव द्रव्यस्वभाव पर दृष्टि रखकर बन्ध-मोक्षका भी ज्ञाता रह जाता है और अल्पकालमे उसकी मुक्ति हो जाती है। केवलीभगवानके ज्ञानमे उसकी मुक्तिके प्रमाण अंकित हो गये है और उस आत्माके स्वभावमे भी वैसा धर्म है। अहो! इसमें मोक्ष-का पुरुषार्थ है किन्तु आकुलता नही है—ज्ञातादृष्टापनेका धैर्य है। उतावली करे तो उसके ज्ञातादृष्टापना नही रहा किन्तु आकुलता हुई—विषमभाव हुआ; वह तो मोक्षको रोकनेवाला है। श्रीमद् राजचन्द्रजी भी कहते है कि—जितनी उतावली उतनी कचास, और जितनी कचास उतनी खटास। स्वभावदृष्टिमे धर्मीको प्रमाद भी नही है, उतावली भी नही है, और न पुरुषार्थकी कचास भी है; स्वभावदृष्टिमे ज्ञातादृष्टारूपसे मोक्षका प्रयत्न उसको चालू ही है और अल्पकालमे मोक्षदशा हो जाती है।

देखो, आचार्यदेवने कालनयको गुप्त नही रखा; कालनयके वर्णनमे भी शुद्ध द्रव्यस्वभावके आश्रयका ही तात्पर्य निकलता है। अज्ञानी लोग बिना समझे अपनी स्वच्छन्द कल्पनासे विपरीत अर्थ करते है।

धर्मी कहते है कि—"भव मोक्षे पण शुद्ध वर्ते समभाव जो"—लेकिन वह किसकी दृष्टिमे? ध्रुवस्वभावकी दृष्टिमे; स्वभावदृष्टि-मे बध-मोक्षपर्याय पर धर्मीको समभाव है, अथवा बन्ध टालूँ और मोक्ष करूँ—इस प्रकार पर्यायकी विषमता पर उसकी दृष्टि नही है, किन्तु एकरूप चिदानन्दस्वभाव पर उसकी दृष्टि है, उस स्वभावकी दृष्टिमे अल्पकालमे भवान्त होकर मोक्ष हुए बिना नही रहेगा।

यह विकार मुझे नही चाहिये—इस प्रकार विकार की ओर देखता रहे तो वह विषमभाव है, उसका विकार दूर नही होता। मुझे विकार नही चाहिये—इस प्रकार जो विकारको टालना चाहता है उसकी दृष्टि विकारसन्मुख नही होती किन्तु शुद्ध स्वभाव पर होती है; शुद्धस्वभावमे विकार नही है इसलिये उस स्वभावकी दृष्टिसे विकार दूर होकर अविकारी मोक्षदशा प्रगट हो जाती है।

आत्मामें मोक्षदशा प्रगट होनेका जो काल है उसी काल वह प्रगट होती है—ऐसा आत्मद्रव्यका धर्म है;—ऐसा जिसने कालनय-से जान लिया उस जीवकी दृष्टि तो शुद्ध चैतन्यद्रव्य पर ही पडी है और उस द्रव्यके आश्रयसे अल्पकालमे अवश्य ही उसकी मुक्ति हो जाती है।

—इस प्रकार ३० वे कालनयसे आत्माका वर्णन पूरा हुआ।

[३१] अकालनयसे आत्माका वर्णन

'अकालनयसे आत्मद्रव्य जिसकी सिद्धि समय पर आधार नही रखती ऐसा है,—कृत्रिम गरमीसे पकाये जानेवाले आम्रफलकी तरह।'

जिसे स्वभावदृष्टि है वह जीव अल्पकालमे मोक्ष प्राप्त करता है। कोई जीव उग्र प्रयत्न द्वारा स्वभावमे एकाग्र होकर अल्पकालमें मोक्ष प्राप्त करे, वहाँ ऐसा कहा जाता है कि यह जीव उग्र पुरुषार्थ द्वारा शीघ्र मुक्त हुआ, इस जीवने अचिरेण अर्थात् शीघ्र मुक्ति प्राप्त की। तथा गुरु भी शिष्यको ऐसा आशीर्वाद देते है कि स्वभावके अवलम्बनसे तू अचिरं अर्थात् शीघ्र मोक्ष पदको प्राप्त करेगा। अकालनयसे ऐसा कथन किया जाता है परन्तु उसका अर्थ ऐसा नही है कि मोक्षका जो समय है वह बदल जाता है। जैसे घासमे रखकर आमको पकाये, वहाँ भी वह आम तो उसके पकनेके कालमे ही पका है, लेकिन घासमे रखा था उससे ऐसा कहा जाता है कि वह आम घासमे रखकर जल्दी पका दिया। वैसे अल्प समयमे उग्र पुरुषार्थ करके जीव मुक्त हो वहाँ ऐसा कहा जाता है कि यह जीव पुरुषार्थसे शीघ्र मुक्तिको प्राप्त हुआ; वह अकालनयका कथन है और वैसा एक धर्म आत्मामे है। मुक्ति तो उसका जो समय था उस समय ही हुई, उसका समय कुछ बदल नही गया।

यह जीव आसन्न भव्य है, यह जीव पुरुषार्थ द्वारा शीघ्र मुक्ति प्राप्त करेगा—ऐसा कहा जाता है, उसका वाच्य भी वस्तुमे है।

शिष्य भी गुरुके प्रति विनयसे कहे कि हे नाथ! हे स्वामी! आपने मुझे इस संसारसे तार दिया....यदि आप न मिलते तो हम अनन्त संसारमे भटकते भटकते मर जाते, आपके चरणकमलोंके प्रसादसे शीघ्र हमारे संसारका अन्त आ गया और अब शीघ्र ही हम अल्पकालमे मुक्ति प्राप्त करेंगे। आपके उपकारसे हमारा अनन्त संसार नष्ट हो गया और मोक्ष निकट आ गया—इस तरह अकालनय-से कहा जाता है, मोक्ष होनेका काल तो जो है वही है, व[illegible]हीं उलटपुलट नही हो गया है।

आत्मा कैसा है ऐसा शिष्यने पूछा था। उसे आत्माके धर्मो द्वारा आत्माकी पहिचान कराते है। यहाँ आचार्यदेवने ४७ नयोसे ४७ धर्मोका कथन करके आत्माका स्वरूप बतलाया है। उनमें कालनयसे ऐसा कहा कि जिस समय जिसकी मुक्तिका स्वकाल है तभी वह मुक्तिको प्राप्त करता है। जैसे आम उसके मौसममें पकता है वैसे आत्माके स्वभावमें मुक्तिका जो समय है उस समय वह मुक्तिरूप परिणमित हो जाता है। स्वभावकी दृष्टि करके स्थिर हो वहाँ आत्माकी मुक्ति होती है। वहाँ आत्माकी अपने कालसे मुक्ति हुई ऐसा कालनयसे कहा जाता है। लेकिन वह मुक्ति बिना पुरुषार्थ-के नहीं हुई है।

उग्र पुरुषार्थ द्वारा जीवने शीघ्र मुक्ति प्राप्त कर ली—ऐसा अकालनयसे कहा जाता है, उसमे भी मुक्तिका जो समय है, वह तो वही है, उसमे कोई परिवर्तन नही हो गया। अनन्त पुरुषार्थ करके जीव-ने बहुत कालके कर्मोको अल्पकालमे नाश किया और शीघ्र मुक्ति प्राप्त की—ऐसा लक्षमे लेना वह अकालनय है।

यह जो धर्म कहे जा रहें है वे सभी धर्म शुद्ध चैतन्य वस्तुके आधारसे है; किसी निमित्तके आधारसे, रागके आधारसे, अकेली पर्यायके आधारसे अथवा एक एक धर्मके आधारसे यह धर्म विद्य-मान नही है। अर्थात् इन धर्मोका निर्णय करते समय धर्मी ऐसा चैतन्यद्रव्य लक्षमे आ जाता है। सम्पूर्ण वस्तुस्वभावको दृष्टिमे लिये

विना उसके धर्मका यथार्थ निर्णय नही हो सकता। आत्मद्रव्यकी सन्मुखता-से ही उसके धर्मकी यथार्थ प्रतीति होती है। चैतन्यस्वभाव सन्मुख जिसका पुरुषार्थ पलट गया हो उसे अचिरं (शीघ्र) मुक्ति हुए बिना नहीं रह सकती।

जैसे—अचानक सर्प वगैरहके काटनेसे छोटी उम्रमें कोई मनुष्य मर जाये तो वहाँ ऐसा कहा जाता है कि इस मनुष्यकी अकाल-मृत्यु हुई। यथार्थतः तो उसकी आयु जिस समय पूरी होना थी उस समय ही हुई है, कुछ जल्दी नही है, लेकिन लोक-व्यवहारसे अकालमे अवसान हुआ ऐसा कहा जाता है। वैसे ही आत्मामें एक ऐसा धर्म है कि आत्मा पुरुषार्थ करके अकालमे मुक्त हुआ अर्थात् शीघ्र मुक्तदशा प्राप्त की—ऐसा अकालनयसे कहा जाता है। जो जीव वस्तुस्वभावसे विपरीत मानता है और विपरीत प्ररूपणा करता है वह जीव प्रतिक्षण अनन्त ससारकी वृद्धि करता है, वैसे ही स्वभावदृष्टिके बलसे सम्यक्त्वी जीव संसारको एक क्षणमे नष्ट कर देता है और शीघ्र मुक्तिको प्राप्त करता है। ऐसा अकालनयसे कहा जाता है। पहले स्वभाव पर दृष्टि नही थी और संसार पर दृष्टि थी तब प्रतिक्षण अनन्त संसारकी वृद्धि करता है ऐसा कहा, और जहाँ सत्समागमसे विपरीत दृष्टिको बदलकर स्वभावदृष्टि की वहाँ एक क्षणमें अनन्त संसार नष्ट कर दिया—ऐसा अकालनयसे कहा जाता है। परन्तु ससार होना था और दूर हो गया अथवा उस समय मोक्ष नही होना था और हो गया—ऐसा अकालनयका अर्थ नही है। अकालनयसे पर्यायका क्रम बदल जाये-ऐसा नही है। लेकिन अनन्तकालके कर्म अल्पकालमें नष्ट कर दिये—ऐसा अकालनयसे कहा जाता है। छद्मस्थके ज्ञानमें यह नय होते है, केवलीभगवानके ज्ञानमे नय नही होते, उनको तो एक साथ सम्पूर्ण प्रत्यक्षज्ञान वर्त रहा है।

देखो, कालनय और अकालनयसे पृथक् पृथक् दो धर्म कहे है, वे दोनो धर्म अलग अलग जीवमे नही है परन्तु एक ही जीवमे

दोनो धर्म एक साथ वर्त रहे है; इसी तरह नियत-अनियत आदि नयो-से जो धर्म कहे है वे भी प्रत्येक आत्मामें एक साथ ही वर्त रहे है। एक जीव स्वकालानुसार मुक्ति प्राप्त करे और दूसरा जीव पुरुषार्थ करके अकालमें मुक्ति प्राप्त करे—ऐसा नही। अर्थात् एक धर्म एक जीवमे और दूसरा धर्म दूसरे जीवमे हो, ऐसा नही है। एक ही जीव-मे समस्त धर्म एक साथ रहते है।

कालनयसे तो जीवको जिस समय मुक्ति प्राप्त करना है उस समय ही प्राप्त करता है और अकालनयसे उसमें अदलबदल हो जाये—ऐसा परस्पर विरोध नही है।

इस जीवने अपने स्वकालानुसार मुक्ति प्राप्त की ऐसा कहना वह कालनयका कथन है, परन्तु ऐसा जब कालनयसे कहा तब भी, बिना पुरुषार्थके उसे मोक्ष हुआ—ऐसा उसका अर्थ नही है, स्वकाल-के समय भी पुरुषार्थ तो मिला हुआ ही है।

और इस जीवने उग्र पुरुषार्थ द्वारा शीघ्र मुक्ति प्राप्त की-ऐसा कहना वह अकालनयका कथन है। परन्तु, पुरुषार्थसे शीघ्र मुक्ति प्राप्त की ऐसा जब अकालनयसे कहा तब भी मुक्तिका स्वकाल नही था और मुक्ति हो गई—ऐसा उसका अर्थ नही है, पुरुषार्थके समय उसका स्वकाल वैसा ही है।

इस प्रकार कालनय और अकालनय इन दोनो नयोंके विषयरूप दोनो धर्म आत्मामें एक साथ विद्यमान ही है, ऐसा समझना चाहिये। यहाँ जिन धर्मोका वर्णन किया जा रहा है उन सभी धर्मो-का अधिष्ठाता तो शुद्ध चैतन्यमूर्ति आत्मा है। ऐसे आत्माको दृष्टिमे लेना वही इन सब धर्मोको जाननेका फल है।

—यहाँ ३१ वे अकालनयसे आत्माका वर्णन पूरा हुआ।

❁ समाप्त ❁

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५	१०	ज्ञायक	ज्ञापक
५	१८	,,	,,
७	५	वतमान	वर्तमान
१३	२३	प णमित	परिणमित
१५७	८	दशन	दर्शन
२०९	२४	सामर्थ्यं	सामर्थ्य
२५२	२५	शुभाव	शुभभाव
२९५	२१	ह	है
२९९	२४	वसा	वैसा
३३९	४	धम	धर्म
३४३	७	पयाये	पर्यायें